देवेन्द्रनाथ शर्मा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

प्लेटो

अरस्तू

होरेस

लौंगिनुस

वर्ड्सवर्थ

कोलरिज

आर्नल्ड

क्रोचे

इलियट

रिचर्ड्स

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

देवेन्द्रनाथ शर्मा

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
34, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : २५.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : १९८४ / सर्वाधिकार : लेखकाधीन / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित। [1-1-22(11-11)584/N]

Pashchatya Kavyshastra by Acharya Devendra Nath Sharma
Price : Rs. 25.00

शक्ति

प्रेरणा

सहधर्मिणी

कुसुम शर्मा को

भूमिका

सबसे पहले दो बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं : एक तो यह कि यह पुस्तक हिंदी में है और दूसरी यह कि बोधगम्य है। ऐसा न तो मैं विनोद के लिए कह रहा हूं और न चौंकाने के लिए, बल्कि इसलिए कि ये दोनों बातें महत्त्व की हैं। हिंदी का अध्येता हूं; स्वभावतः चाहे-अनचाहे बहुत सारी चीजें पढ़नी पड़ती हैं और तब लगता है कि उनमें काफी कुछ ऐसी भी होती हैं जो हिंदी की कही जाकर भी हिंदी में नहीं होतीं। मनुष्य की तरह प्रत्येक भाषा की अपनी आकृति होती है, प्रकृति होती है, भंगिमा होती है, आत्मा होती है। उसे दूसरी भाषा के चौखटे में कसने से उसकी आकृति-प्रकृति ही विकृत नहीं होती, भंगिमा ही आहत नहीं होती, बल्कि आत्मा भी स्पंदनहीन हो जाती है। किसी भी भाषा के लिए यह दुःस्थिति खेदजनक है। आज हिंदी इसी दुःस्थिति में है। यह दुःस्थिति तो चिंता की बात है ही पर इससे भी बड़ी चिंता की बात यह है कि अधिसंख्य लेखकों को इसका भान भी नहीं है। रुग्णता कम चिंत्य नहीं है किंतु रुग्णता का बोध न होना तो घातक है क्योंकि उस दशा में स्वस्थता का मार्ग ही बंद हो जाता है। हिंदी पर अंग्रेजी का प्रभाव शब्दों के अतिरेक तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वाक्य-विन्यास पर भी हावी है। शब्द कार्यकारणभाव से आते-जाते रहते हैं पर वाक्य-विन्यास तो भाषा का निजस्व होता है। उसके परिवर्तित होने का अर्थ है भाषा की निजी पहचान का लोप। बहुतों को तो दासता भी वरेण्य लगती है किंतु दासता वरेण्य है नहीं। जो भाषा के स्वरूप और चेतना से परिचित होते हैं वे उसकी निजता की हानि को राष्ट्रीयता की हानि के समान चिंत्य मानते हैं। स्वतंत्रता के पहले हिंदी का व्यवहार कम था पर लेखकों को उसके स्वरूप का परिज्ञान था और उसे कायम रखने का आग्रह था। स्वतंत्रता के बाद उसका प्रकृत रूप विकृत हुआ है। इसके दो कारण हैं—मुख्यतः अज्ञान, गौणतः फैशन। किंतु अज्ञान और फैशन आधुनिकता नहीं हैं। आधुनिकता प्रगति की परिणति है; इसके प्रतिकूल अज्ञान अगति का कारण है और फैशन दुर्गति का। अगति और दुर्गति से प्रगति का मेल नहीं बैठता। भाषा की प्रकृति (जीनियस) का अभिज्ञान श्रमसाध्य भी है, समयसाध्य भी और इन दोनों से बढ़कर निष्ठासाध्य। यह निष्ठा

भाषा के प्रति आत्मीयता और गौरवबोध से उत्पन्न होती है। कैसी विडंबना है कि बहुतों के मन में यह निष्ठा अंग्रेजी के प्रति तो है परंतु हिंदी के प्रति नहीं है !

पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर हिंदी में अधिक नहीं लिखा गया है। जो लिखा भी गया है उसमें कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश का विषय-प्रतिपादन या तो अपर्याप्त है या अबोध्य। अबोध्यता का अनुभव मुझे भी हुआ है। संभव है, यह मेरी बुद्धि का दोष हो किंतु यह भी असंभव नहीं कि इसका अनुभव मेरे जैसे कुछ दूसरे लोगों को भी हुआ हो। काव्यशास्त्र की आधार-सामग्री दर्शन, अर्थविज्ञान, मनोविज्ञान आदि से प्राप्त होती है। अतः उसका सैद्धांतिक पक्ष कुछ गूढ़ हुआ करता है। जिसे दर्शन, अर्थ-विज्ञान आदि उपकारक विषयों का ज्ञान है उसका काम तो सुगम होता है किंतु सभी जिज्ञासु इन विषयों के जानकार नहीं होते। उनके लिए तो विवेचन ही इतना स्पष्ट होना चाहिए कि उपकारक शास्त्रों के ज्ञान के बिना भी विषय का समीचीन बोध हो जाए। इस पुस्तक का प्रणयन इसी भावना से प्रेरित है। अध्यापक के रूप में मैंने संप्रेषण की सहजता तथा सरलता को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। मेरी मान्यता है कि विषय कठिन नहीं होता; यदि कठिन प्रतीत होता है तो इसका अर्थ है कि संप्रेषण सदोष है। कुछ लोग पांडित्य-प्रदर्शन के लिए जान-बूझकर लेखन में क्लिष्टता लाते हैं। मैं इसे तामस लेखन कहता हूं। इससे न तो लेखक को यश मिलता है, न पाठक को ज्ञान। यह कहने के लिए क्षमा चाहता हूं कि मैं क्लिष्टता और शिष्टता को परस्पर विरोधी मानता हूं। स्पष्टता लेखक और पाठक के लिए ही नहीं, भाषा के विकास, प्रसार एवं शक्तिमत्ता के लिए भी आवश्यक है। इस दृष्टि से फ्रांसीसी भाषा आदर्श मानी जाती है। कहावत है कि "जो स्पष्ट नहीं है, वह फ्रेंच नहीं है।" यही कारण है कि समग्र यूरोपीय साहित्य पर फ्रांसीसी साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। हमारे हृदय में हिंदी के जिस उज्ज्वल भविष्य की कामना है उसकी पूर्ति अभिव्यंजना की क्लिष्टता से नहीं होगी। यह एक प्रकार का राष्ट्रीय दायित्व है जिसके प्रति जागरूकता अपेक्षित है।

आलोच्य आचार्यों की कृतियों का मैंने अनेकशः पारायण किया है—बोध के लिए भी, पूर्वापर की संगति के लिए भी, संदेह-निवारण के लिए भी, प्रामाणिकता के लिए भी। प्लेटो और अरस्तू पर लिखते समय उनकी सारी कृतियों के अध्ययन से ही संतोष नहीं हुआ, यूनान के इतिहास और भूगोल का ज्ञान भी आवश्यक प्रतीत हुआ। उदाहरणार्थ, यह शंका मन में बार-बार उमड़ती-घुमड़ती रही कि प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य से कवियों के निष्कासन की बात कैसे कह दी ?—उस प्लेटो ने जिसके लेखकीय जीवन का आरंभ काव्य-रचना से हुआ था, जिसके दार्शनिक लेखन में भी काव्य की सरसता भरी है और जिसका गद्य काव्यगुणों से ओतप्रोत है। इस शंका का समाधान प्लेटो की कृतियों में नहीं, यूनान के इतिहास में मिला जिसका उल्लेख मैंने प्लेटो की आलोचना के प्रसंग में किया है। विषय के पूर्ण अधिगम के लिए हमारे यहां श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन (निरंतर चिंतन) के जो तीन सोपान विहित हैं, वे निरर्थक

नहीं हैं। आज से २२०० वर्ष पहले महावैयाकरण पतंजलि ने कुछ अधिक्षेप के साथ कहा था कि 'त्वरितं वक्तारो भवंति'—अध्ययन के बाद कुछ लोग तुरंत प्रवचन करने लगते हैं; व्यंजना है कि ठीक से समझे-बूझे बिना ही बोलने-लिखने लगते हैं। भोजन की तरह ज्ञान के पचने में भी समय लगता है; अपक्व ज्ञान अपक्व भोजन से भी अधिक हानिकारक होता है। जॉर्ज सेन्ट्सबरी ने अपने इतिहास की भूमिका में लिखा है कि अरस्तू के 'पोएटिक्स' और लोंगिनुस के 'पेरि हुप्सुस' पर लिखने के पहले इन रचनाओं को उन्हें चार-चार, पांच-पांच बार पढ़ना पड़ा। यह उस व्यक्ति की आत्म-स्वीकृति है जो यूरोपीय संस्कृति में जन्मा और पला था, संपूर्ण यूरोप के साहित्यों के दाय का अभिनिविष्ट ज्ञाता था, अंग्रेजी जिसकी मातृभाषा थी और ग्रीक, लैटिन आदि का जो समादृत विद्वान् था। इन कृतियों पर लिखने के लिए, इन सारी सुविधाओं से वंचित किसी भारतीय लेखक का इन्हें कितनी बार पढ़ना उचित है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

मैंने यहां उन्हीं काव्यशास्त्रियों के सिद्धांतों का विवेचन किया है जो हिंदी में बहुचर्चित हैं। निरूपण के विस्तार का मानदंड रहा है विषय का विशद प्रतिपादन। भारतीय काव्यशास्त्र से परिचय के कारण पाश्चात्य काव्यशास्त्र के साथ उसकी तुलनात्मक समीक्षा की इच्छा बार-बार मन में उठती रही है। वस्तुतः यह विषय जितना रोचक है, उतना ही उपादेय भी। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि सर्वथा भिन्न संस्कृतियों, साहित्यों तथा परिवेशों के आलोचक अपने चिंतन-क्रम में संवादी निष्कर्षों पर पहुंचते हैं और अनेक स्थलों पर उनकी अभिव्यंजना एक-दूसरे की प्रतिध्वनि-सी लगती है। मैंने तुलनात्मक संकेत प्रायः किये भी हैं पर ग्रंथ-गौरव की आशंका से उनके पल्लवन पर अंकुश रखना पड़ा है। समीक्षित आलोचकों के मतों की यहां प्रस्तुतिमात्र नहीं है, बल्कि उनकी उपलब्धियों और सीमाओं का विश्लेषण तथा मूल्यांकन है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर लिखते समय एक समस्या का बहुशः सामना करना पड़ा है और वह है विदेशी शब्दावली के स्पष्ट, सटीक, निर्भ्रांत हिंदी रूपांतर की। हिंदी में एक शब्द के अनेक रूपांतर चल रहे हैं; जैसे 'इन्ट्यूशन' के लिए स्वयंप्रकाश-ज्ञान, सहजज्ञान, आंतरिक ज्ञान, आंतरज्ञान, अंतर्ज्ञान, अंतर्दृष्टि, अंतर्बोध, अंतःप्रज्ञा आदि। 'ऑब्जेक्टिव' को कोई वस्तुपरक लिखता है तो कोई वस्तुनिष्ठ, कोई विषय-निष्ठ लिखना पसंद करता है तो कोई विषयगत। इसी वजन पर 'सब्जेक्टिव' के लिए आत्मपरक, आत्मनिष्ठ, विषयिनिष्ठ, विषयिगत आदि प्रयोग में आ रहे हैं। कहने का तात्पर्य कि अंग्रेजी शब्दों के हिंदी रूपांतरों में एकरूपता की कमी है। अंग्रेजी में इन्ट्यूशन, ऑब्जेक्टिव, सब्जेक्टिव आदि शब्दों के अर्थ इतने सुनिश्चित हो गये हैं कि उनमें संदेह का अवकाश नहीं है। इसके विपरीत, हिंदी रूपांतरों की अनेकरूपता के कारण पाठक को प्रायः उलझन होती रहती है। कभी-कभी केवल मौलिकता दिखाने के लिए कुछ लेखक नये शब्द गढ़ लेते हैं: मूल शब्द के अर्थ से वह कितना संबद्ध

है ?—दोनों की छाया में किस सीमा तक साम्य है ?—उच्चारण की दृष्टि से वह कहां तक ग्राह्य है ?—इन प्रश्नों का पूरा ध्यान रखे बिना जो शब्द गढ़े जाते हैं वे संप्रेषण के साधक न होकर बाधक बनते हैं। इस कठिनाई के निराकरण के लिए मैंने हिंदी शब्दों के साथ विदेशी शब्द भी दे दिये हैं जिससे पाठक को अनावश्यक उलझन न हो।

मैंने मूल कृतियों से (और ग्रीक, लैटिन तथा इतालवी के संदर्भ में अंग्रेजी अनुवादों से) उद्धरण देने में संकोच नहीं किया है। विषय की स्पष्टता, प्रामाणिकता आदि की दृष्टि से इसका निस्संदेह महत्त्व है। मैंने ये उद्धरण रोमन लिपि में ही रखे हैं। रोमन लिपि में मुद्रित संस्कृत उद्धरणों को पढ़ने में जो क्लेश होता है और जो समय नष्ट होता है वही देवनागरी में मुद्रित अंग्रेजी को पढ़ने में होता है। दो-चार शब्दों की बात तो चल सकती है पर लंबे उद्धरण क्लेशकर हो जाते हैं, साथ ही अर्थ-बोध में अवरोध भी उपस्थित करते हैं। उच्चरित भाषा के संकेतग्रह में जो भूमिका अभ्यस्त ध्वनि की है, लिखित-मुद्रित भाषा के संकेतग्रह में वही भूमिका अभ्यस्त लिपि की है। उद्धरणों को रोमन लिपि में देने का एक औचित्य यह भी है कि अंग्रेजी के ज्ञाता भी इस पुस्तक में रुचि ले सकें और हिंदी के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन की वांछनीयता को ग्रहण कर सकें। यूरोप के विभिन्न देशों में अंग्रेजी का अध्ययन-अध्यापन तत्तत् देशों की भाषाओं में ही होता है। भारत में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन उपनिवेशवाद का अवशेष है। १९४७ के पहले यहां संस्कृत, फारसी आदि का अध्ययन-अध्यापन भी अंग्रेजी में ही होता था ! अब तो स्थिति यह है कि विश्वविद्यालयों में भी अंग्रेजी माध्यम से विषयों को भली तरह समझने वाले छात्रों की संख्या कम हो गयी है। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी माध्यम का जो दुष्परिणाम है उसे बताना अनावश्यक है। मानविकी या सामाजिक विज्ञानों के छात्र यदि अंग्रेजी में दिये गये व्याख्यान नहीं समझते तो उनकी हानि गंभीर होते हुए भी सह्य है किंतु 'आयुर्विज्ञान' के छात्रों का अधकचरा ज्ञान तो जानलेवा होगा। कमजोर ज्ञान वाले अभियंता का बनाया पुल या मकान मजबूत होगा, इसमें संदेह की काफी गुंजाइश है। अंग्रेजी के भक्त विनाश का वरण करने को उत्सुक हैं पर अपनी भाषा से काम लेना हेठी समझते हैं। कितना प्यार है हमें जातीय पराभव और अपमान के स्मृतिचिह्न से ? लगता है जैसे आत्मगौरव की रीढ़ ही टूट गयी है। मैंने इस पुस्तक के द्वारा अंग्रेजी के उन विद्वानों को, जिनकी बुद्धि दंभ से कषायित नहीं है, यह भी बताना चाहा है कि पाश्चात्य चिंतन के प्रौढ़ उपस्थापन की हिंदी में कितनी क्षमता है। हिंदी को अक्षम बताना अपनी अक्षमता पर परदा डालना है।

जब मैं पटना विश्वविद्यालय का कुलपति था तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मुझे नेशनल फेलो बना कर सम्मानित किया। हिंदी में यह सम्मान पाने वाला मैं पहला व्यक्ति था। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और उसके तदानींतन

अध्यक्ष प्रोफेसर डा० सतीशचंद्र जी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

कुलपति-पद के भार से मुक्त होने पर मैंने तुलनात्मक साहित्य के आधार पर रूपवादी तथा समाजवादी आलोचना-पद्धतियों के संश्लेष की योजना बनायी। प्रस्तुत पुस्तक उस योजना का एक उपजात (बाइप्रोडक्ट) है। पाश्चात्य या पौरस्त्य काव्य-शास्त्र का रूपवादी पक्ष जैसा विवृत होना चाहिये वैसा अभी हिंदी में हुआ नहीं है। बहुतों को रूपवाद का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। इसलिए पहले उसीका निरूपण संगत प्रतीत हुआ क्योंकि साधन की स्पष्टता के बिना साध्य की स्पष्टता शक्य नहीं है। ऐतिहासिक कारणों से समाजवादी आलोचना की तुलना में रूपवादी आलोचना प्राचीन तो है ही, आकार में विस्तृत तथा प्रकार में समृद्ध भी है। समाजवादी आलोचना के ज्ञान के लिए भी रूपवादी आलोचना का परिचय अपेक्षित है। आशा है, इस पुस्तक से उस अपेक्षा की पूर्ति होगी।

—देवेन्द्रनाथ शर्मा

पटना
३१ मार्च, १९८४

क्रम

प्लेटो

[४२७ ई० पू०—३४७ ई० पू०]

पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान आदि के मूल स्रोत का संधान करनेवाले को अनिवार्यतः उस भू-खंड में पहुंचना पड़ता है जिसे ग्रीस या यूनान कहते हैं। यूनान यूरोप के दक्षिण-पूर्वी छोर पर अवस्थित एक प्रायद्वीप और अनेक छोटे द्वीपों का समूह है। स्वभावतः यूनान को बंदरगाहों की बेहद सुविधा है और यह सुविधा पूरे देश को उपलब्ध है, क्योंकि यूनान का कोई भी स्थान समुद्र से ८० मील अर्थात् १२० कि० मी० से अधिक दूर नहीं है। फलतः वहां के निवासी बहुत अच्छे नाविक और व्यापारी हुए हैं। यूनान एक प्रकार से यूरोप और एशिया के संधि-स्थल पर पड़ता है; इसलिए दोनों महादेशों में उसे व्यापारिक प्रसार का भी अवकाश रहा है।

यूनान को मुख्यतः तीन भागों में बांट सकते हैं—उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी। ये तीनों भाग पहाड़ियों से भरे हैं; अतः यातायात की दृष्टि से दुर्गम रहे हैं। यही कारण है कि पूरे यूनान में कोई एक शासन कायम नहीं हो सका और छोटे-छोटे नगर-राज्यों (सिटी-स्टेट्स) का विकास हुआ। ये नगर-राज्य परस्पर स्वतंत्र तो थे ही, शत्रु-भाव से भी ग्रस्त थे। इसलिए लड़ते-भिड़ते रहते थे। भारत के इतिहास को ध्यान में रखें तो बात साफ हो जाएगी। जैसे प्राचीन या मध्य युग में यहां के राज्यों में आपसी लड़ाइयां हुआ करती थीं, वैसे ही यूनान में भी। इससे भारत के समान यूनान में भी राष्ट्रीयता का विकास बाधित रहा। यूनानी प्रायद्वीप के उत्तर से दक्षिण तक लगभग बीस राज्य थे जिनमें तीन सबसे प्रमुख थे। इन्हीं तीनों का इतिहास एक तरह से यूनान का इतिहास है। उत्तरी भाग में मकदूनिया, मध्यवर्ती भाग में आत्तिका और दक्षिणी भाग में लाकोनिया। मकदूनिया को प्रसिद्धि मिली सिकंदर की जन्म-भूमि होने से, जिसने विश्वविजेता होने का सपना देखा था। आत्तिका की राजधानी एथेन्स यूनान की समस्त बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं कलात्मक उपलब्धियों और चमत्कारों का उद्गम-स्थल है, जिनके कारण विश्व के इतिहास में यूनान का नाम अमर है। लाकोनिया की राजधानी स्पार्टा का महत्त्व उसके शौर्य-वीर्य एवं सैन्य शक्ति के कारण था।

वस्तुतः एथेन्स और स्पार्टा दो विरोधी आदर्शों, विचारधाराओं और जीवन-मार्गों के प्रतिनिधि थे। एथेन्स ने बौद्धिक पक्ष को प्रश्रय दिया, स्पार्टा ने शारीरिक

पक्ष को। एथेन्स में लोकतंत्र का विकास हुआ, स्पार्टा में अधिनायकतंत्र का। एथेन्स ने स्वतंत्रता को काम्य माना, स्पार्टा ने नियंत्रण को। इसलिए जहां एथेन्स में विचारक, साहित्यकार और कलाकार उत्पन्न हुए, वहां स्पार्टा में परिश्रमी, पराक्रमी और योद्धा।

बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात दार्शनिक बर्ट्रेंड रसल ने कहा है कि "संपूर्ण इतिहास में कुछ भी इतना आश्चर्यकर तथा अव्याख्येय नहीं है जितना यूनान में सभ्यता का आकस्मिक उदय।"[१] छठी शताब्दी ई० पू० में अकस्मात् एक ज्योति प्रज्वलित होती है जिसके अलौकिक आलोक से एथेन्स में ज्ञान-विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र उद्भासित हो उठता है और दो सौ वर्षों के बाद न जाने वह ज्योति कहां तिरोहित हो जाती है कि फिर कभी उसकी कोई झलक भी नहीं दिखायी देती। यूनान के सुदीर्घ इतिहास में ऐसी चतुर्मुख ज्योति न तो छठी शताब्दी ई० पू० से पहले कभी दीखी और न चौथी शताब्दी ई० पू० के बाद। इसलिए रसल की टिप्पणी बिलकुल सही है।

एथेन्स की महत्ता तथा गरिमा का आरंभ तो छठी शताब्दी में ही हो जाता है किंतु उसका विस्मयकारी रूप पांचवीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यों, एथेन्स पांचवीं शताब्दी में भी पूर्णतः विघ्न-बाधा-हीन नहीं था। ईरान ने दस वर्षों के भीतर यूनान पर दो बार (४९० ई० पू० और ४८० ई० पू० में) आक्रमण किया, पर दोनों बार उसे मुंह की खानी पड़ी। ४८० ई० पू० के युद्ध में माराथोन के मैदान में ईरान की ऐसी करारी हार हुई कि यूनान पर फिर आक्रमण करने का उसे साहस नहीं हुआ। और, चौथी शताब्दी में तो पासा ही पलट गया जब सिकंदर ने ईरान को ही पराजित कर यूनानी साम्राज्य में मिला लिया। माराथोन के युद्ध में यूनान की विजय हुई जरूर किंतु जन-धन की इतनी क्षति हुई कि बौद्धिक कार्य-कलाप अवरुद्ध-सा हो गया।

पेरिक्लेस (५००-४२९ ई० पू०) का तीस वर्षों (४६०-४३० ई० पू०) का शासनकाल एथेन्स के इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता है। उसके जैसा सुसंस्कृत, सुशिक्षित, दूरदर्शी, कल्पनाशील, राजनीतिकुशल, कलाप्रवीण, वाग्मी और लोकप्रिय शासक एथेन्स में दूसरा नहीं हुआ। अपने इन दुर्लभ गुणों के कारण वह लगातार पंद्रह बार एथेन्स का शासक निर्वाचित हुआ और उसके शासन में एथेन्स की आशातीत प्रगति हुई। सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक—सभी क्षेत्रों में उसकी देन अभूतपूर्व रही। कहा तो यहां तक जाता है कि यूरोप में पुनर्जागरणयुग (१४वीं शताब्दी ईसवी) के पहले कहीं भी इतनी रचनात्मक स्फूर्ति, सक्रियता और समृद्धि दृष्टिगोचर नहीं होती जैसी पेरिक्लेस के शासन-काल में। सोफोक्लेस[२] (४९५-४०५

१. In all history, nothing is so surprising or so difficult to account for as the sudden rise of civilization in Greece.
—A History of Western Philosophy, p. 21.

२. इन नामों के यूनानी उच्चारण ऊपर दिये गये हैं किंतु अधिकतर पाठक इनके अंग्रेजी उच्चारणों से परिचित हैं। उनकी सुविधा के लिए यहां रोमन लिपि में भी नाम दे दिये गये हैं। नाम ऊपर के क्रमानुसार हैं—

Sophocles; Euripides; Aeschylus; Aristophanes; Socrates; Pindar; Herodotus; Thucydides; Hippocrates; Empedocles; Democritus.

ई० पू०), एउरिपिदेस (४८०-४०६ ई० पू०) और एस्खिलुस (५२५-४५६ ई० पू०) जैसे विख्यात दुःखांतक (ट्रेजेडी) नाट्यकार, अरिस्तोफ़ानेस (४४५-३८५ ई० पू०) जैसा अद्भुत प्रहसनकार, सोक्रातेस (४७०-३९९ ई० पू०) जैसा महान् विचारक, पिंदार (५२२-४४३ ई० पू०) जैसा यशस्वी प्रगीतकार, हेरोदोतुस (४८०-४२५ ई० पू०), थूकिदिदेस (४६४-४०४ ई० पू०) जैसा प्रसिद्ध इतिहासकार, हिपोक्रातेस (४६०-३७७ ई० पू०) जैसा लब्धकीर्ति चिकित्सक, एम्पेदोक्लेस और देमोक्रितुस (४६०-३५७ ई० पू०) जैसे गंभीर वैज्ञानिक पेरिक्लेस-युग की ही देन हैं। वर्ट्रेंड रसल का कहना है कि संभवतः संपूर्ण इतिहास में पेरिक्लेस-युगीन एथेन्स की उपलब्धियां विलक्षणतम हैं। पेरिक्लेस के पहले एथेन्स यूनान के ही कई राज्यों से पीछे था; वहां किसी क्षेत्र में कोई उल्लेख्य व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ। किंतु विजय, वैभव और निर्माण की प्रेरणा के फलस्वरूप एक से एक नाटककार, मूर्तिकार, वास्तुकार उत्पन्न हुए जिनकी कृतियां ढाई हजार वर्षों के वाद भी आज अपनी रमणीयता एवं कलात्मकता से लोगों को मोह लेती हैं। वस्तुतः उनसे उत्कृष्टतर कृतियां यूरोप में आज तक निर्मित नहीं हो पायीं। यदि ४३० ई० पू० के लगभग हम एथेन्स की जनसंख्या (२,३०,०००) पर ध्यान दें तो उसकी उपलब्धियां और भी आश्चर्यकर प्रतीत होती हैं। दो लाख तीस हजार भी कोई जनसंख्या हुई? यह तो पटना या लखनऊ की एक-तिहाई आवादी से भी कम है। इतनी कम आवादी के किसी नगर ने कहीं भी, और कभी भी, बौद्धिक ऊर्जा तथा कलात्मक प्रकर्ष के ऐसे भव्य कीर्तिमान स्थापित नहीं किये हैं। पेरिक्लेस का शासन उस कीर्तिमान का चरम बिंदु है। उसके शासन का अंत होते न होते यूनान का ह्रास आरंभ हो गया। पेरिक्लेस के शासन के अवसान के एक वर्ष पहले अर्थात् ४३१ ई० पू० में स्पार्टा ने एथेन्स पर आक्रमण कर दिया। हम देख चुके हैं कि स्पार्टा ने बुद्धिपक्ष की कभी चिंता नहीं की। उसने केवल शारीरिक वल पर ध्यान दिया और सैन्य-शक्ति को बढ़ाया। अतः इस युद्ध में बौद्धिकता के उपासक एथेन्स का पलड़ा हलका होना ही था। आश्चर्य इसका नहीं कि एथेन्स पराजित हुआ; आश्चर्य इसका है कि यह युद्ध, जिसे पेलोपोन्नेसिया का युद्ध कहते हैं, २७ वर्षों तक चलता रहा और इतने दिनों तक एथेन्स स्पार्टा का मुकाबला करता रहा। किंतु असमानों का युद्ध आखिर कब तक चलता? ४०४ ई० पू० में एथेन्स की हार हुई और एथेन्स हमेशा-हमेशा के लिए टूट गया; वह फिर कभी खड़ा नहीं हो सका। किंतु राजनीतिक प्रभाव समाप्त हो जाने पर भी उसकी वौद्धिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों का प्रकर्ष ज्यों का त्यों बना रहा, वल्कि काल की गति के साथ क्रमशः बढ़ता गया और अंततः वह संसार की कालजयी संस्कृतियों का अंग बन गया।

प्लेटो को समझने के लिए यह संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आवश्यक है। इससे अवगत नहीं होने के कारण अनेक संदेह उत्पन्न होते हैं और वे असमाहित रह जाते हैं। कहना अनपेक्षित है कि किसी देश के साहित्य, संस्कृति, दर्शन, कला आदि को ठीक से समझने के लिए वहां के इतिहास का थोड़ा ज्ञान अपरिहार्य है।

प्लेटो का जन्म ४२७ ई० पू० में हुआ था। 'प्लेटो' उच्चारण अंग्रेजी के अनुसार है; इस शब्द का यूनानी उच्चारण 'प्लातोन' है जो अरबी में 'अफ़लातून' के रूप में प्रचलित है। इस पुस्तक में अंग्रेजी का ही उच्चारण रखा गया है क्योंकि यूनानी उच्चारण रखने से पाठकों को अनावश्यक भ्रम होता। प्लेटो मातृपक्ष एवं पितृपक्ष दोनों से, एथेन्स के समृद्ध, अभिजात कुलों से संबद्ध थे जिनका एथेन्स पर व्यापक राजनीतिक प्रभाव था। एथेन्स पर स्पार्टा का आक्रमण प्लेटो के जन्म के चार वर्ष पहले हुआ था। जैसा हम देख आये हैं, यह युद्ध २७ वर्षों तक चला और ४०४ ई० पू० में एथेन्स की पराजय के साथ समाप्त हुआ। तात्पर्य कि प्लेटो का शैशव, कैशोर एवं यौवन का भी आरंभिक भाग युद्ध की काली छाया में बीता। उन्होंने युद्ध की विभीषिका ही नहीं, बल्कि अपनी जन्मभूमि की ग्लानिजनक पराजय भी अपनी आंखों से देखी। जब वे रिपब्लिक में कहते हैं कि 'गुलामी मृत्यु से भी भयावह है'[३] तो समझते देर नहीं लगती कि इस आक्रोश की तीव्रता स्वानुभूत है। स्पार्टा के बाहु-बल के सामने जब एथेन्स के बुद्धि-बल ने घुटने टेके होंगे तो भावुक, चिंतनशील प्लेटो पर इसका क्या प्रभाव पड़ा होगा, यह सहज ही अनुमेय है। निसर्गत: कवि और कला-प्रेमी प्लेटो की अपने आदर्श राज्य से कवियों के बहिष्कार की बात अटपटी-सी लगती है। आलोचकों ने प्लेटो के कवि-विरोधी दृष्टिकोण का केवल उल्लेख कर दिया है किंतु किसी ने इस विरोधाभास का समाधान प्रस्तुत नहीं किया। हमें इसका समाधान एथेन्स की उपर्युक्त पराजय में मिला। काव्य और कला को शौर्य-वीर्य के विकास में बाधक मानकर ही प्लेटो ने कवियों के बहिष्कार की बात कही। उन्हें काव्यमात्र से परहेज नहीं था। देव-स्तोत्रों तथा महापुरुषों के आख्यानों का तो उन्होंने स्वागत ही किया है। उनके आक्रोश के विषय हैं दुःखांतक, जो रोनेधोने को बढ़ावा देकर समाज को कमजोर बनाते हैं। चूंकि कमजोर समाज अपनी स्वतंत्रता की भी रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए वैसे साहित्य का लेखक राज्य में रहने का अधिकारी नहीं जो बल और पौरुष को जगाने के बदले स्त्रैण बनाता है।

४०४ ई० पू० में एथेन्स की पराजय हुई और उसके पांच वर्षों के बाद ३९९ ई० पू० में सुकरात को मृत्युदंड मिला। सुकरात प्लेटो के गुरु थे। सुकरात ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा; रूढ़ अर्थ में कभी अध्यापन भी नहीं किया। उनकी दृष्टि में अध्यापन का सबसे अच्छा तरीका था संवाद अर्थात् प्रश्नोत्तर, जिसमें अध्यापक और अध्येता दोनों सहभागी हों। एथेन्स की सड़कों पर चलते हुए सुकरात कहीं भी नवयुवकों को बटोर लेते या उन्हें देख नवयुवकों का झुंड खुद ही इकट्ठा हो जाता और वे प्रश्नोत्तर में जुट जाते। सुकरात के आचार-विचार, रहन-सहन, तौर-तरीके इतने रूढ़िविरोधी थे कि रूढ़िवादी उनसे खार खाये रहते। सुकरात बुद्धि तथा तर्क के अतिरिक्त किसी भी बाह्य सत्ता का आदेश मानने को तैयार न थे। उनकी विचार-सरणी में भावना का स्थान नहीं था। वे 'आत्मदीपो भव' के प्रचारक थे। इसलिए हर तरह के अधिकार के प्रति,

३. Republic, p. 83.

वह राजनीतिक भी क्यों न हो, उनका विद्रोह स्वाभाविक था। उम्र में कोई बड़ा है, इसीलिए उसका कहना मानना जरूरी नहीं है; माता-पिता होने मात्र से संतान के लिए उनका आदेश-पालन कर्त्तव्य की कोटि में नहीं आता। सुकरात का आदर्श था—परिणाम की चिंता छोड़कर, परिवार और परिवेश की चिंता छोड़कर, एकनिष्ठ भाव से ज्ञान और सत्य का अनुसंधान। इसमें कभी स्खलन नहीं; कोई समझौता नहीं। आचारशास्त्र में सुकरात उपयोगितावाद के संस्थापक माने जाते हैं। उनके अनुसार शिव (good) वही है जो उपयोगी (useful) है। सुकरात की सत्ता-विषयक अवज्ञा की सीमा में मनुष्य ही नहीं, देवता भी थे। प्रचलित, लोकप्रिय धर्म तर्क की कसौटी पर जल्दी खरा नहीं उतरता था और जो तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता वह सुकरात को मान्य नहीं था। ईश्वर में उनकी आस्था थी किंतु ईश्वरीय विधि-विधान के संबंध में उनका दृष्टिकोण अज्ञेयवादी (agnostic) था। जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक लोकतांत्रिक स्वाधीनता का उपभोग करने पर भी लोकतंत्र के दोषों की आलोचना करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। उदाहरणार्थ, लॉट के द्वारा दंडाधिकारियों का चयन उन्हें बिलकुल अभिमत नहीं था। अज्ञान, पाखंड, अंधविश्वास आदि की आलोचना के कारण न तो वे जन-साधारण में लोकप्रिय थे और न अहम्मन्य बुजुर्गों के बीच, जिनकी बददिमागी का वे हमेशा मजाक उड़ाया करते थे। प्लेटो जैसे अनेक प्रतिभाशाली युवकों के हृदय में सुकरात ने संदेहवाद और प्रश्नवाद की, बौद्धिक साहस और बौद्धिक स्वातंत्र्य की भावना भर दी थी जो यथास्थिति का समर्थन करने वाली रूढ़िवादी विचारणा को ग्राह्य नहीं थी। सुकरात के संवादों से यूनान में एक प्रकार का व्यक्तिवाद उभरा जिससे रूढ़िवादियों को आशंका हुई कि यह सामाजिक संघटन के लिए घातक हो सकता है। इसलिए उन्होंने सुकरात पर ईश्वर को नहीं मानने का, ईश्वर के स्थान पर विचित्र, अतिलौकिक (सुपरनेचुरल) जीवों को प्रतिष्ठित करने का और युवकों को दूषित करने का आरोप लगाया। इस आरोप पर विचार करने के लिए ५०१ निर्णायकों की अदालत बैठी। अदालत ने ६० के बहुमत से सुकरात को अपराधी ठहराया और गणतंत्र के कानून के अनुसार उन्हें मृत्युदंड दिया। मृत्युदंड के निर्णय से सुकरात के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जेल में भी उनके संवाद का क्रम यथावत् चलता रहा। मृत्यु के क्षण तक युवकों की मंडली उनकी विचारोत्तेजक बातें सुनती रही। सुकरात अपने हाथों से जहर पीते हुए, प्रसन्न-वदन बातें करते हुए, धीरे-धीरे चिरनिद्रा में डूब गये। मृत्यु के समय उनकी उम्र सत्तर वर्ष थी। जैसा होता है, मृत्यु के बाद सुकरात सर्वत्र आदर, श्रद्धा, गर्व और शोक के पात्र बन गये। मृत्यु की दारुणता ने उनके प्रभाव को कई गुना बढ़ा दिया। सुकरात के साथियों तथा अंतेवासियों ने उनकी मृत्यु के लिए निरंकुश, विवेकहीन लोकतंत्र को कभी माफ नहीं किया।

एथेन्स की पराजय और सुकरात के मृत्युदंड ने लोकतंत्र में प्लेटो की आस्था डिगा दी। वह लोकतंत्र किस काम का जो वैयक्तिक और वैचारिक स्वतंत्रता का दम तो भरता है किंतु शारीरिक बल की उपेक्षा कर युद्ध में पराजित होता है और

परतंत्र बन जाता है ? इससे भी भयंकर बात यह कि एक ओर तो लोकतंत्र वैचारिक स्वतंत्रता का दम भरता है ओर दूसरी ओर एक बुद्धिवादी को तर्क का प्रचार करने के लिए मौत के घाट उतार देता है और ५०१ में २८० निर्णायक इस जघन्य निर्णय के पक्ष में अपना मत देते हैं। इससे तो स्पार्टा की कठोर अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था कहीं अच्छी जो न तो पराजय की ग्लानि का अनुभव करती है और न बुद्धिवादी होने के लिए किसी को मृत्युदंड देती है।

जैसा कहा जा चुका है, प्लेटो सुकरात के शिष्य थे; शिष्य भी साधारण नहीं, अपूर्व मेधावी, पूर्णतः अनुगत तथा सर्वात्मना समर्पित। उन्होंने सुकरात के विचारों को ही नहीं, उनकी पद्धति और शैली को भी ग्रहण किया। अंतर केवल इतना है कि जो काम सुकरात प्रवचन के द्वारा करते थे, उसे प्लेटो ने लेखन के द्वारा किया। इसका एक लाभ यह हुआ कि उन्होंने जो कुछ कहा वह लिखित होने से स्थायी बन गया। प्लेटो का लेखन अपने गुरु की ही शैली पर, संवाद के रूप में है—दो या दो से अधिक पात्र एकत्र बैठते हैं; उनमें कोई प्रश्न करता है और सुकरात उत्तर देते हैं। स्मरणीय है कि प्लेटो के सभी संवादों के प्रश्नकर्ता चाहे जो भी हों, उत्तर-दाता या प्रवक्ता केवल सुकरात हैं। इन संवादों में प्लेटो कहीं नहीं हैं। लगता है कि उन्होंने अपनी गुरुवाणी को केवल लिपिबद्ध कर दिया है; विचार सारे के सारे जैसे सुकरात के हों। यह निश्चय ही प्लेटो की गुरुभक्ति की पराकाष्ठा है कि वे सब कुछ गुरु का ही कहकर प्रस्तुत करते हैं; अपने को भूलकर भी आगे नहीं लाते। गुरु से उन्होंने बहुत कुछ प्राप्त किया होगा, किंतु उनके जैसे चिंतनशील, कल्पनाशील और तार्किक के अपने विचार भी कम नहीं होंगे, पर अपने को उन्होंने कहीं भी सामने नहीं आने दिया है। इसलिए उनके संवादों में ऐतिहासिक सुकरात तथा सांवादिक सुकरात के बीच भेद करना असंभव हो जाता है।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव निस्संदेह अत्यंत गंभीर पड़ा। प्लेटो की काव्यात्मक, भव्य, उदात्त शैली बताती है कि वे मूलतः कवि थे। उनके लेखकीय जीवन का आरंभ हुआ भी नाटकों और कविताओं की रचना से; किंतु सुकरात के प्रभाव में आने पर उन्होंने उन ललित रचनाओं को नष्ट कर दिया और गुरु का अनुसरण करते हुए भावना को छोड़ तर्क का मार्ग अपना लिया। गुरु के अधूरे कार्य को पूरा करना और आगे बढ़ाना ही उनका लक्ष्य बना।

प्लेटो के साहित्यालोचक-रूप पर विचार करते समय स्मरण रखना चाहिए कि :

१. वे आलोचक नहीं, दार्शनिक हैं। अतः उनका उद्देश्य आलोचनात्मक सिद्धांतों का निरूपण नहीं, बल्कि अपने गुरु की तथा अपनी दार्शनिक मान्यताओं का उप-स्थापन है।

२. उन्होंने आलोचना पर स्वतंत्र या व्यवस्थित रूप में कुछ नहीं लिखा है बल्कि अन्य प्रसंगों में काव्य या नाटक पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस तरह के विचार अनेक संवादों में बिखरे हुए हैं, जैसे इओन (Ion), क्रातिलुस (Cratylus), गोर्गिआस (Gorgias), फेद्रुस (Phaedrus), फिलेबुस (Philebus), विचार-

गोष्ठी (Symposium), गणतंत्र (Republic) आदि में। इनमें आलोचनात्मक सामग्री की दृष्टि से इओन, फेद्रुस और रिपब्लिक (द्वितीय, तृतीय तथा दशम अध्याय) अधिक उपादेय हैं।

प्लेटो के दर्शन में मुख्यतः निम्नलिखित पांच विषयों का निरूपण है :

१. आदर्श राज्य,
२. प्रत्यय-सिद्धांत,
३. आत्मा की अमरत्व-सिद्धि,
४. सृष्टि-शास्त्र,
५. ज्ञान-मीमांसा।

इनमें प्लेटो की आलोचनात्मक धारणा आदर्श राज्य के संदर्भ में ही अधिकतर व्यक्त हुई है। वे स्पार्टा द्वारा एथेन्स की पराजय से इतने विचलित थे कि एथेन्स का साहित्यिक, कलात्मक एवं बौद्धिक प्रकर्ष उनके समक्ष महत्त्वहीन बन गया था और वे चाहते थे कि एथेन्स इतना शक्ति-संपन्न हो जाए कि पराजय का अवसर दुबारा न आए। इसके लिए उन्हें शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि भावी नागरिकों को बनाने-बिगाड़ने का सबसे समर्थ माध्यम शिक्षा ही है।

प्लेटो के तर्क का रूप कुछ इस प्रकार है : सभी मनुष्य आदर्श राज्य अर्थात् अच्छा शासन चाहते हैं; शासन अच्छा तभी हो सकता है, जब उसके नागरिक अच्छे हों; नागरिक तभी अच्छे होंगे, जब उनकी शिक्षा अच्छी होगी; अच्छी शिक्षा तभी संभव है, जब विषय अच्छे हों और विषय अच्छे वे ही हैं, जो तन और मन को अधिक से अधिक अच्छा बनाएं—तन अच्छा हो अर्थात् स्वस्थ और सबल हो; मन अच्छा हो अर्थात् सुसंस्कृत और निर्भीक हो। इसके लिए दो ही विषय अपेक्षित हैं : तन के लिए व्यायाम और मन के लिए संगीत। शिक्षा का आरंभ इन्हीं दो विषयों से होना चाहिए। इनके द्वारा तन-मन के परिष्कार और विकास के बाद ही दूसरे विषय पढ़ाये जाने चाहिए। सोवियत संघ आदि समाजवादी देशों में आज प्लेटो द्वारा निर्धारित पद्धति ही प्रचलित हैं; व्यायाम और संगीत पहली कक्षा से लेकर दसवीं कक्षा तक अनिवार्य हैं।

सुकरात का दृष्टिकोण, बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक था। भौतिक जीवन में जो उपयोगी हो और नैतिक जीवन में जो सात्त्विक हो, वही अभिलषणीय है। सच पूछिए तो सुकरात के विचार में सुंदरता और उपयोगिता ये दोनों शब्द समानार्थक हैं।

प्लेटो संस्कार और स्वभाव से कवि हैं तथा शिक्षा और परिस्थित से दार्शनिक। इसीलिए काव्य और दर्शन के सापेक्ष महत्त्व को लेकर उनमें प्रायः अंतर्द्वंद्व दिखायी देता है। कभी वे काव्य और दर्शन के पुराने कलह की याद दिलाते हैं तो कभी काव्य को ईश्वरीय प्रेरणा से उद्भूत कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं। कभी होमर की तारीफ के पुल बांधते हैं और कभी उन्हें समाज के लिए घातक बताते हैं। हमारा अनुमान है कि जीवन के आरंभ में उन पर काव्य का गंभीर तथा अनुकूल प्रभाव था पर जैसे-

जैसे उम्र बढ़ती गयी एवं परिपक्वता आती गयी, वैसे-वैसे दर्शन का प्रभाव बढ़ता गया और काव्य का आकर्षण घटता गया। हमारे इस अनुमान की पुष्टि प्लेटो के ही कथन से होती है। रिपब्लिक के दसवें अध्याय में वे ग्लाउकोन (संवाद के श्रोता) से कहते हैं कि "यद्यपि अपने यौवन के आरंभ से ही होमर के लिए मुझे संभ्रम (awe) तथा प्रेम रहा है, जिससे अब भी मेरे शब्द ओठों पर लड़खड़ाने लगते हैं क्योंकि होमर मोहक दुःखांतकीय पूरे समुदाय के महान् नेता और गुरु हैं, किंतु सत्य की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक सम्मान नहीं दिया जा सकता।" और, प्लेटो का सत्य है कि समाज पर काव्य का प्रभाव घातक होता है। ऊपर के उद्धरण में 'अब भी' शब्द ध्यान देने योग्य है। उम्र और ज्ञान की परिपक्वता के बाद भी प्लेटो पर होमर का ऐसा अंतःस्थित प्रभाव है कि उनके विरुद्ध कुछ कहने में शब्द ओठों पर आकर भी लड़खड़ाने लगते हैं, आसानी से निकल नहीं पाते! यह परिस्थिति की बाध्यता ही है जो उनसे होमर के विरुद्ध कुछ कहलवाती है।

प्लेटो द्वारा काव्य की अग्राह्यता के दो आधार हैं: **दर्शन और प्रयोजन**। प्लेटो प्रत्ययवादी (idealist) दार्शनिक हैं। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यय अर्थात् विचार (idea) ही परम सत्य है; वह नित्य है और एक (अखंड) है तथा ईश्वर उसका स्रष्टा है। यह दृश्यमान वस्तु-जगत् प्रत्यय (परम सत्य) का अनुकरण है क्योंकि कलाकार किसी वस्तु को ही अपनी कला के द्वारा चित्रित करता है। इस क्रम में कला तीसरे स्थान पर है। पहला स्थान प्रत्यय (परम सत्य) का, दूसरा स्थान उसके आभास या प्रतिबिंब (वस्तु-जगत्) का और तीसरा स्थान वस्तु-जगत् के प्रतिबिंब कला-जगत् का; इसलिए परम सत्य से कला का तिहरा अलगाव है और अनुकरण का अनुकरण होने से वह मिथ्या है। प्लेटो के शब्दों में कला सत्य से त्रिधा अपेत (thrice removed) है।

प्लेटो अपनी बात एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट करते हैं। संसार में प्रत्येक वस्तु का एक नित्य रूप होता है जो प्रत्यय अर्थात् विचार या धारणा में ही रहता है। यह रूप ईश्वर-निर्मित हुआ करता है। प्रत्यय अर्थात् विचार में वर्तमान उसी रूप के आधार पर किसी वस्तु का निर्माण होता है। प्लेटो द्वारा दिया पलंग का दृष्टांत लें। यथार्थ पलंग वह है जिसका रूप हमारे प्रत्यय (विचार) में है और जिसका निर्माण ईश्वर ने किया है क्योंकि सभी वस्तुओं का प्रथम, प्रत्ययात्मक (ideal) निर्माण ईश्वर ही करता है। उस प्रत्यय के आधार पर बढ़ई लकड़ी के पलंग का निर्माण करता है और उसके द्वारा निर्मित पलंग का चित्र कलाकार अंकित करता है। इस प्रकार तीन पलंग हुए—एक तो वह जिसका निर्माण ईश्वर करता है और जो हमारे प्रत्यय (विचार) में रहता है; दूसरा वह, जिसका निर्माण बढ़ई करता है और तीसरा वह, जिसका निर्माण कलाकार (चित्रकार) करता है। ईश्वर, बढ़ई और चित्रकार—ये तीनों पलंग के निर्माता हैं किंतु तीनों के पलंग में अंतर है। सबसे पहले कोई वस्तु प्रत्यय में ही उद्भासित या रूपायित होती हैं; फिर, उसके अनुकरण पर निर्माता उसे ठोस आकार देता है; यह आकार यथार्थ (प्रत्ययस्थित)

वस्तु की नकल होता है, इसलिए इसकी स्थिति यथार्थ से दूसरे स्थान पर है। और, चूंकि कलाकार (कवि, चित्रकार या मूर्तिकार) किसी माध्यम (शब्द, रंग या पत्थर) के द्वारा उस ठोस वस्तु की नकल कर उसे एक नया रूप देता है, इसलिए वह यथार्थ से तीसरे स्थान पर है। चूंकि कला नकल की नकल है, छाया की छाया है, अतः मिथ्या है। निष्कर्षतः अयथार्थ, अवास्तविक या मिथ्या होने के कारण कोई कलाकृति न तो व्यक्ति का कल्याण कर सकती है और न राज्य का।

प्लेटो के कथन का सारांश :

(१) प्रत्यय-जगत् यथार्थ है; ईश्वर उसका स्रष्टा (creator) है।

(२) वस्तु-जगत् यथार्थ का अनुकरण है; बढ़ई (कारीगर) उसका निर्माता (maker) है।

(३) कला-जगत् वस्तु-जगत् का अर्थात् अनुकरण का अनुकरण है; कलाकार उसका अनुकर्ता (imitator) है।

प्लेटो के अनुसार, कला यथार्थ या सत्य से त्रिधा अपेत (thrice removed) है, अतः सर्वथा मिथ्या और अनुपयोगी है। यह तर्क चित्रकला पर ही नहीं, काव्य और नाटक पर भी लागू है। होमर और हेसिओद (८वीं शताब्दी ई० पू०) जैसे कवियों के काव्य अथवा एस्खिलुस, सोफोक्लेस, एउरिपिदेस, आरिस्तोफानेस जैसे नाटककारों के नाटक भी अपवाद नहीं हैं। इन कृतियों को पढ़ने, सुनने या देखने से अच्छे नागरिकों का निर्माण संभव नहीं है। इसलिए इन पर नियंत्रण आवश्यक है।

१. प्लेटो का कहना है कि होमर के महाकाव्यों (इलियद और ओदेसी) में देवताओं का चरित्र जैसा चित्रित है, वह असत्य भी है और अनुचित भी, क्योंकि उन्हें क्रूर, लोभी, कलही, प्रतिशोधी आदि रूपों से चित्रित किया गया है। अपनी निर्बलताओं के कारण ऐसे देव-चरित्र साधारण मानवों के धरातल पर आ जाते हैं। फिर, उनका देवत्व क्या रहा और वे मनुष्यों के बौद्धिक-आत्मिक उन्नयन में सहायक कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार वीरों और नायकों के चरित्र भी निर्बलताओं से रहित नहीं हैं। उनमें भी वे दोष हैं, जो देवों में दिखाये गये हैं। तात्पर्य कि न तो देवों का चरित्र आदर्श है, न वीरों का। उनसे मनुष्यों को कोई सत्प्रेरणा नहीं मिल सकती।

२. होमर और हेसिओद के काव्यों में ऐसे स्थल आये हैं जो पाठकों-श्रोताओं के मन में भय उत्पन्न करते हैं; इसलिए उन्हें वीर और साहसी के बदले भीरु और कापुरुष बनाते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए जो नवयुवकों में शौर्य की भावना भरे और मृत्यु की लालसा जगाए क्योंकि 'दासता मृत्यु से भी बुरी चीज़ है'।

३. होमर के काव्यों में ऐसे उत्सवों का वर्णन है जिनसे भोग और विलास की कामना उत्तेजित होती है और देवताओं का लोभ प्रकट होता है। इस प्रकार के वर्णन शुद्धता, सात्त्विकता और संयम में बाधक हैं, अतः त्याज्य हैं।

४. काव्यों में ऐसी भी कहानियां आयी हैं जिनमें सज्जन तो दु.ख भोगते दिखाये हैं और दुर्जन सुख भोगते। जिस विधान में सदाचार के लिए दंड और कदाचार के लिए पुरस्कार होगा, वहां नैतिकता कैसे टिकेगी? कोमल-बुद्धि बालकों तथा नव-

युवकों पर ऐसी कहानियों का प्रभाव बहुत ही अनिष्टकारी पड़ेगा।

५. नाटकों में अभिनेता नाटकीय पात्रों का अभिनय करते हैं। पात्र अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। बुरे पात्रों का लगातार अनुकरण करने से अभिनेताओं में भी उनकी बुराइयां आ जाती हैं; वे भी कायर, लंपट, धूर्त, वंचक बन जाते हैं और उनका स्वभाव बदल जाता है। यही नहीं, इसका असर देह, दिमाग और आवाज पर भी पड़ता है। इस प्रकार समाज में अच्छाइयों के बदले बुराइयां फैलती हैं। (प्लेटो ने यहां बुरे पात्रों के प्रभाव की बात तो कही पर अच्छे पात्रों के प्रभाव की बात छोड़ दी। यदि बुरे पात्रों के अनुकरण से अभिनेताओं में बुराइयां आ सकती हैं तो अच्छे पात्रों के अनुकरण से अच्छाइयां भी तो आ सकती हैं।)

६. दुःखांतकों में कलह, हत्या, विलाप आदि और सुखांतकों में विद्रूपता, अभद्रता, मस्खरापन आदि देखने-सुनने से द्रष्टा-श्रोता के मन में निकृष्ट भाव उदित होते हैं। इससे कुरुचि बढ़ती है और अनुशासन में शिथिलता आती है। एक बात और; दूसरों के सम्मुख शोक, दुःख, विलाप आदि के प्रकटन में मनुष्य को स्वाभाविक संकोच होता है परंतु इसके प्रतिकूल दुःखांतकों में इनका उन्मुख प्रदर्शन होता है। सत् और महान् पात्र भी आंसू बहाते, छाती पीटते दिखाये जाते हैं। इससे उनकी चारित्रिक महत्ता तो खंडित होती ही है, उनको देखकर दूसरों को भी वैसा करने की प्रेरणा मिलती है। कोई भी कुलीन एवं शालीन व्यक्ति निजी जीवन में दुःख, शोक आदि का सामना शांत और धीर भाव से करता है और दूसरों के सामने अपनी कमजोरी प्रकट करने में संकोच करता है, किंतु नाटक में अभिनय से उद्वेलित होकर वही व्यक्ति आपा खो बैठता है और हजारों के सामने आंसू बहाने में भी संकोच नहीं करता। रोने-बिलखने की इस संक्रामकता से समाज में वीर-भाव आच्छन्न तो होता ही है, उच्छिन्न भी हो सकता है। इसी तरह प्रहसनों का हलकापन अनुकर्ता (अभिनेता) तथा द्रष्टा (प्रेक्षक), दोनों के आचरण की गंभीरता को धीरे-धीरे क्षीण करता है जिसके कारण वे उदात्त कार्यों को करने के योग्य नहीं रह जाते।

७. कोई व्यक्ति जीवन में गंभीरता से काम करे और नाटक में हलकेपन से, यह असंगत है। फिर, वही व्यक्ति दुःखांतक में भी अभिनय करे और सुखांतक में भी, और दोनों में सफलता प्राप्त करे, यह संभव नहीं क्योंकि दोनों में सर्वथा भिन्न प्रकार के अभिनय अपेक्षित हैं। किसी व्यक्ति की प्राकृतिक विशेषता किसी एक ही प्रकार के अभिनय के अनुकूल हो सकती है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की क्षमता की सीमाएं हैं और अभिनेता भी उनसे परे नहीं हैं।

८. प्राज्ञ और प्रशांत व्यक्ति प्रायः सदा एकरस रहते हैं। अतः न तो अभिनेता के लिए उनका अनुकरण सरल है और न भावक के लिए आस्वाद, क्योंकि रंगशाला में प्रेक्षकों का ऐसा मिश्रित समुदाय होता है कि उनमें बहुसंख्यक प्रेक्षक अनेक उदात्त भावों से बिलकुल अपरिचित रहते हैं। इसलिए जो नाटककार लोकप्रियता अर्जित करना चाहते हैं, वे हलके और ओछे भावों का ही चित्रण पसंद करते हैं। इससे समाज में हलकापन और ओछेपन का प्रसार होता है।

९. काव्य और नाटक अंत:प्रेरणा अर्थात् भाव के उच्छलन से उत्पन्न होते हैं, तर्क से नहीं। प्लेटो के अनुसार, तर्क-निरपेक्ष कोई भी वस्तु अग्राह्य है। भाव से उद्भूत और भाव पर ही आधारित होने से काव्य या नाटक में तर्क का अवकाश नहीं रहता, इसलिए वह अग्राह्य है।

१०. इससे भी बड़ी बात यह है कि भावमूलक होने से काव्य भाव को ही उद्दीप्त करता है, तर्क को नहीं; हृदय को ही प्रभावित करता है, बुद्धि को नहीं। "काव्य मनोवेगों का पोषण और सेचन करता है (Poetry feeds and waters the passions)।" भाव की इस उद्दीप्ति के दो दुष्परिणाम होते हैं : एक तो सत्य को देखने-समझने की दृष्टि आविल हो जाती है; फलत: सत्य और शिव का ज्ञान नहीं हो पाता जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। दूसरे, भाव का अतिरेक संयम तथा संतुलन को बाधित करता है। इससे समाज में वीरता के बदले विलास बढ़ता है जो शासकों को उत्तेजनीय एवं स्त्रैण बना देता है।

११. कुछ लोग काव्यगत असत्य का समाधान यह कहकर करते हैं कि वह अन्योक्ति (allegory) है। इसलिए उसमें कोई अनौचित्य नहीं है क्योंकि वह असत्य से सत्य पर जाने का मार्ग है "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत: सत्यं समीहते"। प्लेटो का कहना है कि बालक या नवयुवक में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह अन्योक्ति तथा यथार्थ में भेद कर सके। वह जो कुछ भी ग्रहण करता है उसका प्रभाव उसके मन पर इतना गहरा और अमिट होता है कि वह आजन्म उससे मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए उसके समक्ष वैसी ही कहानियां आनी चाहिए जो शुद्ध एवं नैतिक विचारों से संपन्न हों।

रिपब्लिक में प्लेटो का उपसंहार-वचन है कि जब कोई अभिनेता हमारे यहां आता है और अपने को तथा अपनी कला को प्रदर्शित करना चाहता है, तो 'हम उसके सामने घुटने टेककर मधुर, पवित्र एवं विलक्षण जीव के रूप में उसकी पूजा करेंगे, किंतु उसे हम यह भी अवश्य बता देंगे कि उसके जैसे लोगों को हमारे राज्य में रहने की अनुमति नहीं है; कानून उन्हें नहीं रहने देगा। अत: उसके शरीर में सुगंधित अंगराग लगाकर और उसके सिर में ऊन की माला पहनाकर हम उसे दूसरे नगर में भेज देंगे, कारण कि अपनी आत्मा के स्वास्थ्य के लिए हम सूक्ष्मतर और कठोरतर कवि को ही रखेंगे जो सच्चरित्रों के ही गुणों का अनुकरण करे।"

स्पष्ट है कि प्लेटो का काव्य-नाटक-विषयक यह विरोध साहित्येतर प्रतिमानों से प्रेरित है। राजनीतिक, दार्शनिक तथा नैतिक निकषों पर काव्य के परीक्षण के ये निष्कर्ष सर्वथा स्वाभाविक हैं। प्लेटो का सबसे अभ्यर्हित उद्देश्य है आदर्श राज्य की स्थापना जिसके नागरिक अप्रतिम शूरवीर हों, शुद्ध तर्कवादी हों और पूर्णत: सत्य-निष्ठ हों। उनके राज्य में भोग-विलास, भाव-आवेग, धूर्तता-वंचकता आदि सर्वथा वर्जित हैं। एक बड़ी रोचक बात यह है कि प्लेटो झूठ बोलने का अधिकार केवल शासकों को देते हैं, नागरिकों को नहीं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के अनुसार शासक जो झूठ बोलते हैं, वह शायद झूठ नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि

प्लेटो की उपरिनिर्दिष्ट आपत्तियां आपाततः जितनी सबल और समीचीन प्रतीत होती हैं, उतनी हैं नहीं।

उपर्युक्त मंतव्यों को देखकर जरा भी संदेह नहीं रहता कि प्लेटो काव्य और नाटक के घोर विरोधी हैं, ऐसे विरोधी जो कवियों को अपने आदर्श राज्य से निकाल देने तक का प्रस्ताव कर बैठते हैं। किंतु यह उनका एक पक्ष है, निषेध-पक्ष है; फिर भी यह है इतना स्पष्ट और जोरदार कि उनका विधि-पक्ष इससे दब गया है, ढंक गया है। समुचित मूल्यांकन के लिए उसे भी देखना जरूरी है।

प्लेटो काव्यमात्र का नहीं बल्कि केवल वैसे काव्य का अपलाप करते हैं जो नागरिकों में भीरुता, निर्बलता, अनैतिकता का संचार करता है; जो उन्हें सत्य और शिव से हटाकर असत्य और अशिव की ओर ले जाता है; जो देवों और वीरों के चरित्रों में गर्हित दोष दिखाकर उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करता है। प्लेटो को वह काव्य पूर्णतः अभिमत एवं ग्राह्य है जिसमें देवों के स्तोत्र हों तथा प्रसिद्ध पुरुषों के गुणगान हों। प्लेटो अपने आदर्श राज्य से कवियों को बहिष्कृत करने की बात कहते हैं क्योंकि कवियों की शक्ति और प्रभाव से वे परिचित हैं; काव्य के सौंदर्य एवं आकर्षण से, कलाओं की अनुरंजकता एवं मनोहारिता से वे अवगत हैं। वे दर्शन और काव्य के पुराने विरोध की चर्चा करते हुए दर्शन के प्रति अपना पक्षपात इसीलिए प्रदर्शित करते हैं कि काव्य की लोकप्रियता देख चुके हैं। वे यह भी देख चुके हैं कि होमर के दोनों महाकाव्य एथेन्स की शिक्षा के अनिवार्य अंग हैं, जिस तरह आज के तीस-चालीस साल पहले हिंदी क्षेत्र में 'गोसाईंजी की रामायण' थी। कन्या की शिक्षा का सबसे बड़ा प्रमाणपत्र था कि वह रामायण पढ़ लेती है और रामायण का पारायण करने वाला पुरुष अपनी शिक्षा में किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करता था। एस्खिलुस, सोफोक्लेस, एउरिपिदेस आदि लेखकों के नाटक एथेन्स में बीस-बीस हजार प्रेक्षकों के सम्मुख मुक्ताकाश रंगमंच पर अभिनीत होते थे और प्रेक्षक तन्मय होकर, सुधबुध खोकर उन्हें देखते थे। प्लेटो के जैसा इस स्थिति का द्रष्टा और ज्ञाता काव्य-नाटक की रमणीयता से अप्रभावित कैसे रह सकता था, खासकर तब जब उसे उच्च-कोटि का कवि-हृदय मिला था?

प्लेटो ने काव्य-नाटक के संबंध में जो आपत्तियां उठायी हैं, उनकी जरा समीक्षा करें। होमर ने देवचरित्रों का जो चित्रण किया है वह मिथकीय (mythological) आख्यानों के आधार पर। जिसका जैसा चरित्र मिथकों में है, उसका वैसा ही चरित्र उन्होंने रखा है। इसमें होमर का क्या दोष? यदि उन देवों की चारित्रिक विशेषताओं में होमर हेरफेर करते तो परिवर्तन के दोषी ठहराये जाते; मिथक-विरोधी कहे जाते। यह ठीक है कि वीरों के चरित्रों में भी कभी-कभी निर्बलता के स्थल आये हैं किंतु उन्हें बदल देना न तो सत्य के अनुकूल होता, न परंपरा के। सज्जन का दुःखभोग और दुर्जन का सुखभोग जब संसार में देखा जाता ही है तब कवि क्या करे? जबर्दस्ती सज्जन से सुख और दुर्जन से दुःख कैसे भोगवाए? वह जैसा देखता है, वैसा वर्णन कर देता है। नाटकों के संबंध में भी प्लेटो

की आपत्तियों में सार नहीं है। एक तो किसी पात्र का अनुकरण करने से अभिनेता में उसकी चारित्रक विशेषताएं आ ही जाएं, यह आवश्यक नहीं है। और, यदि आती हैं तो बुरे पात्रों के अनुकरण से जहां बुराइयों के आने की संभावना है वहां अच्छे पात्रों के अनुकरण से अच्छाइयों के भी तो आने की संभावना है। रंगमंच पर हत्या, विलाप आदि को देखकर सहृदयों की सुरुचि को ठेस लगती है, यह ठीक है, पर यथार्थवादी कहेगा कि जीवन में ऐसी बातें तो होती ही हैं। तब उनके प्रदर्शन या प्रतिरूपण में क्या हानि है? केवल नाटक देखने से राष्ट्र का चरित्र न बनता है और न बिगड़ता है। यदि नाटक देखने मात्र से चरित्र बनता-बिगड़ता तो व्यक्ति या समाज या राष्ट्र का चरित्र एक दिशा से दूसरी दिशा में मोड़ देना कितना आसान होता! अभिनेता गंभीर तथा हलके पात्रों का अनुकरण समान दक्षता तथा सफलता से नहीं कर सकता, यह तर्क भी प्रत्यक्ष-समर्थित नहीं है। वस्तुतः अभिनय-कला का वैशिष्ट्य तो इसी में है कि अनुकार्य चाहे जैसा भी हो, अनुकर्ता उसका विश्वसनीय अनुकरण कर ले। साधारण और असाधारण अभिनेता में यही तो अंतर होता है। काव्य अंतःप्रेरणा से उत्पन्न और भावमूलक होता है, इसीलिए वह काव्य है अन्यथा तर्क-प्रसूत और तर्काश्रित होने से वह भी दर्शन बन जाता। भावमूलक होने से ही काव्य सरस होता है और तर्कमूलक होने से ही दर्शन नीरस। काव्य की भावमूलकता और सरसता उसके गुण हैं, दोष नहीं। सर्वत्र तर्क की प्रतिष्ठा हृदय और मस्तिष्क के, अर्थात् मनुष्य के व्यक्तित्व के, संतुलन एवं सामंजस्य के लिए, कहां तक वांछनीय होगी, यह भी विचारणीय है। काव्य "मनोवेगों का पोषण और सेचन करता है," इसलिए अवांछनीय है; इस आपत्ति का विशद उत्तर प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने दिया है। इसे हम आगे देखेंगे। उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि प्लेटो ने काव्य-नाटक में जो दोष देखे-दिखाये हैं, वे वास्तविक से अधिक आयासी हैं। बर्ट्रेंड रसल का कहना ठीक ही लगता है कि "प्लेटो में अनुदार विचारों को भी ऐसी सजधज के साथ प्रस्तुत करने की कला थी कि वे भावी युगों का प्रवंचित करते रहे।"[४]

प्लेटो के अनुसार, काव्य-सर्जन एक प्रकार के ईश्वरीय उन्माद (divine madnees) का परिणाम है। 'फेद्रुस' में सुकरात के मुंह से प्लेटो कहलवाते हैं: "तीसरे प्रकार का उन्माद उनका है जो काव्यदेवी से आविष्ट होते हैं। काव्यदेवी कोमल और निर्मल आत्मा को अपने अधिकार में लेकर और उसमें उन्माद जगाकर प्रगीत तथा अन्य कविताओं को उत्पन्न करती है···किंतु जो अपनी आत्मा में काव्यदेवी के उन्माद के स्पर्श के बिना दरवाजे पर आता है और सोचता है कि कला की सहायता से मंदिर में प्रवेश पा लेगा तो मैं कहे देता हूँ कि उसका और उसकी कविता का प्रवेश नहीं हो सकता। जब कोई स्वस्थचित्त व्यक्ति उन्मत्त से प्रतिद्वंद्विता करता है तो कहीं का नहीं रहता, हवा में उड़ जाता है।"

४. Plato possessed the art to dress up illiberal suggestions in such a way that they deceived future ages.

—A History of Western Philosophy, Russel, B, p. 225.

इसी विचार को कुछ अधिक विस्तार से 'इओन' में भी प्लेटो ने उपस्थापित किया है :

"काव्यदेवी सर्वप्रथम मनुष्यों को स्वयं प्रेरित करती है।......कारण कि सभी अच्छे कवि, चाहे वे महाकाव्य के 'रचयिता' हों अथवा प्रगीत के, अपनी कविता की रचना कला के द्वारा नहीं करते बल्कि इसीलिए करते हैं कि वे अंतःप्रेरित (inspired) और आविष्ट (possessed) होते हैं। प्रगीतकार स्वयं कहते हैं कि एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ती हुई मधुमक्खियों के समान वे अपने गीत काव्यदेवी के उद्यानों तथा गुफाओं से और मधुमय निर्झरों से चुनकर लाते हैं। और यह सत्य है क्योंकि कवि प्रफुल्ल, सपक्ष और निर्मल जीव है और तब तक उसमें कोई नवीन उन्मेष नहीं हो सकता जब तक उसमें अंतःप्रेरणा न जगे, उसका ज्ञान लुप्त न हो, वह आत्मविस्मृत न हो जाए। जब तक वह इस दशा में नहीं पहुंचता तब तक वह शक्तिहीन है और उसकी देव-वाणी मूक।...वे (कवि) किसी के संबंध में, कला के नियमों के अनुसार, कुछ नहीं कहते; वे अंतःप्रेरित या वशीभूत कोई कवि तो रोज स्तोत्र की रचना करता है, कोई वृन्दगान की, कोई महाकाव्य की। इनमें किसी एक में जो अच्छा होता है वह दूसरे में अच्छा नहीं होता। कारण कि वह कला से नहीं बल्कि ईश्वरीय शक्ति से गाता है। यदि उसने कला के नियमों से रचना सीखी होती तो वह एक के बदले सभी विषयों से संबद्ध रचना करना जानता होता (पर ऐसा नहीं होता)। इसीलिए मैं कहता हूं कि ईश्वर कवियों के चित्त को उनसे अलग कर लेता है और अपने अभिकर्ता (agent) के रूप में उनका उपयोग करता है।...इस प्रकार ईश्वर हमें यह दिखाना चाहता है कि ये सुन्दर कविताएं मानवीय नहीं, बल्कि ईश्वरीय निर्मितियां हैं; कवि देवों के केवल व्याख्याता हैं जिनसे वे पृथक्-पृथक् आविष्ट होते हैं। जब बुरे-से-बुरे कवियों के मुंह से ईश्वर ने अच्छे-से-अच्छे गीत गाये तो क्या उसने यही प्रमाणित नहीं किया ?"

इन उद्धरणों के निम्नलिखित निष्कर्ष हैं :

१. कवि उन्मत्त व्यक्ति है। वह काव्य-देवी द्वारा अंतःप्रेरित तथा आविष्ट होकर रचना करता है।
२. कवि की रचना कला के नियमों का नहीं, बल्कि ईश्वरीय प्रेरणा का अनुवर्तन करती है। कवि में तब तक कोई नवीन उन्मेष नहीं हो सकता जब तक अंतःप्रेरणा न जगे। दूसरे शब्दों में कहें कि काव्य-सर्जन के लिए सचेत कलात्मक प्रयास आवश्यक नहीं है।
३. अंतःप्रेरणा की अवस्था में कवि ज्ञानशून्य और आत्मविस्मृत रहता है।
४. काव्यदेवी किसी कवि से जिस विधा की रचना कराना चाहती है, कराती है; उसमें कवि का कोई वश नहीं चलता। इसका अभिप्राय यह कि विधा का चयन भी कवि के अधिकार में नहीं है। कवि की विधा का निर्धारण काव्यदेवी करती है।
५. कवि केवल माध्यम है, वास्तविक रचयिता या गायक स्वयं ईश्वर है।

प्लेटो की उपर्युक्त मान्यताओं में तर्क कम और प्रौढ़ोक्ति अधिक है। काव्य को सोलह आने ईश्वरीय प्रेरणा से प्रसूत कहना और उसमें कवि के सचेत काव्यात्मक प्रयास का कोई योगदान नहीं मानना निश्चय ही अतिवादी दृष्टिकोण है। काव्य को केवल ईश्वरीय प्रेरणा से प्रसूत मानने में कई विप्रतिपत्तियां हैं जो सिद्ध करती हैं कि परम तार्किक भी अपनी बात कहते समय तर्क से पल्ला छुड़ा लेता है।

प्लेटो के अनुसार, कवि की काव्य-चेतना एक बांसुरी है जिसमें स्वर फूंकने का काम ईश्वर करता है अथवा एक वीणा है जिसके तार ईश्वर के स्पर्श से झंकृत हो उठते हैं। बांसुरी या वीणा में संगीत-लहरी उत्पन्न करने की क्षमता तो है किंतु वादक के अभाव में वह मूक, नीरव पड़ी रहती है। यही स्थिति कवि की है। उसमें विद्यमान काव्य-सर्जन की शक्ति तब तक रचना में प्रवृत्त नहीं होती जब तक ईश्वरीय प्रेरणा नहीं होती।

प्रतिवादी पूछ सकता है कि यदि काव्य-सृष्टि के मूल में ईश्वरीय प्रेरणा ही रहती है तो काव्य में गुण-भेद और स्तर-भेद क्यों आता है अर्थात् कोई काव्य उत्कृष्ट और कोई निकृष्ट क्यों होता है ? ईश्वरीय प्रेरणा में उत्कृष्टता-निकृष्टता का आरोप संगत नहीं होगा क्योंकि वह तो भेद-रहित और एकरस होनी चाहिए। अतः मानना पड़ता है कि काव्य-सृष्टि में ईश्वरीय प्रेरणा ही सब कुछ नहीं है; कवि के सचेत कलात्मक योगदान का भी पर्याप्त महत्त्व है। विषय के चयन से लेकर रचना की समाप्ति तक रचयिता का कलात्मक प्रयास जागरूक तथा सक्रिय रहता है और उसी के भेद से रचना की कलात्मक गुणावत्ता में तारतम्य हुआ करता है। यह ठीक है कि काव्य-सृष्टि में प्रेरणा का योगदान अधिसंख्य कवियों और सौंदर्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है; निमित्त उसका चाहे जो भी हो। वस्तुतः प्रेरणा का निमित्त क्या है, यह अनिर्वचनीय ही है। अतः आपत्ति ईश्वर को प्रेरणा का निमित्त मानने में उतनी नहीं, जितनी उसे एकमात्र निमित्त मानने में है।

दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि यदि काव्य-सृष्टि ईश्वरीय प्रेरणा का ही परिणाम है तो प्लेटो उसे वर्जनीय क्यों मानते हैं और अपने आदर्श राज्य से कवि के निष्कासन का प्रस्ताव क्यों करते हैं ? प्लेटो ईश्वर में किसी दोष की कल्पना नहीं करते। होमर की गर्हणा वे इसलिए करते हैं कि होमर ने देवों में काम, क्रोध, लोभ, प्रतिशोध आदि दोषों का वर्णन किया है। यदि देव या ईश्वर निर्दोष हैं तो उनकी प्रेरणा से उत्पन्न काव्य को सदोष, गर्हणीय और त्याज्य बताना विरोधाभास है।

प्लेटो कहते हैं कि ईश्वर कवि-विशेष को काव्य-विशेष की ही प्रेरणा देता है, इसलिए कोई महाकाव्य लिखता है, कोई प्रगीत, कोई नाटक। इस कथन की दो सीमाएं हैं : पहली तो यह कि कवि एक ही प्रकार की रचना सफलतापूर्वक करता है, सही नहीं है। उदाहरणार्थ, कालिदास ने महाकाव्य भी लिखे, प्रगीत भी, नाटक भी और सभी विधाओं में समान सफलता प्राप्त की। यही बात आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर या जयशंकर प्रसाद पर भी लागू है। ऐसे उदाहरण सभी देशों के साहित्यों में मिलते हैं। प्लेटो की मान्यता अपने देश की रचनाओं के संबंध में ठीक

हो सकती है किंतु सार्वभौम सिद्धांत के रूप में इसे स्वीकार करना संभव नहीं है।

कवि के उन्माद, आविष्टता, ज्ञानलोप, आत्मविस्मृति आदि को वाच्य रूप में न ग्रहण कर लाक्षणिक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। न तो कवि को पागलपन का दौरा पड़ता है, न उसपर भूत चढ़ता है, न वह होश-हवास खोता है और न अपनी हस्ती भूलता है। यह सब कहने का अर्थ इतना ही है कि सर्जन के क्षणों में कवि की चित्त-वृत्ति सर्वथा एकाग्र होती है; बाह्य जगत् से उसका लगाव टूटा-सा रहता है; वह एक प्रकार से आत्मलीन हो जाता है। प्लेटो उन्माद, आविष्टता, ज्ञान-लोप आदि के द्वारा इसी एकाग्रता को उजागर करना चाहते हैं।

प्लेटो ने काव्य के तीन प्रमुख भेद स्वीकार किये हैं:

१. अनुकरणात्मक —प्रहसन और दुःखांतक (नाटक)।
२. वर्णनात्मक —डिथिरेंब (प्रगीत)।
३. मिश्र —महाकाव्य (जैसे, होमर के इलियद/ओदेसी)।

यूनान में ये ही तीन भेद प्रचलित थे। प्लेटो ने इनका निर्देश मात्र कर दिया है।

प्लेटो के अनुसार प्रगीत के तीन अंग हैं: शब्द, माधुर्य और लय। इनमें माधुर्य और लय शब्द पर आश्रित रहते हैं। यद्यपि माधुर्य और लय का उल्लेख प्लेटो ने प्रगीत के संदर्भ में ही किया है किंतु ये काव्यमात्र के गुण हैं और इनकी स्थिति काव्य के तीनों भेदों में इष्ट है। प्रगीत का रूप चूंकि छोटा होता है, इसलिए उसमें माधुर्य और लय का प्राधान्य अपेक्षित है अन्यथा काव्य के उत्कर्षापकर्ष के ये दोनों अभिन्न धर्म हैं। हमने देखा है कि संगीत के प्रति प्लेटो का विशेष आग्रह है—इतना आग्रह कि संगीत को उन्होंने शिक्षा में अनिवार्य स्थान दिया है। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि माधुर्य और लय को अर्थात् शब्द-संगीत को वे काव्य का अनिवार्य गुण मानते।

प्लेटो ने माधुर्य और लय का संबंध शैली से माना है और कहा है कि शैलीगत सौंदर्य, सामंजस्य, लालित्य तथा लय—ये सभी सरलता पर निर्भर करते हैं। प्लेटो की दृष्टि में, वह सरलता सरलता नहीं है जो प्रकारांतर से मूढ़ता कही जा सकती है; सच्ची सरलता वह है जिसका संबंध चरित्र से, साथ ही समुचित एवं श्रेष्ठ रूप में व्यवस्थित मन से है। ये गुण काव्य के लिए ही नहीं बल्कि सर्जनात्मक (Creative) तथा रचनात्मक (Constructive) कलाओं—बुनाई, फुलकारी, स्थापत्य आदि के लिए भी अत्यंत उपयोगी हैं।

प्लेटो जो नियमन काव्य के लिए विहित करते हैं, वही अन्य कलाओं के लिए भी। उनका कहना है कि जिस 'शिव' की काव्य से अपेक्षा की जाती है उसकी अन्य कलाओं से भी अपेक्षा की जानी चाहिए। मूर्तिकला, स्थापत्यकला या अन्य कलाओं में भी किसी प्रकार के दोष, असंयम, निकृष्टता और अभद्रता का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। "जो इस नियमन का निर्वाह नहीं करता उसे राज्य से निष्कासित कर देना उचित होगा नहीं तो हमारे नागरिकों की रुचि भ्रष्ट हो जाएगी। हम अपने शासकों को नैतिक विकृति के चित्रणों के बीच विकसित नहीं होने दे सकते। हमारे कलाकार

ऐसे होने चाहिए जिनमें सौंदर्य और लालित्य की सच्ची प्रकृति देखने की क्षमता हो। तभी हमारे युवक स्वस्थ भूमि में, निर्मल दृश्यों तथा मनोहर ध्वनियों के बीच रह सकेंगे और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई देख सकेंगे।''

मूल्यांकन

१. पाश्चात्य आलोचना के इतिहास में प्लेटो का स्थान जितना विशिष्ट है, उतना ही प्रभावी। यों, उनका प्रकृत क्षेत्र था दर्शन और उद्देश्य था आदर्श गणराज्य की स्थापना, किंतु हृदय उन्हें कवि का मिला था और अभिव्यंजना में काव्य की रोचकता तथा मोहकता थी। अतः आलोचक न होने पर भी उनके लेखन में आलोचना के जो संकेत हैं, वे बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं और उन्होंने विधि-निषेध दोनों ही रूपों में उत्तरवर्ती आलोचना को प्रभावित एवं निर्देशित किया है। एक ओर प्लेटो ने काव्य की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगाकर भावी आलोचकों को, जिनमें उनके शिष्य अरस्तू भी हैं, काव्य की पक्षधरता के लिए प्रेरित किया तो दूसरी ओर कला-परक विवेचन को गंभीर दार्शनिक निरूपण का विषय भी बनाया। काव्य एवं कला के स्वरूप, प्रयोजन तथा प्रभाव से संबद्ध अनेक विचारणाओं के प्राचीनतम उद्भावक प्लेटो ही हैं।

२. प्लेटो का कलाविषयक दृष्टिकोण विधेयात्मक या मानकीय (normative) है अर्थात् वे यह बताना चाहते हैं कि कला कैसी होनी चाहिए। इसके विपरीत अरस्तू का दृष्टिकोण वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक है; उदाहरणार्थ, दुःखांतक (ट्रैजेडी) के उपादान क्या हैं, उसके कौन-से भेद होते हैं, आदि विषयों का विवेचन करते हुए अरस्तू कतिपय विशिष्ट कृतियों के गुण-दोषों का परीक्षण भी करते हैं। प्लेटो ऐसा कुछ नहीं करते; वे मानक निर्धारित कर देते हैं और कहते हैं कि रचना ऐसी ही होनी चाहिए। जो रचना उनकी कसौटी पर खरी नहीं उतरती, वह हेय है।

३. प्लेटो के अनुसार साहित्य या कला की महत्ता एवं उत्कृष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें बुद्धि के उन्नयन तथा आत्मा के उत्प्रेरण की कितनी क्षमता है। महान् साहित्य में मनुष्य के नैतिक पक्ष को समृद्ध तथा संतुष्ट करने की शक्ति होनी चाहिए। प्लेटो स्पष्टतः **उपयोगितावादी** और **नैतिकतावादी** हैं। उनकी दृष्टि में वही साहित्य सुंदर है जो सत्य और शिव है; उनके लिए सुंदर, सत्य और शिव पर्याय जैसे हैं। जो सत्य और शिव नहीं है अर्थात् जो समाज के लिए उपयोगी और नैतिक नहीं है, वह साहित्य ग्राह्य भी नहीं है। आनंद और उपदेश, साहित्य के इन दो प्रयोजनों में प्लेटो **उपदेश** को प्राथमिकता देते हैं। उपदेश के बाद यदि आनंद भी मिल जाए तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है पर उपदेश के बाद ही, न उसके पहले, न उसके बिना। इस प्रकार प्लेटो कला और साहित्य का प्रयोजन एवं मूल्य उसकी **सामाजिकता** मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विचार कलावाद का (जो व्यक्तिवाद पर आश्रित है) प्रतिलोम है।

४. कला की अनुकरणमूलकता की उद्भावना का श्रेय प्लेटो को है। प्लेटो से

प्राप्त अनुकरण के सूत्र को उपबृंहित कर अरस्तू ने इसे एक सिद्धांत का रूप दिया जिसकी मान्यता शताब्दियों तक बनी रही।

यहां यह स्मरण रखने की बात है कि प्लेटो ने कला के संदर्भ में अनुकरण शब्द का प्रयोग अपकर्षी (derogatory) अर्थ में ही किया है क्योंकि उनके अनुसार अनुकरण में मिथ्यात्व रहता है और जो भी मिथ्या है, वह हेय है। कहना अनपेक्षित है कि प्लेटो की यह मान्यता भ्रांत है। कला में निहित सर्जनशीलता को प्लेटो नहीं समझ पाते, यह कहना तो शायद उचित न हो, पर उसे स्वीकार तो नहीं ही करते हैं। यदि कला का उद्देश्य केवल अनुकरण होता तो फोटोग्राफ संभवत: चित्रकला का सर्वोत्तम उदाहरण होता क्योंकि वह किसी वस्तु की बिलकुल सही नकल होता है। पर हम जानते हैं कि चित्रकार द्वारा अंकित चित्र और फोटोग्राफर द्वारा लिए गये फोटो में कौन अधिक कलात्मक होता है। प्लेटो की भ्रांति का मूल कारण है कलागत सर्जनशीलता को नजरअंदाज कर देना। वे यह भूल जाते हैं कि कलाकार किसी वस्तु की नकल नहीं करता बल्कि कला के द्वारा उस वस्तु का आदर्शीकरण (idealization) करता है अर्थात् वह वस्तु को केवल वस्तु के रूप में नहीं देखता बल्कि उसे किसी प्रत्यय के प्रकटन (revelation of an idea) के रूप में ही देखता है। वह दूसरों की दृष्टि से वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि उसके आवरण को अपनी प्रतिभा तथा कल्पना से भेद कर प्रत्यय को ही अधिक दीप्त एवं रमणीय बना कर प्रस्तुत करता है।

५. प्लेटो ईश्वरीय प्रेरणा (divine inspiration) को कला-सृष्टि का अनिवार्य साधन मानते हैं। व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि का महत्त्व उनकी दृष्टि में मितांत गौण है। काव्यदेवी के अनुग्रह और प्रसाद से ही कोई कवि उत्कृष्ट काव्य रचने में सफल होता है। यह दिव्य प्रेरणा एक प्रकार का उन्माद है जो सर्जक को पूर्णत: आविष्ट कर लेती है और वह विवश भाव से सर्जन में व्यापृत हो जाता है। कला को ईश्वरीय प्रेरणा से उद्भूत कहकर प्लेटो उसका कोई उत्कर्ष सूचित नहीं करते बल्कि प्रकारांतर से उसे तर्क से निम्नतर सिद्ध करते हैं।

६. दु:खांतकों को देखने से या महाकाव्यांतर्गत त्रासद प्रसंगों को सुनने से द्रष्टा-श्रोता के मन में भाव के उद्वेजन के परिणामस्वरूप जो उद्विग्नता या विह्वलता उत्पन्न होती है, उसे विरेचन (katharsis) का पूर्वाभास माना जा सकता है। अरस्तू के हाथ में पड़कर 'अनुकरण' की तरह 'विरेचन' भी एक सिद्धांत बन गया।

७. प्लेटो को स्वच्छंदतावादी (romantic) आलोचना का प्रवर्तक भी कहा जा सकता है। स्वच्छंदतावाद नियम का बंधन नहीं मानता, वह काव्य या कला से उत्पन्न होने वाले प्रभाव को ही महत्त्व देता है। प्लेटो ने काव्य के प्रभावमात्र पर ही विचार किया है।

८. प्लेटो ने दर्शन और काव्य के शाश्वत विरोध की बात कही है। उनके जैसे दार्शनिक से यह सुनकर आश्चर्य होता है। वस्तुत: दर्शन और काव्यालोचन एक-दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। बिना दार्शनिक भित्ति के काव्यालोचन के सैद्धांतिक पक्ष

का, जिसे पर्यायभेद से सौंदर्यशास्त्र कहते हैं, सम्यक् विवेचन हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आगे चलकर सौंदर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र की शाखा (अवांतर भेद) के रूप में विकसित हुआ। कांट, हेगेल, कोलरिज, क्रोचे आदि यूरोपीय तथा शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि भारतीय दार्शनिकों के विवेचन इसके प्रमाण हैं।

९. प्लेटो के कला-विषयक विवेचन में पर्याप्त पुनरुक्ति है। इसका कारण यह है कि अनेक संवादों (dialogues) में उन्होंने प्रसंगानुसार यह प्रश्न उठाया है और इसका समाधान किया है। संवादों का रचनाकाल दीर्घव्यापी है। स्वभावतः उनमें एकसूत्रता कायम रखना शक्य नहीं हो पाया है। फिर, प्रसंगभेद से भी एक ही प्रश्न अनेक बार उठा है और उसका समाधान उसके अनुरूप करना पड़ा है। इसलिए यह पुनरुक्ति परिस्थिति की अनिवार्यता से उत्पन्न है, लेखक की असमर्थता से नहीं।

१०. प्लेटो की तार्किकता प्रखर, अभिव्यंजना प्रांजल तथा शैली आकर्षक है। उनके व्यक्तित्व के उपादान कवि के हैं और कार्य उन्हें दार्शनिक का करना है। यह विरोधाभास या द्वन्द्व ही उनकी कलाविषयक विप्रतिपत्तियों का मूल है। यों, उनका विरोध भी काव्य के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ है क्योंकि पक्ष-विपक्ष के तर्कों के प्रवाह ने आलोचना की भूमि को उर्वर रखा है। जो व्यक्ति २५०० वर्षों तक चर्चा का विषय बना रहा है, उसकी प्रासंगिकता को प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

अरस्तू (अरिस्तोतिलेस)

[३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०]

अरस्तू (Aristotiles) का जन्म मकदूनिया (Macedonia) के स्तगिरा नामक नगर में ३८४ ई० पू० में हुआ था। उनके पिता सिकंदर के पितामह (अर्मितास) के दरबार में चिकित्सक थे। अतः अरस्तू का लालन-पालन सुसंस्कृत, संपन्न तथा अभिजात वातावरण में हुआ, जिसकी छाप उनके व्यक्तित्व में विद्यमान थी। उन्हें शारीरिक सुख-सुविधा के जैसे अवसर मिले, वैसे ही मानसिक अनुशासन के भी। उनकी मेधा विस्मयजनक थी। इसलिए प्लेटो के विद्यापीठ में जब उनका प्रवेश हुआ (३६६ ई० पू०) तो उनका आभिजात्य तथा प्रतिभा, दोनों चर्चा के विषय बन गये। अरस्तू की मनीषा और विद्याव्यसन से उल्लसित होकर आचार्य प्लेटो ने एक बार कहा कि "मेरे विद्यापीठ के दो भाग हैं—एक है शरीर और दूसरा मस्तिष्क; अन्य सभी छात्र शरीर हैं और अरस्तू मस्तिष्क है।" कहावत है कि बौद्धिक स्तर पर दो यूनानी बिना विवाद के नहीं रह सकते। गुरु और शिष्य, दोनों अलौकिक बौद्धिकता के निदर्शन थे। फिर, वे कैसे इस कहावत के अपवाद हो सकते थे? किंतु इससे उनके पारस्परिक सद्भाव और सौमनस्य में कोई अंतर नहीं आया।

३४७ ई० पू० में प्लेटो के निधन के समय अरस्तू की उम्र ३७ वर्ष की थी। अपने अप्रतिम ज्ञान के आधार पर उन्हें विश्वास था कि विद्यापीठ के आचार्य की गद्दी उन्हें ही मिलेगी किंतु यह विश्वास खंडित हो गया। एथेन्स के विद्यापीठ में मकदूनिया का नागरिक विदेशी कहकर छांट दिया गया, हालांकि मकदूनिया यूनानी गणतंत्र का ही एक राज्य था। (भारतीय नागरिक को इस पर आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि भारतीय गणतंत्र में भी एक राज्य का नागरिक दूसरे राज्य में बहुत कुछ विदेशी ही समझा जाता है।) विद्यापीठ के न्यासियों ने आचार्य-पद पर एथेन्स के ही एक नागरिक को प्रतिष्ठित किया। इससे अरस्तू के आत्मसम्मान को इतनी ठेस लगी कि उन्होंने एथेन्स छोड़ देने का निर्णय कर लिया। संयोग से अनुकूल अवसर मिल भी गया। अरस्तू के सहपाठी 'हेरमियास' एशिया माइनर के शासक हो गये थे। उन्होंने सुशासन के सिद्धांतों से अवगत होने के लिए अरस्तू को आदरपूर्वक अपने यहां बुला लिया। अरस्तू के प्रति हेरमियास के हृदय में असीम स्नेह और सम्मान था। फलतः उन्होंने अपनी भतीजी और दत्तक पुत्री वीथियास का अरस्तू के साथ विवाह कर दिया। दहेज में अरस्तू को प्रचुर धन मिला जिसे वे अपने वैज्ञानिक

अनुसंधानों में खर्च करते रहे। थोड़े दिनों बाद एशिया माइनर पर ईरान का आक्रमण हुआ और युद्ध में हेरमियास मारा गया। अतः अरस्तू को स्थान-परिवर्तन के लिए बाध्य होना पड़ा।

वे मकदूनिया के राजदरबार में लौट आये। वहां के राजा फिलिप ने अपने पुत्र (सिकंदर) की शिक्षा का भार अरस्तू को साग्रह सौंपा। सिकंदर सिंह-शावक के समान उग्र प्रकृति का था; फिर भी, अपने गुरु का आदर करता था। सिकंदर के पिता अरस्तू के अनुसंधान के लिए ३,२०,००,०००/- रुपयों का अनुदान स्वीकृत किया। इस राशि से अरस्तू ने लगभग एक हजार सहायकों को नियुक्त किया जो विभिन्न स्थानों में जाकर उनके अनुसंधानों के लिए सामग्री-संकलन करते थे।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सिकंदर सिंहासनासीन हुआ और अपने विजय-अभियानों में लग गया। अरस्तू में अनुसंधान की ही नहीं, अध्यापन की भी पिपासा थी। इसके लिए मकदूनिया का छल-छंदपूर्ण दरबारी वातावरण उपयुक्त नहीं था। इसलिए अरस्तू फिर एथेन्स चले आये, क्योंकि एथेन्स को अपने युग का सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक-शैक्षिक केंद्र होने का गौरव प्राप्त था। वहां उन्होंने अपना स्वतंत्र विद्यापीठ स्थापित किया। पूर्वाह्न में वे विभिन्न विषयों के प्रगत (advanced) छात्रों को पढ़ाते और अपराह्न में सामान्य नागरिकों के लिए लोकप्रिय भाषण देते।

अरस्तू की मृत्यु ३२२ ई० पू० में हुई। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी संक्षिप्ततम पर युग-प्रवर्तक कृति लिखी और वह है उनका वसीयतनामा जिसके द्वारा उन्होंने अपने सभी दासों को दासता से मुक्त कर दिया। इतिहास में इस वसीयतनामे को दासता की प्रथम मुक्तिघोषणा होने का श्रेय दिया जाता है।

अरस्तू के ज्ञान की व्यापकता के विषय में प्रसिद्धि है कि उनके समय तक यूनान में जो भी सारस्वत प्रगति तथा उपलब्धि हुई थी, वह उन्हें करामलक थी। जिस अधिकार से उन्होंने दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, भाषणशास्त्र आदि पर लेखनी चलायी, उसी अधिकार से भौतिकविज्ञान, जीवविज्ञान, वनस्पितिविज्ञान, मौसमविज्ञान, मनोविज्ञान आदि पर भी। अरस्तू की पूर्ण ज्ञान की परिभाषा थी "ज्ञान की सभी शाखाओं में अबाध गति" और इसे उन्होंने अपने ऊपर चरितार्थ कर रखा था। उनके ग्रंथों की संख्या चार सौ बतायी जाती है। उनमें बहुत सारे आज उपलब्ध नहीं हैं।

अरस्तू के काव्यशास्त्र का यूनानी नाम है 'पेरि पोइएतिकेस' जिसका अंग्रेजी रूपांतर है 'ऑन पोएटिक्स' किंतु वह केवल 'पोएटिक्स' नाम से प्रसिद्ध है। अनुमान किया जाता है कि इसकी रचना ३३० ई० पू० के आसपास हुई होगी। 'पोएटिक्स' का प्राचीनतम यूनानी पाठ १,००० ई० के लगभग का उपलब्ध है। बात यह है कि एथेन्स के राजनीतिक पतन के बाद वहां के विद्यापीठों का महत्त्व भी क्षीण हो गया और ज्ञान, विज्ञान, कला आदि की कृतियां, उपेक्षित होने के कारण, या तो विनष्ट हो गयीं या विस्मृत हो गयीं। संयोग से शताब्दियों के अनंतर किसी कलाकृति का उद्धार हुआ; बहुतों का नहीं ही हुआ। जो स्थिति प्राचीन भारतीय ज्ञान-संपदा की

है, वही बहुत कुछ यूनानी की भी है। इसे सुदैव ही कहेंगे कि १,००० वर्षों के बाद 'पेरि पोइएतिकेस' विस्मृति के गर्भ से निकलकर विद्वानों के समक्ष आया। १४६८ ई० में वाल्ला (Valla) नामक एक इतालवी मनीषी ने इसका लैटिन में अनुवाद किया। जर्मनी और फ्रांस में अनेक अनुवादों के प्रकाशन के बाद टी० विन्स्टैन्ली की पहली अंग्रेजी व्याख्या ऑक्सफोर्ड से १७८० ई० में प्रकाशित हुई। अब अंग्रेजी में इसके अनेक अनुवाद और व्याख्याएं सुलभ हैं, जिनमें एस० एच० बुचर (१८६४) तथा इन्ग्रैम बाइवाटर (१८६८) के अनुवाद अधिक प्रामाणिक तथा प्रसिद्ध हैं।

'पेरि पोइएतिकेस' प्रायः पचास पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक है जिसमें छब्बीस अध्याय हैं। कुछ अध्याय एक पृष्ठ के भी नहीं हैं; दसवां अध्याय केवल बारह पंक्तियों का है। पुस्तक की आकृति तथा विषयों की संक्षिप्त विवेचन-पद्धति से ऐसी धारणा उत्पन्न होती है कि या तो अध्यापन के लिए स्वयं अरस्तू द्वारा तैयार किया गया अथवा अध्यापन के क्रम में उनके किसी छात्र द्वारा लिया गया यह 'नोट' है। इसके अधूरे और खंडित रूप से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ, 'विरेचन' (katharsis) जैसे महत्त्वपूर्ण विषय का भी इसमें निरूपण नहीं है हालांकि अपने 'राजनीतिशास्त्र' में अरस्तू ने स्पष्ट कहा है कि विरेचन का विशद निरूपण वे काव्यशास्त्र में करेंगे। इस अपूर्ण, खंडित तथा अतिसंक्षिप्त कृति में भी कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है जो आज तक इसे जीवित ही नहीं, उपजीव्य भी रखे हुआ है।

अरस्तू के अध्येता को स्मरण रखना चाहिए कि मूलतः वे वैज्ञानिक, तार्किक तथा दार्शनिक हैं। अतः विश्लेषण और युक्ति उनके विषय-निरूपण के अनिवार्य उपकरण हैं। वे किसी वस्तु का पहले तटस्थ दृष्टि से सम्यक् निरीक्षण-परीक्षण करते हैं, फिर विवेचन या निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। अतः उनके व्यापक सिद्धांतों से निरपेक्ष होकर उनके लेखन का समुचित बोध संभव नहीं है।

अरस्तू की मान्यता है कि किसी वस्तु को ठीक से समझने के लिए उसके प्रयोजन, उपादानकारण, निमित्तकारण और तत्त्व, इन चार बातों[1] पर ध्यान देना आवश्यक है। किसी भी वस्तु के निर्माण का प्रश्न तब तक नहीं उठता जब तक उसका कोई **प्रयोजन** न हो। उदाहरणार्थ, घड़ा यों ही नहीं बनता। जल रखने के प्रयोजन की पूर्ति के लिए घड़े की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए घड़े का निर्माण उसके प्रयोजन के ज्ञान पर निर्भर करता है। किंतु ज्ञान मात्र से घड़ा नहीं बन जाता; इसके लिए मिट्टी की जरूरत होती है जो उसका **उपादानकारण** है। यदि घड़े को ठीक से जानना है तो मिट्टी (उपादान) को भी जानना जरूरी है। पर मिट्टी अपने-आप घड़े का रूप नहीं धारण कर लेती। इसके लिए चाक, कुम्हार आदि अपेक्षित हैं जो घड़े के निष्पादक अथवा **निमित्तकारण** हैं। अगर ये न हों तो मिट्टी मिट्टी ही रह जाएगी। किंतु चाक या कुम्हार का होना ही पर्याप्त नहीं है। कुम्हार को घड़े के **तत्त्व** (एसेन्स) का भी ज्ञान होना चाहिए अर्थात् घड़ा है क्या ? जब तक वह इस तत्त्व

१. On the Generation of Animals; The Great Books of the Western World; Aristotle II. p. 255.

(घटत्व) से परिचित नहीं होगा तब तक घड़े का निर्माण नहीं कर पाएगा। तत्त्व में वह सब कुछ आ जाता है, जिससे घड़ा घड़ा कहलाता है अर्थात् उसकी आकृति, प्रकृति, धारणा आदि। घड़े के तत्त्व का ज्ञान केवल बनाने वाले के लिए ही नहीं, खरीदने वाले और काम में लाने वाले के लिए भी जरूरी है। घड़ा खरीदते समय उसे ठोक-बजा कर देखना होता है कि कहीं फूटा तो नहीं है या कच्चा तो नहीं है। तात्पर्य कि **प्रयोजन, उपादान, निमित्त** और **तत्त्व**, इन चारों के सम्यक् ज्ञान के बिना घड़े का निर्भ्रांत विवेचन संभव नहीं है। इस निकष को अरस्तू सर्वत्र काम में लाते हैं। पोएटिक्स (काव्यशास्त्र) में भी उन्होंने काव्य के प्रयोजन, उपादान, निमित्त और तत्त्व के निरूपण की प्रतिज्ञा की है।

अरस्तू यह भी मानकर चलते हैं कि उनका पाठक उनकी अन्य कृतियों से अवगत है। इसलिए पाठक को उनके 'काव्यशास्त्र' में चर्चित किसी संकेत या कथन का स्पष्टीकरण राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, भौतिकविज्ञान आदि से करना होता है। उदाहरणार्थ, काव्यशास्त्र में विरेचन का नामोल्लेख मात्र है किंतु उसका थोड़ा स्पष्टीकरण राजनीतिशास्त्र (खंड ८, अध्याय ७) में मिलता है। इसी तरह काव्य और कला से संबद्ध अनेक अवधारणाओं की चर्चा भौतिकविज्ञान, तत्त्वमीमांसा, आचारशास्त्र आदि में प्राप्त होती है। 'कला प्रकृति का अनुकरण करती है' (Art imitates nature), यह प्रसिद्ध उक्ति अरस्तू के काव्यशास्त्र में नहीं, भौतिक-विज्ञान (खंड २, अध्याय २) में है। तात्पर्य कि अरस्तू की कृतियों की पारस्परिक संबद्धता और सापेक्षता को ध्यान में रखना आवश्यक है, नहीं तो विषय के ग्रहण में बाधा पड़ सकती है, भ्रांतियां हो सकती हैं।

अरस्तू की कृतियां यूनानी (ग्रीक) भाषा में हैं। यूनानी भाषा के बहुत सारे शब्दों की अर्थवत्ता या अर्थच्छटा अंग्रेजी में यथावत् व्यक्त नहीं हो पाती। उदाहरणार्थ, यूनानी का 'मिमेसिस' (mimesis) शब्द ही ले लें। इसका प्रचलित अंगेजी अनुवाद है 'इमिटेशन' पर 'इमिटेशन' से 'मिमेसिस' का पूरा अर्थ व्यक्त नहीं होता। संस्कृत के एक उदाहरण से बात साफ हो जाएगी। संस्कृत के 'रस' और 'ध्वनि' के लिए अंग्रेजी में क्रमशः 'सेंटिमेंट' (sentiment) और 'सजेश्चन' (suggestion) का प्रयोग होता है किंतु कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों अंग्रेजी रूपांतर मूल के अर्थ से काफी दूर हैं। जो केवल अंग्रेजी के द्वारा 'रस' और 'ध्वनि' को समझना चाहेगा, वह इनके मर्म तक नहीं पहुंच सकता। भाषा-भेद की इस सीमा को स्वीकार करके ही अरस्तू का अध्ययन किया जा सकता है।

यूनानी साहित्य से अनभिज्ञ पाठक को एक और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अपने मत या कथन को स्पष्ट करने के लिए अरस्तू अपेक्षित उदाहरण होमर, क्लिओफ़ोन, हेगेमोन, निकोखारेस, सोफ़ोक्लेस, एउरिपिदेस, अरिस्तोफ़ेनेस, एस्खिलुस आदि यूनानी रचनाकारों से देते हैं। अंग्रेजी या हिंदी के अधिसंख्य पाठक इनकी रचनाओं से अपरिचित हैं। अतः विषय जितना स्पष्ट होना चाहिए—उतना नहीं हो पाता। सिद्धांत पक्ष तो स्पष्ट हो जाता है पर विनियोग धूमिल रह जाता है।

एक सीमा स्वयं अरस्तू की भी है। उनका 'काव्यशास्त्र' एक देश (यूनान) और एक भाषा (यूनानी) की रचनाओं के आधार पर प्रणीत है। यूनान के विद्वान् श्रेष्ठता-ग्रंथि से इतने ग्रस्त थे कि अन्य भाषाभाषियों को बर्बर समझते थे और उनके साहित्य के अध्ययन से परहेज करते थे। अरस्तू भी इस ग्रंथि से मुक्त नहीं थे। इस लिए उनका काव्यशास्त्रीय विवेचन देश और काल की सीमाओं से आबद्ध है। उसे सार्वदेशिक और सार्वकालिक मानना गलत होगा। वह यूरोप के भी साहित्यों पर पूर्णत: चरितार्थ नहीं होता; उदाहरणार्थ, दु:खांतक (ट्रैजेडी) संबंधी उनकी मान्यताएं शेक्सपियर के ही दु:खांतकों पर घटित नहीं होतीं।

अरस्तू के अध्ययन में एक सीमा परिस्थिति की भी है। 'काव्यशास्त्र' जैसी लघुकाय पुस्तक पर विभिन्न देशों और कालों में जितना लिखा गया है, उसका सही लेखा-जोखा असंभव नहीं तो अत्यंत दुष्कर अवश्य है। इस पुस्तक की व्याख्या के नाम पर हजारों-हजार पन्ने रंगे गये हैं लेकिन व्याख्याकारों ने प्राय: अरस्तू को अरस्तू के रूप में प्रस्तुत करने के बदले स्वयं अरस्तू का मुखौटा पहन लिया है। व्याख्याकारों की भीड़ में अरस्तू खो गये हैं; हर आदमी अपने को ही अरस्तू बता रहा है, अर्थात् अपने कलागत विचारों को अरस्तू पर आरोपित कर रहा है। यह दु:स्थिति प्रत्येक महनीय व्यक्ति और कृति का भागधेय है। धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक संप्रदाय ऐसे ही बना करते हैं। नाम पकड़े रहो; काम चाहे जो करो! बादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र' से अद्वैतवाद, विशिष्टताद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि अनेक मतवाद फूट पड़े और सभी आचार्यों ने कहा कि केवल मेरी ही व्याख्या ब्रह्मसूत्र की वास्तविक व्याख्या है। भरत के रस-सूत्र की भी यही दशा हुई। उनका क्या अभिमत था, यह तो वे ही जानें किंतु लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने अपने-अपने अभिमत को ही भरत का अभिमत सिद्ध करने का प्रयास किया। बुचर का कहना है कि अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' के आधार पर अनेक ऐसे सौंदर्य-विषयक प्रश्न उठाये गये हैं जो अरस्तू के मस्तिष्क में आये भी नहीं होंगे और प्राय: ऐसे सभी प्रश्नों के निश्चित उत्तर भी अरस्तू की कृतियों से उनके प्रशंसकों के अविवेकपूर्ण उत्साह द्वारा खींच निकाले गये[२] हैं।

अरस्तू के अभिप्रायों में मतभेद का एक और कारण है और वह है 'काव्यशास्त्र' का अपूर्ण, खंडित एवं संक्षिप्त रूप। विस्तार और सामंजस्य के अभाव में संकेतात्मक उक्तियों की अनेकार्थता दुर्निवार हो जाती है। इसके लिए सदा व्याख्याकारों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

'काव्याशास्त्र' की रचना के मूल में अरस्तू के दो उद्देश्य रहे हैं: एक तो अपनी दृष्टि से यूनानी काव्य का वस्तुगत विवेचन-विश्लेषण; दूसरा, अपने गुरु प्लेटो द्वारा काव्य पर किये गये आक्षेपों का समाधान। किंतु इस प्रसंग में अरस्तू ने न तो कहीं

२. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p. 114.
इस पुस्तक में सभी उद्धरण बुचर के सस्करण से हैं। आगे इस पुस्तक का निर्देश ATPFA के संक्षिप्त संकेत से होगा।

प्लेटो का नाम लिया है, न खंडनात्मक तेवर अपनाया है और न गुरु के विचारों की तुलना में अपने विचारों को श्रेष्ठ ठहराने की अशालीनता प्रदर्शित की है। जिसने प्लेटो का अध्ययन नहीं किया हो, उसे यह भान भी नहीं होगा कि 'काव्यशास्त्र' में कहीं प्लेटो का प्रत्याख्यान भी है। प्लेटो के एक-एक आक्षेप का अरस्तू ने समाधान किया है, पर बड़े ही संयत और तटस्थ ढंग से।

अध्यायानुसार 'काव्यशास्त्र' में निरूपित विषयों की तालिका इस प्रकार है :

अध्याय	विषय
१-५	अनुकरणात्मक काव्य के रूप में दुःखांतक (ट्रैजेडी), महाकाव्य (एपिक) तथा प्रहसन (कॉमेडी) की चर्चा। माध्यम, विषय और पद्धति के आधार पर इनका पारिस्परिक भेद।
६-१९	दुःखांतक का सविस्तर विवेचन। ग्रंथ का मुख्य भाग यही है। इसमें दुःखांतक की परिभाषा, संरचना, प्रभाव आदि का वर्णन है।
२०	पद-विभाग आदि का व्याकरणिक विवरण।
२१-२२	पद-योजना और लक्षणा का निरूपश।
२३-२४	महाकाव्य का विवेचन।
२५	काव्य पर किये गये आक्षेपों का निराकरण।
२६	महाकाव्य और दुःखांतक का तुलनात्मक मूल्यांकन।
	इनमें अध्याय संख्या १२ और २० प्रक्षिप्त माने जाते हैं।

'काव्यशास्त्र' नाम से पाठक के मन में धारणा बंधती है कि इसमें काव्य का सांगोपांग विवेचन होगा किंतु निरूपित विषयों की उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य काव्यमात्र का विवेचन नहीं, बल्कि मुख्यतः दुःखांतक का विवेचन है। अन्य विषयों का स्पर्श या तो दुःखातक के अंग के रूप में है या दुःखांतक की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए। इसके कई कारण हो सकते हैं। (१) संभव है, अरस्तू ने काव्य की अन्य विधाओं पर भी लिखा हो जो नष्ट हो गया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि काव्यशास्त्र का एक दूसरा भाग भी था। (२) काव्य पर प्लेटो के आक्षेप का मुख्य आधार दुःखांतक था। उनका विश्वास था कि दुःखांतक भावों को उद्दीप्त कर मनुष्य को निर्बल बनाता है और उसके विवेक को क्षीण करता है, इसलिए अवांछनीय है। अरस्तू को इस धारणा का निराकरण करना था। चूंकि प्लेटो का आक्षेप प्रधानतः दुःखांतक पर था, अतः अरस्तू ने अपने विवेचन में उसी को प्रधानता दी। (३) अरस्तू के समय तक दुःखांतक इतनी विकसित, प्रौढ़ और लोकप्रिय विधा के रूप में स्थापित हो गया था कि उसका विस्तृत विवेचन अपेक्षित था। (४) अरस्तू की अपनी रुचि भी दुःखांतक के पक्ष में रही हो सकती है। प्रहसन को जिस उपेक्षा-भाव से उन्होंने चलता कर दिया है, उससे इसकी पुष्टि होती है। उनके लेखन से भी उनकी प्रकृति की गंभीरता का पता चलता है। उनकी प्रतिपादनशैली बिलकुल सीधी, सपाट है। नदी के शांत, मंथर प्रवाह की तरह उनकी भाषा का प्रवाह एकरस और वस्तुपरक है। (५) दुःखांतक के प्रति अरस्तू के झुकाव का एक और कारण प्रतीत होता है। प्लेटो की

आलोचना के प्रसंग में हमने देखा है कि स्पार्टा के साथ चल रहे युद्ध में एथेन्स की पराजय (४०४ ई० पू०) के परिणामस्वरूप उसका राजनीतिक प्रभुत्व और प्रभाव समाप्त हो गया। प्लेटो इस युद्ध के द्रष्टा ही नहीं, युद्धजनित अवमाननाओं तथा यातनाओं के भोक्ता भी रह चुके थे। इसलिए राष्ट्र की राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के रचनात्मक समाधान की तथा शूरता-वीरता के संवर्धन की उनमें आकुल आकांक्षा थी। अरस्तू का जन्म युद्ध की समाप्ति के बीस वर्षों के बाद (३८४ ई० पू० में) हुआ। उनके होश संभालने तक समस्याएं समाहित हो चुकी होंगी और पराजय के दंश की तीव्रता भी बहुत कुछ मिट चुकी होगी। प्लेटो ने जिस परिस्थिति में दुःखांतक का प्रत्याख्यान किया था, वह परिस्थिति अरस्तू के समय तक बदल गयी थी। इसलिए शुद्ध साहित्यिक तथा वस्तुगत दृष्टि से दुःखांतक का विश्लेषण जितना अरस्तू के लिए संभव था, उतना प्लेटो के लिए नहीं। जो भी हो, आलोचना के इतिहास की अपेक्षा तो यही है कि अरस्तू ने जैसा दुःखांतक का विश्लेषण किया, वैसा ही काव्य की अन्य विधाओं का भी किया होता।

अरस्तू की काव्य-विषयक मान्यताएं

काव्यशास्त्र का आरंभ करते हुए अरस्तू कहते हैं : "काव्य के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत केवल काव्य पर ही नहीं, वल्कि काव्य के विविध भेदों, उनके विशिष्ट प्रयोजनों, कथानक की संरचना, उसके घटक खंडों की संख्या, प्रकृति या इनसे संबद्ध अन्य विषयों पर भी मैं विचार करना चाहता हूं।"

यह प्रतिज्ञा बहुत ही आशा और उत्साह जगाने वाली है किंतु इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाया है। पहले हमने देखा है कि अरस्तू किसी विषय का प्रतिपादन प्रयोजन, उपादान, निमित्त तथा तत्त्व के आधार पर करना चाहते हैं। इनका यथासंभव उपयोग काव्यशास्त्र में भी हुआ है।

अरस्तू के अनुसार महाकाव्य (epic) दुःखांतक (tragedy) प्रहसन (comedy), रौद्रस्तोत्र (dythiramb) तथा वंशी एवं वीणा के लिए रचित अधिकतर संगीत साधारणतः अनुकरण (imitation) या प्रतिरूपण (representation) के ही प्रकार हैं। फिर भी इनमें भेद है और वह है अनुकरण के **माध्यम** (medium), **विषय** (object) तथा **पद्धति** (manner or mode) के भेद के कारण। उदाहरणार्थ, कहीं तो अनुकरण का **माध्यम** रूप और रंग होते हैं, जैसे चित्र में; कहीं केवल लय, जैसे नृत्य में; कहीं लय, भाषा और सामंजस्य (harmony), जैसे काव्य में। इनका प्रयोग अलग-अलग भी हो सकता है और मिश्रित भी। उदाहरणार्थ, वंशी और वीणा के संगीत में लय और सामंजस्य का योग रहता है और काव्य में भाषा भी आ मिलती है।

अरस्तू काव्य के लिए छंद को अनिवार्य नहीं मानते। उनका कहना है कि काव्यत्व का निर्धारक यदि छंद होता तो होमर और एम्पेदोक्लेस, दोनों कवि कहलाते क्योंकि दोनों की रचनाएं छंदोबद्ध हैं किंतु होमर कवि हैं और छंद का प्रयोग करने

पर भी एम्पेदोक्लेस भौतिकविज्ञानी हैं। इसलिए कोई रचना गद्य में है या पद्य में, यह प्रश्न काव्यत्व के विचार के प्रसंग में महत्त्वहीन है। देखना यह है कि रचना का प्रयोजन क्या है। प्रयोजन यदि आनंद है तो वह काव्य है और यदि सूचना या ज्ञान-मात्र है तो वह अकाव्य है। संस्कृत साहित्य पर ध्यान दें तो यह कथन स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत में धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, इतिहास आदि के ग्रंथ पद्य में ही हैं किंतु उनकी गणना काव्य में कभी नहीं हुई। इसके विपरीत गद्य में रचना करने पर भी सुवंधु, वाणभट्ट, दंडी आदि उत्कृष्ट कवि माने गये क्योंकि उनका लक्ष्य आनंद था, ज्ञान नहीं। तात्पर्य कि **माध्यम** कला का साधक तो है पर अंशतः ही।

अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का **विषय** 'कार्यरत मनुष्य' (men in action) हैं। मनुष्य या तो उच्चतर हो सकते हैं या निम्नतर या दोनों के बीच के। उच्चता और निम्नता के निर्धारण का आधार नैतिक है। जिनका आचरण सत् है, वे उच्च और जिनका असत् है, वे निम्न। अतः मनुष्यों का चित्रण तीन प्रकार से संभव है: **श्रेष्ठतर, निम्नतर** अथवा **यथावत्**। इनमें **श्रेष्ठतर** मनुष्यों का चित्रण **दुःखांतक** में होता है और **निम्नतर** मनुष्यों का **प्रहसन** में। वस्तुतः दुःखांतक और प्रहसन का भेद उनमें चित्रित मनुष्यों को लेकर ही है।

तीसरा भेद है अनुकरण की **पद्धति** का। पद्धति या तो आख्यानात्मक (narrative) हो सकती है, जिसमें कवि कथानक का वर्णन करता है; या नाटकीय (dramatic), जिसमें जीते-जागते पात्र कार्य-व्यापार में निरत दिखाये जाते हैं; या फिर, आख्यान और नाटक की मिश्रित पद्धति का भी उपयोग किया जा सकता है। होमर के महाकाव्यों में इसी पद्धति का उपयोग हुआ है।

निष्कर्षतः कलाओं के भेदक तत्त्व तीन हैं: **माध्यम, विषय** और **पद्धति**। इन्हीं के भेद से कलाओं में भेद हुआ करता है।

काव्य की उत्पत्ति

अरस्तू काव्य की उत्पत्ति दो कारणों से मानते हैं। ये कारण हमारी प्रकृति में विद्यमान हैं। पहला कारण है **अनुकरण** की सहज प्रवृत्ति जो वचपन से ही हम में रहती है। दूसरे पशुओं की तुलना में अनुकरण की प्रवृत्ति और शक्ति मनुष्य में अधिक है। अनुकरण की सहायता से ही वह प्रारंभिक ज्ञान अर्जित करता है। भाषा इसका सबसे अच्छा उदाहरण है जो अनुकरण के द्वारा ही सीखी जाती है। अनुकरण कुछ सीखने में तो सहायक है ही, अनुकृत वस्तुओं को देखकर **आनंद** भी प्राप्त होता है। 'कैरिकेचर' का आनंद तो अनुकरण का ही आनंद है। कुछ पदार्थ, जैसे अनेक जीवजंतु, देखने में विद्रूप या जुगुप्सित प्रतीत होते हैं परन्तु उन्हीं का यथावत् चित्रण हममें आनंद उत्पन्न करता और उन्हें देखकर हम कह उठते हैं कि "अरे, यह तो विलकुल वही है!" संयोग से यदि किसी ने मूल वस्तु नहीं देखी है तो संभव है उसे अनुकृति-जन्य आनंद की उतनी अनुभूति न हो पर रूप, रंग या

चित्रण के कौशल का तो आनंद उसे भी मिलता ही है।

अनुकरण के ही समान हममें एक दूसरी सहज वृत्ति भी है और वह है सामंजस्य (harmony) और लय (rhythm) की (लय में छंद भी गतार्थ है)। सभ्यता के शैशव-काल में जो लोग सामंजस्य और लय की नैसर्गिक प्रतिभा से संपन्न थे, उन्होंने उसे क्रमशः विकसित किया और बाद में उनकी अनगढ़ रचनाओं से ही काव्य की उत्पत्ति हुई।

आगे चलकर लेखकों के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य दो दिशाओं में विभक्त हो गया। गंभीर प्रकृति के लेखकों ने सज्जनों के उदात्त कार्यव्यापारों का अनुकरण किया; हलकी प्रकृति के लेखकों ने निम्न व्यक्तियों के हीन कार्यव्यापारों का अनुकरण किया। इसलिए जहां प्रथम वर्ग के लेखकों ने देव-सूक्त तथा प्रसिद्ध जनों की प्रशस्तियां लिखीं, वहां द्वितीय वर्ग के लेखकों ने व्यंग्य काव्य लिखे।

दुःखांतक का विवेचन

परिभाषा

अरस्तू के द्वारा निर्मित और आलोचना के इतिहास में बहुचर्चित दुःखांतक की परिभाषा इस प्रकार है :

"दुःखांतक ऐसे कार्यव्यापार का अनुकरण है जो गंभीर, पूर्ण तथा कुछ विस्तृत हो; जिसकी भाषा, रचना के विभिन्न भागों में, पृथक्-पृथक् वर्तमान प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकरणों से विभूषित हो; जो कार्यव्यापार के रूप में हो, आख्यान के रूप में नहीं; जो करुणा और भय को उद्‌बुद्ध कर इन भावों का उचित विरेचन करे।"[३] "'विभूषित भाषा' से मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जो लय, सामंजस्य तथा गीत से समन्वित हो। 'विभिन्न भागों में पृथक्-पृथक्' से मेरा तात्पर्य है कि कहीं तो केवल पद्य का प्रयोग हो और कहीं गीत का।"

इसे परिभाषा न कह कर स्वरूप-निरूपण कहना अधिक अच्छा होगा क्योंकि परिभाषा में जो कसावट होनी चाहिए वह इसमें नहीं है। यों, दुःखांतक के सभी तत्त्व इसमें आ गये हैं। स्पष्टता के लिए इसका विश्लेषण कर लें :

१. दुःखांतक (ट्रैजेडी) कार्यव्यापार का अनुकरण है।
२. कार्यव्यापार गंभीर, पूर्ण और विस्तृत होता है।
३. कार्यव्यापार अभिनेय होता है, वर्ण्य नहीं।
४. भाषा लय, सामंजस्य, गीत आदि से समन्वित होती है।
५. कार्यव्यापार करुणा और भय को उद्‌बुद्ध कर इन भावों का विरेचन करता है।

३. Tragedy is an imitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions.—ATPEA, p. 23.

इस परिभाषा में **कार्यव्यापार**, **अनुकरण**, तथा **विरेचन**, ये तीनों शब्द व्याख्या-सापेक्ष हैं। इनकी व्याख्या आगे की जाएगी।

दु:खांतक के अंग

दु:खांतक के छह अंग हैं : १. कथानक (Plot); २. चरित्र (Character); ३. विचार (Thought); ४. पदयोजना (Diction); ५. गीत (Song); ६. दृश्य (Spectacle)[४]। इनमें कथानक, चरित्र और विचार अनुकरण के **विषय** हैं; पदयोजना तथा गीत अनुकरण के **माध्यम** हैं; दृश्य अनुकरण की **पद्धति** या **प्रणाली** है।

१. कथानक—दु:खांतक के छहों अंगों में अरस्तू कथानक को प्रमुखतम मानते हैं। उनके अनुसार, कथानक का अर्थ केवल कथा या कहानी नहीं है बल्कि **घटनाओं की संरचना** (structure of the incidents) है। घटनाओं को जैसे-तैसे रख देने से कथानक नहीं बन जाता। उनकी पूर्वापर-योजना में क्रम, व्यवस्था एव संगति होनी चाहिए, जिससे अभीष्ट प्रभाव सहज रूप में उत्पन्न हो। जैसे फलक पर विभिन्न रंगों को रख देने मात्र से चित्र नहीं बन जाता; उनके विन्यास और चित्रण में क्रम, व्यवस्था और सामंजस्य से काम लेना पड़ता है, तभी चित्र बनता है और सजीव तथा आकर्षक होता है, वैसे ही घटनाओं की योजना में भी कल्पना और कौशल अपेक्षित हैं। इस-लिए कथानक से तात्पर्य **घटनाओं की कलात्मक संरचना** से है, केवल कथा से नहीं।

"दु खांतक" किसी व्यक्ति का नहीं, उसके **कार्यव्यापार** का अनुकरण है। चरित्र में भी कार्यव्यापार ही प्रमुख है। यों, चरित्र में गुण भी होते हैं किंतु मनुष्य को सुख-दु:ख अपने कार्यों के फलस्वरूप ही हुआ करते हैं। गुण तो निष्क्रिय धर्म हैं, इसलिए वे अपने आप में सुख-दु:ख के जनक नहीं हैं; उनके अनुरूप किये गये कार्य ही सुख-दु:ख के जनक बनते हैं। अत: अरस्तू का कहना है कि नाटकीय कार्य-व्यापार का उद्देश्य चरित्रों का प्रतिरूपण (representation) नहीं है क्योंकि चरित्रों का स्थान तो गौण है। प्रमुखता केवल सुनियोजित घटनाओं अर्थात् **कथानक** की है। वही दु खांतक का प्राण है। कथानक का महत्त्व प्रतिपादित करने के उत्साह में अरस्तू यहां तक कह देते हैं कि "चरित्र के अभाव में दु:खांतक हो सकता है किंतु कथानक के अभाव नहीं हो सकता।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कथन एकांगी और प्रत्यक्ष-विरोधी है। शेक्सपियर, इब्सेन, चेखव, बर्नर्ड शॉ आदि के अनेक दु:खांतकों में कथानक एकदम गौण है; नाटक का सारा प्रभाव चरित्रों में केंद्रित है। आधुनिक नाटक ही नहीं, कहानी-उपन्यास आदि भी चरित्र-प्रधान बन गये हैं और कथानक का महत्त्व क्षीण हो गया है। बात यह है कि अरस्तू के सामने केवल यूनानी दु:खांतक थे जो

४. अरस्तू ने अंगों का क्रम इस रूप में रखा है : कथानक, चरित्र, पदयोजना, विचार, दृश्य, गीत।

घटना-प्रधान थे। इसलिए उनकी दृष्टि में घटना का महत्त्व स्वाभाविक था। जॉन ड्राइडेन (१६३१-१७००) ने ठीक ही कहा है कि यदि अरस्तू के सामने चरित्र-प्रधान दुःखांतक होते तो वे कथानक या घटना को इतना महत्त्व नहीं देते। अरस्तू की इस एकांगी धारणा में भी एक सारवान् सिद्धांत ध्यान देने योग्य है। वे केवल कथांश को महत्त्व नहीं देते; कथा की अर्थात् **घटना-शृंखला की कलात्मक योजना** को महत्त्व देते हैं। अरस्तू के अनुसार, परस्पर-असंबद्ध घटनाएं कथानक नहीं कहला सकतीं; उनमें कार्य-कारण-भाव संबंध होना चाहिए अर्थात् एक घटना ये दूसरी घटना युक्ति-युक्त या सहज रूप में उत्पन्न होनी चाहिए।

दुःखांतक को दो चीजें अधिक रोचक और आकर्षक बनाती हैं: **स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान**। स्थिति-विपर्यय को अरस्तू ने परिपेतेइआ (peripeteia) कहा है जिसका अंग्रेजी रूपांतर reversal of the situation है और अभिज्ञान को अनग्नोरिसिस (anagnorisis), जिसका अंग्रेजी रूपांतर, recognition है। इनकी व्याख्या आगे है।

कथानक के लिए अरस्तू ने तीन विशेषण रखे हैं: **गंभीर, पूर्ण** तथा कुछ विस्तृत (serious, complete and of cartain magnitude)। **'गंभीर'** विशेषण प्रहसन से दुःखांतक का भेद प्रदर्शित करने के लिए है। प्रहसन का कथानक अंगभीर अर्थात् हास्य-जनक होता है; दुःखांतक का गंभीर, क्योंकि उससे करुणा और भय का उद्बोध अभीष्ट होता है। **'पूर्ण'** कथानक वह है जिसमें **आदि, मध्य और अवसान** हों। कथानक कहीं से आरंभ हो जाए, कहीं समाप्त हो जाए, उसमें कोई क्रम न हो तो वह दुःखांतक के योग्य नहीं माना जा सकता। इसलिए सुनियोजित कथानक में आदि, मध्य और अवसान की धारणा स्पष्ट होनी चाहिए। **'विस्तृत'** की व्याख्या के प्रसंग में अरस्तू एक महत्त्वपूर्ण सौंदर्य-सिद्धांत का संकेत करते हैं। **अनुपात सौंदर्य** की पहली शर्त है। मान लीजिए कि कोई चीज वहुत बड़ी—एक हजार कि० मी० लंबी—है तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष ही नहीं होगा और जब तक प्रत्यक्ष नहीं, तब तक सौंदर्य का बोध कैसे संभव है? इसके विपरीत यदि कोई चीज अत्यंत छोटी हो तो उसका भी प्रत्यक्ष दुष्कर है। आज तक चींटी या मच्छड़ का सौंदर्य-वर्णन किसी ने नहीं किया। तात्पर्य कि अनुपातहीन विशालता और लघुता, दोनों ही सौंदर्य की दृष्टि से अनुपादेय हैं। न तो उनका सम्यक् प्रत्यक्ष हो सकता है और न उनके अंगों की अन्विति का बोध। दूसरी चीज यह है कि अनुपात 'पूर्ण' में ही नहीं, उनके खंडों अर्थात् घटकों में भी होना चाहिए। सच तो यह है कि जब तक खंड या घटक आनुपातिक नही होंगे, तब तक 'पूर्ण' आनुपातिक हो ही नहीं सकता क्योंकि वह तो खंडों का ही संघात है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि खंडों का विन्यास समंजस हो। खंड आनुपातिक हों ही और जोड़े ठीक से न जाएं तो भी बात नहीं बनती। इसलिए अरस्तू बल देकर कहते हैं कि कथानक का **विस्तार, आनुपातिक** और उसकी **घटना-शृंखलाएं सुसंबद्ध** तथा **सुनियोजित** होनी चाहिए। सांगता या जैवता का सिद्धांत (organic theory) सौंदर्यशास्त्र का एक आधारभूत तत्त्व है। आनुपातिक

विस्तार इसलिए अभिलषणीय है कि बुद्धि कथानक को ग्रहण कर सके और स्मृति उसे धारण कर सके। अधिक विस्तृत कथानक को ग्रहण करना भी कठिन है और स्मरण रखना भी; साथ ही, वह नीरस भी हो जाएगा। अनुपात में एक बात और निहित है। कथानक का विस्तार ऐसा होना चाहिए कि **संभाव्यता अथवा आवश्यकता** के नियम (Law of probability or necesssity) के अनुसार उसमें भाग्य-विपर्यय की गुंजाइश हो। न तो पलक मारते किसी का भाग्य बनता है और न बिगड़ता है। इसलिए विपर्यय क्रमिक और स्वाभाविक रूप में दिखाया जाना चाहिए। इसके लिए भी विस्तार का आनुपातिक होना आवश्यक है। कथानक के आनुपातिक विस्तार के साथ घटनाओं में एकान्विति भी होनी चाहिए। कुछ लोग समझते हैं कि एक नायक से संबद्ध घटनाओं का समावेश-मात्र एकान्विति का साधक है किंतु बात ऐसी नहीं है। एक ही व्यक्ति के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं में इतनी विविधता होती है कि उनमें अन्विति नहीं स्थापित की जा सकती। इसी तरह अनेक कार्य भी ऐसे होते हैं जिन्हें एक संबद्ध कार्य के रूप में उपस्थापित नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप एक व्यक्ति से संबद्ध रहने पर भी घटनाएं या कार्यव्यापार परस्पर असंबद्ध या अनन्वित रह जाते हैं और नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि में सहायक नहीं होते। इसलिए अन्य अनुकरणात्मक कलाओं के समान दु:खांतक के कथानक में भी अनुकरणीय कार्यव्यापार एक ही होना चाहिए। खंडों की संरचनात्मक अन्विति ऐसी सुघटित होनी चाहिए कि एक खंड भी इधर-उधर नहीं किया जा सके और यदि किया जाए तो पूर्ण भी खंडित या बाधित हो जाय। तात्पर्य कि किसी चीज के रहने या न रहने से यदि कोई स्पष्ट अंतर नहीं पड़ता तो वह 'पूर्ण' का आंगिक (organic) भाग नहीं माना जा सकता। अंगांगिभाव से जुड़ी हुई घटनाएं या कार्यव्यापार ही नाटकीय कथानक को सफल बनाते हैं।

ऊपर की चर्चा का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि कवि-कर्म की सार्थकता उसका वर्णन करने में नहीं 'जो घटित हो चुका है', बल्कि उसका वर्णन करने में है जो 'संभाव्यता और आवश्यकता के नियमानुसार घटित हो सकता है'। कवि और इतिहासकार का भेद पद्य या गद्य में लिखने के कारण नहीं हुआ करता, उनका वास्तविक भेद इसमें है कि इतिहासकार उसका वर्णन करता है 'जो घटित हो चुका है' और कवि उसका, 'जो घटित हो सकता है'। एक **आगत** का वर्णन करता है तो दूसरा, **अनागत** का; एक **यथार्थ** का तो दूसरा, **संभाव्य** का। किंतु वह संभाव्य अनर्गल या निराधार नहीं होता; या तो वैसा होना **संभव है** या **आवश्यक**। अत: "काव्य इतिहास से अधिक दार्शनिक तथा उच्चतर वस्तु है" क्योंकि काव्य सामान्य (universal) को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और इतिहास विशेष (particular) को। सामान्य (universal) से अरस्तू का तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति किसी अवसर पर संभाव्यता अथवा आवश्यकता के नियमानुसार कैसा आचरण करेगा, कैसा व्यवहार करेगा, इसका ज्ञान होना चाहिए।

काव्य का उद्देश्य इसी सामान्यता (universality) की सिद्धि है, व्यक्तियों

के नाम चाहे जो भी हों। व्यक्तियों के नाम और रूप भले ही विशेष हों, उनकी चरितार्थता सामान्य की अभिव्यक्ति में ही है। इसी में काव्य का काव्यत्व है। सामान्य की अभिव्यक्ति ही वह वैशिष्ट्य है जिसके कारण देश और काल, नाम और रूप में आबद्ध होकर भी काव्य सार्वभौम और शाश्वत बनता है; सर्वत्र और सर्वदा आनंद देने में समर्थ होता है। राम और सीता, दुष्यंत और शकुंतला, ओथेलो और डेस्डेमोना, व्यक्ति-विशेष होकर भी, देश-काल की सीमा का अतिक्रमण कर समान-भाव से सबकी आनंदानुभूति के साधन बन गये हैं।

प्लेटो ने काव्य और दर्शन के पुराने बैर की बात कही थी और उनमें दर्शन को काव्य से श्रेष्ठ बताया था। यूनान में काव्य की अपेक्षा इतिहास को भी अधिक सम्मान प्राप्त था। अरस्तू ने तर्कसम्मत ढंग से दोनों की श्रेष्ठता को निरस्त कर काव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। यह प्रतिपादन विशेष महत्त्व का है क्योंकि अरस्तू स्वयं उच्च कोटि के दार्शनिक और वैज्ञानिक थे। इस अवांतर प्रश्न के साथ अरस्तू ने साधारणीकरण के सिद्धांत का भी आभास दिया है। संबंध-विशेष का परिहार ही तो साधारणीकरण की भूमिका है। अतः जब अरस्तू कहते हैं कि नाम-विशेष से संयुक्त रहने पर भी कवि के पात्र सामान्य की ही अभिव्यक्ति करते हैं तो पर्यायभेद से साधारणीकरण ही उनके मन में है।

अरस्तू ने तीन प्रकार के कथानकों का उल्लेख किया है : **ऐतिहासिक, काल्पनिक तथा आनुश्रुतिक** (legendary)। इन तीनों को वे दुःखांतक के लिए ग्राह्य मानते हैं; कसौटी केवल आनंदप्रदता की है। कथानक कोई भी हो सकता है, बशर्ते उसमें आनंद देने की क्षमता हो। यह चीज कवि की प्रतिभा पर निर्भर करती है। इसीलिए उन्होंने प्लेटो की तरह कवि को अनुकर्त्ता (imitator) न कहकर निर्माता (maker) कहा है। कवि के प्रति गुरु-शिष्य के दृष्टिकोण में यह तात्त्विक अंतर का सूचक है। प्लेटो ने कवि को महज अनुकर्ता (नकलची) कहकर कवि का ही नहीं, काव्य का भी अवमूल्यन कर दिया था। अरस्तू ने कवि को 'निर्माता' कहकर उसके कर्म को उचित गरिमा दी। उनका कहना है कि कवि पद्य का निर्माता होने के कारण नहीं, बल्कि कथानक का निर्माता होने के कारण 'निर्माता' कहलाने का अधिकारी है क्योंकि कथानक ही दुःखांतक की आत्मा है। अरस्तू वैसे कथानकों के बड़े विरोधी हैं जो उपाख्यानात्मक (episodic) होते हैं अर्थात् जिनमें पूर्वापर संबंधों से रहित एक के बाद एक उपाख्यान, संभाव्यता या आवश्यकता के नियम की अवहेलना कर, आगे-पीछे बैठते चले जाते हैं। यह कुकवित्व का लक्षण है।

कथानक अर्थात् कार्यव्यापार के विचार के बाद अरस्तू परिभाषा के अंतिम अंश को लेते हैं। दुःखांतक पूर्ण कार्यव्यापार का अनुकरण है सही किंतु उसकी पूर्णता निरपेक्ष नहीं है। उसकी वास्तविक पूर्णता इसमें है कि उससे **करुणा या भय का उद्बोध हो**। जब तक करुणा और भय का उद्बोध नहीं होता तब तक कार्यव्यापार की, अर्थात् घटना-श्रृंखला की, पूर्णता सार्थक नहीं होगी। करुणा और भय के उद्बोध का प्रभाव सर्वोत्तम तब होता है जब घटनाएं **आकस्मिकता** से घटित होती हैं।

घटनाओं में कार्य-कारण भाव संबंध होने पर वह प्रभाव और भी तीव्र हो जाता है। तात्पर्य यह कि करुणा और भय के उद्बोध के लिए घटनाओं का आकस्मिकता से अर्थात् अप्रत्याशित रूप से घटित होना और उनमें कार्य-कारण-भाव संबंध का होना आवश्यक है।

सरल या जटिल कथानक : कथानक दो प्रकार के होते हैं : सरल (simple) या जटिल (complex) क्योंकि वास्तविक जीवन के जिन कार्यव्यापारों के वे अनुकरण होते हैं उनमें भी यह अंतर पाया जाता है। **सरल कार्यव्यापार** वह है जो एक हो, अविच्छिन्न हो और जिसमें बिना स्थिति-विपर्यय अथवा अभिज्ञान के ही भाग्य-परिवर्तन हो जाए। **जटिल कार्यव्यापार** वह है जिसमें भाग्य-परिवर्तन या तो स्थिति-विपर्यय से होता है या अभिज्ञान से या दोनों के योग से। इसकी निष्पत्ति कथानक की आंतरिक संघटना से होनी चाहिए जिससे परवर्ती घटनाएं पूर्ववर्ती घटनाओं का परिणाम जान पड़ें। इसे ही अरस्तू कार्य-कारण-भाव कहते हैं। कोई घटना किसी घटना के फलस्वरूप घटित हुई है या बाद में अपने आप यों ही घटित हो गयी है, इससे उसके प्रभाव में बड़ा अंतर पड़ जाता है।

स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान : स्थिति-विपर्यय उस परिवर्तन को कहते हैं जिसमें कार्य-व्यापार सर्वथा विपरीत दिशा में मुड़ जाता है, हालांकि यह मोड़ संभाव्यता या आवश्यकता के नियमानुसार ही होता है।

अभिज्ञान, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, अज्ञान की ज्ञान में परिणति है। अभिज्ञान से पात्रों के मन में प्रेम या घृणा उत्पन्न होती है जो उनके सौभाग्य या दुर्भाग्य का निमित्त बनती है। यदि कवि को सौभाग्य प्रदर्शित करना अभीष्ट होता है तो वह अभिज्ञान के द्वारा प्रेम की भूमिका रचता है और यदि दुर्भाग्य प्रदर्शित करना अभीष्ट होता है तो घृणा की भूमिका रचता है। अभिज्ञान का सर्वोत्कृष्ट रूप वह है जो स्थिति-विपर्यय के साथ घटित होता है। नाटक में जिस किसी अभिज्ञान का महत्त्व नहीं है, महत्त्व उसी अभिज्ञान का है जो कथानक और कार्यव्यापार से अंतरंग रूप में जुड़ा हो और व्यक्तियों के बीच संपन्न हो।

अभिज्ञान के भेद

(१) **चिह्नों के द्वारा अभिज्ञान।** अरस्तू के समय में यह सर्वाधिक प्रचलित था किंतु इसे वे सबसे कम कलात्मक मानते हैं। इसका प्रयोग वे ही कवि करते हैं जिनमें कलात्मक वैदग्ध्य का अभाव होता है। शरीर में कोई जन्मजात चिह्न, जन्म के बाद दिया गया कोई निशान (जैसे गोदना), घाव का निशान आदि इस भेद के अंतर्गत आते हैं।

(२) अभिज्ञान का दूसरा प्रकार वह है जिसे कवि **स्वेच्छा से ढूंढ़** लेता है। कलात्मकता का इसमें भी अभाव होता है।

(३) तीसरा अभिज्ञान **स्मृति-जन्य** होता है, जिसमें किसी वस्तु को देखकर कोई भाव उद्बुद्ध हो जाता है, कोई बात याद आ जाती है।

(४) चौथा अभिज्ञान **वितर्क-मूलक** होता है। इसमें ऊहापोह के बाद किसी निर्णय पर पहुंचा जाता है।

अरस्तू के अनुसार, इनमें कोई भी अभिज्ञान कलात्मक नहीं है। उनका कहना है कि सर्वोत्तम अभिज्ञान वह है जो **घटनाओं के भीतर से** ही उत्पन्न होता है—जिसमें **बिस्मयजनक रहस्योद्घाटन** प्राकृतिक साधनों से संपन्न होता है। दूसरा स्थान वे **वितर्कमूलक** अभिज्ञान को देते हैं।

दुःखांतककार के लिए कतिपय व्यावहारिक नियम

१. कथानक के निर्माण तथा उचित पदावली में उसकी अभिव्यक्ति के समय कवि को चाहिए कि वह दृश्य को यथासंभव अपनी आंखों के सामने रखे। इस भांति प्रेक्षक के रूप में वह सारी चीजों को अत्यंत स्पष्टता से देख सकेगा और समझ सकेगा कि क्या-क्या नाटक के अनुकूल है। इससे असंगतियों के रह जाने की संभावना बहुत कम हो जाएगी।

२. कवि को नाट्य-रचना में यथाशक्ति अभिनयानुकूल भंगिमाओं का निर्देश करना चाहिए। जो कवि भाव की अनुभूति से प्रेरित होकर लिखता है, वह प्रभावी होता है क्योंकि अपने पात्रों के साथ उसकी नैसर्गिक सहानुभूति स्थापित हो जाती है।

३. कथावस्तु ऐतिहासिक हो या काल्पनिक, कवि को चाहिये कि पहले वह नाटक की एक रूपरेखा तैयार कर ले और बाद में उपाख्यानों का समायोज़न तथा विवरणों का सन्निवेश करे।

४. कथानक के दो भागों—**संवृति** (complication) और **विवृति**—(dinouement or unravelling) की योजना में कवि को सतर्कता से काम लेना चाहिए। कथानक आरंभ होकर क्रमशः **चरमबिंदु** (climax) पर पहुंचता है जब प्रेक्षक के मन में घटना के मोड़ को लेकर अत्यधिक उत्सुकता बढ़ जाती है और वह आतुरता से उसकी प्रतीक्षा करने लगता है। यह कथानक का संवृति (बंद) या आरोह पक्ष है। संवृति इसलिए कि पता नहीं लगता कि आगे क्या होने वाला है। चूंकि घटना क्रमशः चरम बिंदु की ओर बढ़ती जाती है, इसलिए इसे आरोह भी कह सकते हैं। चरमबिंदु से आगे बढ़ने पर कथानक का मोड़ स्पष्ट होने लगता है; आगे क्या होनेवाला है, इसका आभास मिलने लगता है; रहस्य कुछ-कुछ खुलने लगता है। अतः इसे विवृति (खुलना) कहते हैं। चरमबिंदु से कथानक की गति निर्वहण (उपसंहार) की ओर होती है; इसलिए इसे अवरोह भी कहते हैं। उत्सुकता के बढ़ने और घटने की दृष्टि से भी आरोह-अवरोह शब्द सार्थक हैं।

कथानक की संवृति (आरोह) और विवृति (अवरोह) के प्रति सचेष्ट रहना आवश्यक है क्योंकि नाटक की सफलता बहुत दूर तक इन पर निर्भर करती है।

५. कवि को अपनी रचना में यथासंभव सभी काव्यतत्त्वों के सन्निवेश का प्रयास करना चाहिए। यदि सभी का सन्निवेश संभव न हो तो अधिक से अधिक

तत्त्वों का, और उनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का, सन्निवेश होना चाहिए।

६. एक बात कवि को याद रखनी चाहिए कि महाकाव्य के रचना-विधान और दुःखांतक के रचना-विधान में अंतर है। महाकाव्य के अनियत विस्तार के कारण न तो कथानकों की विभिन्नता खटकती है और न उनका आकार; किंतु नाटक में इसका परिणाम बिलकुल भिन्न होगा; जैसे, कोई 'इलियद' (या रामायण) की संपूर्ण कथा को नाटक में ढालने का प्रयास करे तो वह हास्यास्पद हो जाएगा। इसी-लिए दुःखांतक की नाटकीयता को ध्यान में रखकर ही उसके कथानक का विस्तार करना चाहिए। महाकाव्य में विस्तार की जो स्वतंत्रता रहती है वह दुःखांतक में संभव नहीं है। इसका ध्यान नहीं रखने से या तो रचना सर्वथा असफल हो जाती है या सफलता मिलती भी है तो अकिंचित्कर।

७. बहुत कवियों की रचनाओं में वृंदगान (chorus) कथानक से असंबद्ध रहता है। सत्कवि की पहचान है कि वृंदगान को वह कथानक के अभिन्न अंग के रूप में रखे जिससे कार्य-व्यापार के साथ उसका संबंध बना रहे। कथानक से असंबद्ध वृंदगान की नाटकीय उपयोगिता कुछ भी नहीं है।

चरित्र

चरित्र के संबंध में अरस्तू चार चीजों पर ध्यान देने को कहते हैं। प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि चरित्र **अच्छा** होना चाहिए। किसी प्रकार के नैतिक उद्देश्य को व्यक्त करने वाला कोई संभाषण या कार्यव्यापार चरित्र का अभिव्यंजक होगा। यदि उद्देश्य अच्छा है तो चरित्र भी अच्छा होगा। यह नियम प्रत्येक वर्ग के लिए सही है। कोई महिला भी अच्छी हो सकती है और कोई दास भी अच्छा हो सकता है; हालांकि महिला निम्न कोटि का जीव मानी जाती है और दास तो बिल-कुल निकम्मा होता है। चरित्र के संबंध में लक्ष्य करने की दूसरी चीज है **औचित्य**। उदाहरणार्थ, पुरुष में शौर्य ठीक है किंतु महिला में शौर्य या अनैतिक चातुर्य अनुचित माना जाएगा। तीसरी चीज यह है कि चरित्र **यथार्थ** होना चाहिए अर्थात् उसमें जीवन की सच्चाई होनी चाहिए। चौथी चीज है, **सुसंगति** (consistency)। तात्पर्य कि चारित्रिक विशेषताएं आरंभ में जैसी दिखायी जाएं वैसी ही अंत तक कायम रहें। निष्कारण किसी चरित्र में परिवर्तन नहीं दिखाया जाना चाहिए। परिवर्तन दिखाना ही हो तो उनके लिए पर्याप्त कारण होना चाहिए।

कथानक के समान चरित्र-चित्रण में भी कवि को आवश्यकता अथवा संभाव्यता के नियम का पालन करना चाहिए। किसी चरित्र का अपने विशिष्ट रूप में ही कुछ कहना या करना उचित है। अरस्तू का सुझाव है कि चरित्र-चित्रण में अच्छे चित्रकार का उदाहरण काम में लाना चाहिए। जिस प्रकार चित्रकार जीवन का सच्चा चित्र अंकित करते हुए भी उसे अधिक सुंदर बना देता है, उसी प्रकार कवि को भी चाहिए कि चरित्र के गुण-दोषों को यथावत् रखते हुए भी उसे अधिक परिष्कृत कर दे।

पद-योजना (भाषा) और विचार

'विचार' के संबंध में अरस्तू का कहना है कि इसकी मीमांसा वे 'भाषणशास्त्र' में कर चुके हैं क्योंकि यह उसी से संबद्ध है। 'विचार' के अंतर्गत वाणी द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्रभाव आता है। इसके उपविभाग हैं: प्रमाणन (proof) और खंडन (refutation); करुणा, भय, क्रोध या ऐसे अन्य भावों का उद्‌बोध; किसी वस्तु का महत्त्व बढ़ाना या घटाना। स्पष्ट है कि जब करुणा, भय आदि की भावना जागृत करनी हो तब नाटकीय घटनाओं के प्रति वैसा ही दृष्टिकोण रखना चाहिए जैसा नाटकीय संवादों के प्रति। अंतर केवल इतना है कि शाब्दिक व्याख्या के बिना भी घटनाओं को आत्माभिव्यंजन में समर्थ होना चाहिए और भाषा का प्रभाव वक्ता तथा भाषा से ही उत्पन्न होना चाहिए। तात्पर्य कि घटनाओं की योजना ऐसी होनी चाहिए कि बिना संवादों के भी उनसे अभीष्ट भाव व्यक्त हो जाए और भाषा अर्थात् संवादों से जो भाव व्यक्त होना चाहिए वह वक्ता और भाषा से ही व्यक्त हो, उसके लिए दृश्य आदि अनिवार्य न हों। दूसरे शब्दों में यों कहें कि घटना और संवाद दोनों में पृथक्-पृथक् भी संप्रेषण की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए।

दूसरे शास्त्र (भाषणशास्त्र) का विषय कहकर अरस्तू ने यहां पद-योजना पर विचार नहीं किया है किंतु प्रकारांतर से इक्कीसवें अध्याय में उन्होंने इस प्रश्न को पुनः उठाया है।

शब्द दो प्रकार के होते हैं: सरल (simple) और यौगिक (double)। सरल शब्द अर्थहीन तत्त्वों के योग से बनते हैं। (अरस्तू जिसे सरल कहते हैं उसे हिंदी में 'रूढ़' कहते हैं।) यौगिक शब्द वे हैं जो एक सार्थक और एक निरर्थक, अथवा दोनों सार्थक, अवयवों के योग से बनते हैं।

शब्द के और भी श्रेणी-भेद हैं; जैसे प्रचलित (current), अपरिचित (strange), लाक्षणिक (metaphorical), आलंकारिक (ornamental), नव-निर्मित (newly coined), प्रवर्धित (lengthened), संकुचित (contracted), परिवर्तित (altered) आदि।

अरस्तू के अनुसार **प्रचलित** शब्द वह है जो किसी भाषिक समुदाय में सामान्यतः प्रयुक्त होता है और **अपरिचित** वह है जो किसी दूसरे देश में प्रयुक्त होता है। स्पष्ट है कि स्थान-भेद से एक ही शब्द प्रचलित भी कहला सकता है और अपरिचित भी। किसी वस्तु को दूसरे नाम से बोधित कराना **लक्षणा** है। अरस्तू ने लक्षणा के कुछ स्थूल भेदों का संकेत किया है जो भारतीय लक्षणा-विवेचन की तुलना में नगण्य-सा है। **नव-निर्मित** शब्द वह है जो कवि द्वारा निर्मित हो; जैसे, निराला द्वारा प्रयुक्त 'तमस्तूर्य' (अंधकार की तुरही बजाने वाला) अथवा पंत द्वारा प्रयुक्त 'प्रास' (अनुप्रास के लिए)। प्रवर्धित शब्द में किसी स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। ऐसा प्रायः छंद के अनुरोध से किया जाता है। जैसे, 'अखिल **विश्व के सूत्राधार**'। यहां पंत ने छंदोभंग बचाने के लिए 'सूत्रधार' को 'सूत्राधार' कर दिया है। **संकुचित** शब्द उसे कहते हैं जिसमें उसका कोई अंश छोड़ दिया जाए; जैसे, पंत द्वारा अनुप्रास के

लिए 'प्रास' का प्रयोग : "खुले गये छंद के बंध, प्रास के रजत पाश"। परिवर्तित शब्द वह है जिसमें कुछ अंश तो यथावत् रहे और कुछ जोड़-घटा दिया जाए; जैसे, अनायास के लिए पंत द्वारा 'अयास' का प्रयोग : "युगवाणी बहती अयास"। अरस्तू काव्य में इन छहों प्रकार के शब्दों के प्रयोग की सिफारिश करते हैं क्योंकि अभिव्यंजना में इनसे 'असाधारणता' आती है; और, असाधारणता (विशेष भंगीभणिति) ही सामान्य भाषा से काव्यभाषा को पृथक् करती है।

शैली

अरस्तू के अनुसार शैली की पूर्णता इसमें है कि वह **निम्न हुए बिना स्पष्ट** हो। स्पष्टता में खतरा इस बात का रहता है कि 'शैली' प्रायः इतनी साधारण हो जाती है कि निम्न या तुच्छ प्रतीत होने लगती है। इसलिए अरस्तू जहां स्पष्टता को महत्त्व देते हैं वहां इस बात पर भी जोर देते हैं कि स्पष्टता के प्रयास में वह निम्न या तुच्छ न हो जाए। स्पष्टता प्रचलित या उपयुक्त शब्दों के प्रयोग से आती है और गरिमा असामान्य शब्दों के प्रयोग से। 'असामान्य' से अरस्तू का तात्पर्य अपरिचित, लाक्षणिक तथा दीर्घीकृत शब्दों से है। इसीलिए उनका कहना है कि कवि या लेखक के लिए स्पष्टता काम्य तो है पर गरिमा के साथ, क्योंकि गरिमा से रहित स्पष्टता निम्नता में परिणत हो जाती है। साथ ही औचित्य (propriety) का भी ध्यान रखना आवश्यक है। लक्षणा को अरस्तू प्रतिभा का प्रमाण मानते हैं। लक्षणा के सुष्ठु प्रयोग का अर्थ है कि लेखक में साम्य को देखने की क्षमता है। 'लक्षणा सिखायी या बतायी नहीं जा सकती; वह लेखक में अंतःस्फूर्त होती है।' 'उपमा कालिदासस्य' की उक्ति कालिदास की साम्य को देखने वाली विशिष्ट दृष्टि को ही व्यक्त करती है।

महाकाव्य

अरस्तू ने महाकाव्य का लक्षण नहीं दिया है, उसका सविस्तर विवेचन भी नहीं किया है, केवल कतिपय स्थूल विशेषताओं का उल्लेखमात्र कर दिया है। बात यह है कि अरस्तू की दृष्टि में दुःखांतक ही काव्य का चरम प्रकर्ष है, दुःखांतक से भिन्न जो कोई भी काव्यभेद है, वह उससे हीन कोटि का है। अतः उसका निरूपण अत्यंत संक्षिप्त और साधारण है।

अरस्तू के अनुसार, महाकाव्य के निम्नलिखित स्वरूपाधायक तत्त्व हैं :

१. महाकाव्य **आख्यानात्मक** होता है।
२. उसके कथानक का निर्माण नाट्य-सिद्धांतों पर ही होता है अर्थात् उसमें भी **आदि, मध्य और अवसान** से युक्त एक ही कार्यव्यापार हुआ करता है।
३. **पात्र उच्च** होते हैं।
४. **विस्तार निर्बंध** होता है।
५. **छंद एक ही** प्रयुक्त होता है।
६. **अंगों की परस्पर अन्विति** सजीव प्राणी के समान होती है।

महाकाव्य और दुःखांतक का साम्य-वैषम्य

१. दुःखांतक के समान महाकाव्य की भी कथावस्तु सरल या जटिल, नैतिक या कारुणिक हो सकती है।

२. गीत और दृश्य को छोड़कर दुःखांतक के शेष चार अंग—कथानक, चरित्र, विचार, पद-योजना—महाकाव्य में भी होते हैं क्योंकि उसमें भी स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान आदि निविष्ट हुआ करते हैं। महाकाव्य और दुःखांतक दोनों में विचार और पद-योजना का कलात्मक होना आवश्यक है।

ये तो साम्य हुए। **वैषम्य** के आधार हैं **छंद** और **विस्तार**। महाकाव्य एक तो छंदोबद्ध होता है; दूसरे, आख्यानात्मक होने से उसका विस्तार अधिक निर्बंध होता है। दुःखांतक की तरह उसमें दृश्यों अथवा पात्रों का बंधन नहीं होता किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि विस्तार मर्यादाहीन हो जाए। जैसा कहा जा चुका है, अरस्तू अनुपात को सौंदर्य का अनिवार्य आधार मानते हैं। कोई भी अनुपातहीन वस्तु सुंदर नहीं होती। महाकाव्य भी इसका अपवाद नहीं है। विस्तार के निर्बंध होने का तात्पर्य इतना ही है कि दुःखांतक की तुलना में महाकाव्य का कथानक अधिक विस्तृत हो सकता है। दुःखांतक के समान महाकाव्य में भी अद्‌भुत (marvellous) तत्त्व का होना आवश्यक है किंतु अयुक्त (irrational) के समावेश का जैसा अवकाश महाकाव्य में है, वैसा दुःखांतक में नहीं, क्योंकि वर्णन में अयुक्त अलक्षित रह जाता है पर मंचन में अलक्षित नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, महाकाव्य में हनूमान का समुद्र-लंघन नहीं खटकता किंतु मंच पर वह हास्यास्पद हो जाएगा। कहने का अभिप्राय यह कि महाकाव्य के कवि को भी **'असंभाव्य संभावनाओं'** की तुलना में **'संभाव्य असंभावनाओं'** को प्राथमिकता देनी चाहिए। दुःखांतक के कथानक में तो अयुक्त (irrational) कथांशों की योजना होनी ही नहीं चाहिए, कारण कि उनसे आस्वाद विघ्नित होगा। नाटक देखते समय प्रेक्षक के मन में जहां भी कोई बात खटकी, वहां रस-प्रवाह अवरुद्ध होने लगता है। इसीलिए अरस्तू दुःखांतक में अयुक्त की योजना का विरोध करते हैं। महाकाव्य में एक सुविधा है कि एक साथ घटित अनेक घटनाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं और यदि वे प्रासंगिक हों, तो उनसे काव्य में घनत्व तथा गरिमा आती है। कलात्मक महत्त्व की दृष्टि से महाकाव्य की अपेक्षा दुःखांतक को अरस्तू श्रेष्ठ मानते हैं। दुःखांतक को श्रेष्ठ मानने के आधार हैं :

१. उसमें महाकाव्य के सभी तत्त्व वर्तमान रहते हैं पर महाकाव्य में दुःखांतक के सभी तत्त्व वर्तमान नहीं रहते।

२. संगीत और दृश्य-योजना से दुःखांतक का प्रभाव बढ़ जाता है क्योंकि संगीत से मोहकता तथा दृश्य-योजना से कथानक में सजीवता आ जाती है। महाकाव्य में ये दोनों चीज़ें नहीं होतीं।

३. महाकाव्य की तुलना में दुःखांतक की कथावस्तु और अन्विति (unity) अधिक सुबद्ध होती है क्योंकि महाकाव्य के समान दुःखांतक में कथा का मनमाना विस्तार नहीं किया जा सकता।

४. दुःखांतक का आनंद देखकर ही नहीं, पढ़कर भी उठाया जा सकता है। यहां अरस्तू ने एक संगत संकेत किया है। नाटक दृश्यकाव्य है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि उससे आनंद प्राप्त करने के लिए मंचन अनिवार्य हो। मंचन से उसमें वैशिष्ट्य या चमत्कार अवश्य अधिक आता है परंतु पाठ्य रूप में भी उसकी वह क्षमता अबाधित रहती है।

काव्य-दोष

पच्चीसवें अध्याय में अरस्तू ने काव्य-दोषों का, साथ ही उनके निराकरण का, विवेचन किया है। उन्होंने दोषों के पांच आधार माने हैं :

१. असंभव-वर्णन,
२. अयुक्त-वर्णन,
३. अनैतिक वर्णन,
४. विरुद्ध-वर्णन,
५. शिल्प-विघातक वर्णन।

इनमें प्रथम चार का संबंध काव्यवस्तु से है और अंतिम का काव्यशिल्प से। **असंभव-वर्णन** इसलिए दोष है कि मन को ग्राह्य नहीं होता। **अयुक्त-वर्णन** में संगति नहीं होती अर्थात् उसमें कार्य-कारण-भाव का अभाव खटकता है। **अनैतिक वर्णन** में स्वीकृत मूल्यों की उपेक्षा रहती है। **विरुद्ध-वर्णन** में दो विरोधी वस्तुएं पारस्परिक सामंजस्य को बाधित कर प्रभावहीन बन जाती हैं। **शिल्पगत दोष** काव्य-सौंदर्य का विघातक होने से सहृदय को उद्वेजक प्रतीक होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अरस्तू का दोष-निरूपण भारतीय काव्यशास्त्र के दोष-निरूपण की तुलना में, मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों ही दृष्टियों से, अत्यंत सामान्य है। हमारे प्रारंभिक आचार्यों का भी दोष-निरूपण कहीं अधिक विशद है। मम्मट (११वीं शताब्दी) और विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) का दोष-निरूपण तो इतना व्यापक है कि उससे अरस्तू की कोई तुलना ही नहीं है।

अरस्तू ने दोषों के दो भेद किये हैं : **तात्त्विक** (essential) और **आनुषंगिक** (accidental)। **तात्त्विक** दोष वह है जो काव्य के मर्म को आहत करता है। इसका कारण कवि की अशक्ति अर्थात् अक्षमता है और इसका निराकरण अशक्य है। **आनुषंगिक** दोष ज्ञान अथवा अवधान की कमी से उत्पन्न होता है और इसका समाधान अथवा निराकरण संभव है। ये बहुत कुछ भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित क्रमशः 'नित्य' और 'अनित्य' दोष हैं। आनंदवर्धन ने इन्हें **अशक्तिकृत** और **अव्युत्पत्तिकृत** कहा है। यदि कवि में शक्ति (प्रतिभा) रहती है तो अव्युत्पत्तिकृत दोष छिप जाता है किंतु अशक्तिकृत दोष को छिपाना संभव नहीं होता।[५]

५. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येव भासते।—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

'काव्यशास्त्र' में निरूपित विषयों का यह संक्षिप्त पर विशेष विवेचन अरस्तू के काव्यविषयक सिद्धांतों और निरूपण-प्रणाली के अवगम का आवश्यक आधार प्रस्तुत करता है।

आगे अरस्तू की कतिपय महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की व्याख्या-समीक्षा है।

प्रकृति (Nature)

अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनेक शब्द ऐसे हैं जो उनकें कला-विवेचन की कुंजी हैं और जिनका सही तथा निश्चित अर्थ जाने बिना उनकी कला-विषयक अवधारणाओं को समझना कठिन है। पाठक की यह कठिनाई इसलिए और भी बढ़ जाती है कि अरस्तू ने न तो उन शब्दों की कोई परिभाषा दी है, न व्याख्या की है। यही कारण है कि अरस्तू के व्याख्याकार एक-दूसरे से इतनी दूर हट जाते हैं कि उनमें किसे ठीक मानें और किसे बेठीक, यह तय करना असंभव-सा हो जाता है। इस यदृच्छा पर खीझकर ही बुचर ने कहा है कि "अरस्तू के अविवेकी श्रद्धालुओं ने उनमें उन सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्नों को, साथ ही उत्तरों को भी, ढूंढ़ निकाला है जो अरस्तू के मस्तिष्क में कभी आये भी नहीं होंगे।" विद्वानों की इस विसंवादी कोलाहलपूर्ण मूर्च्छना में संगत और शुद्ध स्वर को पहचानना कितना दुष्कर है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। और, तारीफ यह कि उस मूर्च्छना का प्रस्तार आज भी बंद नहीं हुआ है। एक-एक शब्द पर जितना लिखा गया है, वह स्वतंत्र विवेचन का विषय है। भरत के रससूत्र के 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर जो ऊहापोह एवं मतांतर हुए हैं, उनकी तुलना में अरस्तू द्वारा प्रयुक्त शब्दों की स्थिति कहीं अधिक जटिल और भयावह है। ऐसे शब्दों में उल्लेख्य हैं **प्रकृति, अनुकरण कार्यव्यापार** और **विरेचन**। इन शब्दों की संक्षिप्त, बोधगम्य व्याख्या ही यहां अभिलक्षित है।

अरस्तू से पहले ग्रीस में कला शब्द का प्रयोग प्रधानत: उपयोगी कला (useful art) के लिए ही होता था। अरस्तू पहले आचार्य हैं जिन्होंने उपयोगी कला (useful art) और ललित कला (fine art) का भेद स्पष्ट किया; साथ ही, ललित कला की पृथक् सत्ता एवं स्वायत्तता घोषित की और इस रूप में उसका विवेचन किया। इस प्रकार उन्होंने **उपयोग** और **सौंदर्य** का क्षेत्र-विभाजन कर सौंदर्य को शास्त्रीय चर्चा का विषय बनाया। धर्म और राजनीति से, शिक्षा और नैतिकता से अलग हट कर कला के निरूपण का यूरोप में यह अभिनव प्रयास था।

कला प्रकृति का अनुकरण है (Art imitates nature), यह अरस्तू के कला-सिद्धांत का एक प्रकार से सूत्र-वाक्य मान लिया गया है। जैसा हम दिखा चुके हैं, यह वाक्य अरस्तू के काव्यशास्त्र का नहीं, बल्कि भौतिकी का है। प्रकरण से विच्छिन्न होने के कारण इसका मूल अर्थ धूमिल हो गया है।

प्रकृति (nature) शब्द का प्रयोग अरस्तू ने अनेक अर्थों में किया है। उनकी शब्दावली में प्रकृति केवल बाह्य प्रकृति—वृक्ष, वन, लतागुल्म, नदी, पर्वत आदि—का वाचक नहीं है। 'भौतिकी' में प्रकृति के विभिन्न अर्थों की जो उन्होंने तालिका दी

है, उससे उसके अर्थ-विस्तार का पता चलता है। प्रकृति के कम से कम छह अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत हैं। उनके अनुसार—

१. **गति के साधन** (source) या कारण (cause) को प्रकृति कहते हैं।
२. प्रकृति का अर्थ **वस्तु** या विषय (subject) भी होता है।
३. प्रकृति **तत्त्व** का भी पर्याय है; प्रकृति=तत्त्व।
४. **आकृति** (shape) या **रूप** (form) को भी प्रकृति कहते हैं। (The form indeed is the 'nature' rather than the matter)
५. प्रकृति का प्रयोग **विकास-प्रक्रिया** (process of growth) के लिए भी होता है।
६. "कुछ लोग प्राकृतिक पदार्थ की प्रकृति अथवा द्रव्य को उसके अव्यवहित घटक से अभिन्न मानते हैं जो अपने-आपमें व्यवस्थाहीन है।" इसके अनुसार 'प्रकृति'=**घटक**। (Some identify the nature or substance of a natural object with that immediate constituent of it which taken by itself is without arrangement)

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रकृति' के इन विभिन्न अर्थों में से किसी एक को इदमित्थम् कहकर ग्रहण करना प्रकरण-सापेक्ष ही हो सकता है। इसलिए बुचर ने प्रथम और पंचम कोटियों के सम्मिलित रूपों को ध्यान में रखकर प्रकृति का अर्थ किया है विश्व की **'सर्जनात्मक शक्ति'** (creative force) या **'उत्पादक सिद्धांत'** (productive principle) जो वस्तुओं का **आंतरिक धर्म** है। फलतः प्रकृति के समान कला भी कुछ प्रयोजनों को दृष्टि में रखती है और साध्यों के अनुकूल साधनों के उपयोग में प्रकृति से संकेत ग्रहण करती है[६] क्योंकि किसी न किसी रूप में प्रकृति भी अचेतन कलाकार (unconscious artist) है। इसलिए सामान्यतः कला प्रकृति की पद्धति का ही अनुकरण करती है और उसी के अनुसार साध्य (प्रयोजन) का निर्धारण करती है।

उदाहरणार्थ, प्रकृति का लक्ष्य है—स्वस्थ रखना; किंतु इसमें जब वह असफल होती है तो उसकी कमी को पूरा करने के लिए चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार परिवार या कबीला प्रकृति की देन है किंतु मनुष्य के अस्तित्व के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है; मनुष्य के अस्तित्व को पूर्ण निरापद बनाने के लिए राज्य का संगठन अपेक्षित होता है और इसके लिए राजनीति की कला जरूरी हो जाती है। तात्पर्य कि स्वास्थ्य प्रकृति-सिद्ध होते हुए भी स्वतः पूर्ण नहीं है, उसके लिए चिकित्सा की कला अपेक्षित है; इसी तरह परिवार के प्राकृतिक संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए राजनीति की कला जरूरी है। इसी प्रकार सभी उपयोगी कलाओं का प्रयोजन है प्रकृति की कमियों को पूरा करना। अतः जो किसी कला में प्रवीण

६. Art in its widest sense like nature, has certain ends in view and in this adaptation of means to ends catches hints from nature who is in some sort an unconscious artist. —ATPFA. p. 117.

होना चाहता है, उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह प्रकृति के सिद्धांतों का पहले सम्यक् अध्ययन करे; फिर उसके द्वारा संकेतित पद्धति को, साध्य की सिद्धि के लिए, काम में लाए। निष्कर्ष यह कि **कला प्रकृति की पूरक है** और इसके लिए वह प्रकृति से निर्देश भी प्राप्त करती है। बुचर के अनुसार, प्रकृति के अनुकरण का यही अभिप्राय है।

उपयोगी कला और ललित कला में अंतर यह है कि **उपयोगी कला सोद्देश्य होती है और व्यावहारिक आवश्यकता** की पूर्ति करती है; **ललित कला** व्यावहारिक आवश्यकता की चिंता नहीं करती; केवल **सौंदर्य** को अपना साध्य मानती है। दूसरे शब्दों में, उपयोगी कला में व्यावहारिक उपयोगिता की प्रधानता होती है और ललित कला में केवल सौंदर्यमूलक आनंद की। उपयोगी कला वस्तु पर आधारित होती है; ललित कला बिंब पर।

अनुकरण (Imitation) और कार्यव्यापार (Action)

'इमिटेशन' जो यूनानी के 'मिमेसिस' (mimesis) का अंग्रेजी अनुवाद है, प्लेटो के समय से कला-विषयक चर्चा का उल्लेख्य अंग रहा है और विगत ढाई हजार वर्षों में इसकी न जाने कितनी व्याख्याएं हुई हैं। अरस्तू के काव्यशास्त्र में प्रयुक्त बह्वर्थक तथा व्याख्या-सापेक्ष अनेक शब्दों में यह अन्यतम है। अरस्तू ने इस शब्द की न तो कोई व्याख्या की है और न अर्थ की सीमा निर्दिष्ट की है। अतः तमाम व्याख्याओं के बावजूद आज भी इसका अर्थ निश्चित नहीं हो पाया है।

प्लेटो की आलोचना के क्रम में हम इसको देख चुके हैं। उन्होंने मूलतः इसका प्रयोग 'नकल' के अर्थ में किया है। 'नकल' के साथ गर्हा या निंदा का भाव कुछ-न-कुछ जुड़ा हुआ है और प्लेटो को वही अभिमत भी रहा है; हालांकि यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्लेटो के अनेक ग्रंथों में 'मिमेसिस' के अर्थ में छाया-भेद भी होता गया है। इसके विस्तार में यहां जाना अनपेक्षित है किंतु इतना तो स्पष्ट ही है कि छाया-भेद के होते हुए भी गर्हा के भाव से यह सर्वथा मुक्त नहीं रहा है। अनुकरण या मिमेसिस गर्हा का विषय इसलिए है कि उसमें सर्जनात्मक स्वतंत्रता का अभाव पाया जाता है। कर्ता (निर्माता) और अनुकर्ता (नकलची) का अंतर उनकी कृतियों के मूल्य तथा महत्त्व में भी अंतर ला देता है। यों, ऐसे उदाहरण भी दुर्लभ नहीं हैं जब अनुकर्ता उत्कर्ष में निर्माता से बढ़ जाता है और उसका अनुकरण मौलिक निर्माण से अधिक चमत्कारी प्रतीत होने लगता है। इसलिए कुछ लोग अनुकरण को तत्त्वतः गर्हणीय नहीं मानते। देखने में भी आता है कि किसी प्राकृतिक वस्तु या दृश्य का चित्र मूल की तुलना में प्रायः अधिक सुंदर, आकर्षक और व्यवस्थित होता है। अतः उनका कहना है कि **अनुकरण** वस्तु का **उन्नत रूपांतरण** (improved version) होने से अधिक कलात्मक होता है।

प्लेटो ने जिन कारणों से अनुकरण को निम्न कोटि का व्यापार माना था, उनकी समीक्षा हो चुकी है। अरस्तू ने 'अनुकरण' शब्द को तो अपने गुरु से लिया पर

उसमें निहित तिम्नता का भाव निरस्त कर कला-निरूपण का उसे अनिवार्य उपादान सिद्ध किया। अनुकरण (मिमेसिस) केवल नकल है और उसमें सर्जकत्व का अथवा उत्कर्षाधायकत्व का सर्वथा अभाव है, इसका भी उन्होंने खंडन किया, जैसा उनके अनेक संकेतों से स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, वे काव्यशास्त्र (अध्याय २५) में कहते हैं कि 'अनुकर्ता' होने के नाते कवि को, चित्रकार या अन्य कलाकार के समान, तीन वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण करना पड़ता है— (१) "जो वस्तुएं थीं या हैं; (२) उन्हें जैसा कहा या माना जाता है; अथवा (३) उन्हें जैसा होना चाहिए"।" इन वस्तु-कोटियों में तृतीय (उन्हें जैसा होना चाहिए) स्पष्ट ही आदर्शात्मक है। अनुकरण तो उसी वस्तु का संभव है जिसकी सत्ता थी या है। द्वितीय कोटि को भी, गौणत: ही सही, अनुकरण की सीमा में रख सकते हैं; किसी वस्तु को "जैसा कहा या माना जाता है" का अर्थ है उसके संबंध में प्रचलित लोक-धारणा, और लोक-धारणा के आधार पर भी वस्तु का अनुकरण शक्य है। किंतु तृतीय कोटि में अर्थात् "जैसा होना चाहिए" में तो कोई वस्तु है ही नहीं; अभी तो उसे होना है। कलाकार अपनी मान्यता, विश्वास, संस्कार आदि के आधार पर किसी वस्तु का जैसा भी काल्पनिक रूप प्रस्तुत करना चाहे, कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वस्तु-जगत् में जिसकी सत्ता ही नहीं है, जो शुद्ध आदर्श है, उसके अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। हां, कवि या कलाकार, वस्तु-सत्ता के अभाव में भी, कल्पना के द्वारा, कलाकृति की सृष्टि कर देता है। अत: प्लेटो का यह कहना कि कलाकृति वस्तु-जगत् का अनुकरणमात्र होने से सत्य से अपेत (दूर) है, आमान्य है क्योंकि कलाकृति सदा वस्तु-जगत् का अनुकरण कहीं होती, बहुत बार वह केवल कल्पना की उपज हुआ करती है।

ऊपर की चर्चा के दो निष्कर्ष हैं: (१) काव्य (या कोई अन्य कला) प्रकृति का कोरा अनुकरण या नकल नहीं है; जहां वह अनुकरण है भी, वहां मूल (original) से अधिक रमणीय और आकर्षक हुआ करता है। इसलिए अनुकरण होने से ही उसे निम्न या गर्हणीय नहीं कहा जा सकता। (२) वह सदा अनुकरण ही हो, यह भी आवश्यक नहीं। बहुधा वह अनधिगत आदर्श का प्रतिरूपण (representation of unrealised ideal) होता है अर्थात् उसमें कुछ ऐसा तत्त्व जुड़ जाता है जो मूल में नहीं रहता। फलत: मूल पर आधारित होते हुए भी वह मूल से भिन्न बन जाता है।

वस्तुत: 'प्रकृति का अनुकरण' का जो प्रचलित अर्थ है, वह ललित कला के संदर्भ में अरस्तू को अभिमत नहीं हैं। बुचर का कहना है कि अरस्तू के अनुसार सौंदर्यात्मक अनुकरण के तीन विषय हैं: (१) चरित्र (character); (२) भाव (emotion) और (३) कार्यव्यापार (action)। अरस्तू द्वारा प्रयुक्त इनके क्रमश:

७. The poet being an imitator, like a painter or any other artist, must of necessity imitate one of three objects,—things as they were or are, things as they are said or thought to be, or things as they ought to be.
—ATPFA, p. 97.

यूनानी पर्याय हैं एथोस (ethos), पाथोस (pathos) और प्राक्सिस (praxis)। **चरित्र** के अंतर्गत वे सभी विशिष्ट नैतिक गुण या स्थायी चित्तवृत्तियां आती हैं जो संकल्प-शक्ति को प्रकट करती हैं। **भाव** शब्द से अनुभूति या संवेदना की अस्थायी मनोदशाएं अभिप्रेत हैं। **कार्यव्यापार** समीचीन, आंतरिक कार्यों को बोधित करता है। कोई भी कार्य, जो केवल बाह्य प्रक्रिया या घटना-शृंखला के रूप में दिखायी देता है, सौंदर्यात्मक अनुकरण का उपयुक्त विषय नहीं बनता। कला जिस कार्यव्यापार (praxis) को प्रस्तुत करने का प्रयास करती है, वह मुख्यतः **आंतरिक प्रक्रिया** है। बुचर के शब्दों में वह बहिर्मुख क्रियाशील आत्मिक ऊर्जा (a psychical energy working outwards) है। इसमें वे सभी कार्य, प्रसंग, घटनाएं, स्थितियां आ जाती हैं जो संकल्प के आंतरिक प्रयत्न से उद्भूत होती हैं अथवा विचार या अनुभूति की किसी प्रचेष्टा को प्रकाशित करती हैं।[८]

उपर्युक्त व्याख्या के आलोक में अरस्तू के इस कथन की कि "कार्यव्यापार में निरत मनुष्य अनुकरण के विषय हैं (objects of imitation are men in action. —Poetics II)," संगति सुकर हो जाती है। जो कुछ भी मानसिक जीवन को व्यक्त करता है, विवेकसंपन्न व्यक्तित्व को द्योतित करता है, वह 'कार्यव्यापार' (action) की सीमा में गतार्थ माना जाएगा। ऐसा कार्यव्यापार दीर्घकाल-व्यापी ही हो, यह आवश्यक नहीं; वह किसी एक क्षण में भी चरितार्थ हो सकता है; एक विशिष्ट मनोदशा या एक निश्चित परिस्थिति में भी निष्पन्न हो सकता है। बुचर का निष्कर्ष है कि अरस्तू के **कार्यव्यापार** (action) **में चरित्र, भाव** और **कार्यव्यापार**—तीनों का समाहार है, अर्थात् कार्यव्यापार शब्द के द्वारा तीनों का बोध अभीष्ट है। कार्यव्यापार की इस व्यापक परिधि में समस्त मानव-जीवन समाविष्ट हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव-जीवन सभी कलाओं का सामान्य उत्स है। जब हम मानव-जीवन कहते हैं तो मानसिक प्रक्रियाएं, आध्यात्मिक गतिविधियां, बाह्य कार्यों के उत्पादक आंतरिक स्रोत आदि सब उसमें आ जाते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार भूदृश्य (landscape), पशु आदि सौंदर्यात्मक अनुकरण के विषयों में परिगणित नहीं होते। सारा विश्व कला का उपकरण नहीं है। अरस्तू की यह मान्यता क्लासिकी यूनानी कवियों और कलाकारों के प्रयोगों और कृतियों के अनुरूप ही प्रतीत होती है। उन्होंने अपनी कृतियों में बाह्य जगत् को उतना ही स्थान दिया है जितना कार्यव्यापार की पृष्ठभूमि के रूप में अपेक्षित है, साथ ही मानव-जीवन में भावात्मक तत्त्व की दृष्टि से ग्राह्य है और मानवीय संवेदना तथा रुचि को उद्दीप्त करने में समर्थ है।

८. The praxis that art seeks to reproduce is mainly, an inward process, a psychical energy working outwards; deeds, incidents, events, situations being included under it so far as they spring from an inward act of will, or elicit some activity of thought or feeling.—p. 123.

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर अनुकरण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बुचर कहते हैं कि "कोई कलाकृति मूल का प्रतीकात्मक प्रतिरूपण नहीं, बल्कि सादृश्य अथवा पुनःसृष्टि है।"[९] और यह कथन दोनों ही स्थितियों में मान्य है—चाहे कलाकार वस्तु-जगत् के किसी ढांचे का चित्रण कर रहा हो, चाहे मनोजगत् के किसी अनधिगत आदर्श का। स्वयं अरस्तू के उदाहरणों से अनुकरण के उपरिनिर्दिष्ट निरूपण का विशदन इस प्रकार है: संकेत (sign) या प्रतीक (symbol) और संकेतित (signified) के बीच न तो कोई अनिवार्य सादृश्य होता है और न कोई नैसर्गिक संबंध। जैसे, उच्चरित शब्द मानसिक दशाओं के प्रतीक हैं, वैसे ही लिखित शब्द उच्चरित शब्दों के प्रतीक हैं। उच्चरित शब्दों और मानसिक दशाओं में अथवा लिखित शब्दों और उच्चरित शब्दों में संबंध केवल रूढ़ (conventional) हैं। इसके विपरीत मानसिक संस्कार बाह्य वस्तुओं के संकेत अथवा प्रतीक नहीं हैं बल्कि उनके अनुकरण हैं, उनकी प्रतिकृति (likeness) हैं। ऐंद्रिय प्रत्यक्षों के द्वारा बाह्य वस्तुएं मन पर अपनी छाप छोड़ा करती हैं। इस प्रकार स्मृति-पटल पर उत्कीर्ण चित्र (fantasma) की तुलना अंकन से की जाती है। इन्हीं चित्रों की भांति कला-सृष्टियों की सत्ता स्वैर कल्पनाओं (fantasma) में हुआ करती है। ये चित्र संवेदना के उत्तरवर्ती परिणाम होते हैं, जो संवेदना की आधारभूत वस्तु के हट जाने पर भी संस्कार रूप में बने रहते हैं।

इस चर्चा के आलोक में एक नया तथ्य उभर कर सामने आता है कि "कलाकृति मूल वस्तु को पुनरुत्पादित तो करती है लेकिन उस रूप में नहीं जो उसका स्वरूप है, बल्कि उस रूप में जैसी वह इंद्रियों में प्रतिभासित होती है।"[१०] इसका अर्थ यह हुआ कि कला का संबंध अमूर्त तर्क से नहीं, बल्कि संवेदना से और बिंबविधायिनी शक्ति (image-making faculty) से है; बाह्य प्रतीतियों (appearances) से है। उसमें विचार की प्रधानता नहीं होती; उसमें सत्य भी अमूर्त रूप में नहीं व्यक्त होता बल्कि मूर्त, ठोस रूप में ही व्यक्त होता है।

सौंदर्यात्मक सादृश्य (aesthetic semblance) के इस मत को प्लेटो भी मानते हैं और अरस्तू भी। दोनों में भेद यह है प्लेटो इस मत का उपयोग कला के अवमूल्यन के लिए करते हैं, अरस्तू कला के अधिमूल्यन के लिए। प्लेटो के मत में सादृश्य अनुकरण का अनुकरण होने से अयथार्थ अथवा असत्य है; अरस्तू के मत में सादृश्य वस्तु-जगत् का इंद्रिय-ग्राह्य मानसिक बिंब होने से यथार्थ और सत्य है। एक ही तत्त्व की दो सर्वथा विरोधी व्याख्याएं कैसे हो सकती हैं, इसका यह कितना अच्छा उदाहरण है! अरस्तू का कहना है कि कला वस्तुओं की यथार्थ सत्ता को व्यक्त नहीं करती, उनकी केवल ऐंद्रिय प्रतीति को व्यक्त करती है। इसलिए उसे असत्य

९. A work of art is a likeness or reproduction of an original and not a symbolic representation of it.—ATPFA, p. 124.

१०. A work of art reproduces its original not as it is in itself, but as it appears to the senses.—Poetics, p. 127.

कहना गलत है। सादृश्य (अनुकरण) किसी वस्तु पर कलात्मक रूप का अंकनमात्र है, जो दरअसल उसका अपना वैशिष्ट्य नहीं है; वस्तु से कलात्मक रूप भिन्न तत्त्व है जो उस पर केवल आरोपित हो जाता है, अतः वस्तु और रूप का भेद तिरोहित नहीं होता। जैसा बुचर ने कहा है, रूप के आरोप से अंतर यह आता है कि वह वस्तु भौतिक यथार्थ से और उसके साथ संश्लिष्ट अभावों से पृथक् हो जाती है। इसी में कला की मुक्ति-शक्ति (emancipating power) का रहस्य निहित है। वास्तविक भावों में, जीवन की कठोर आवश्यकताओं में 'अशांति की कुछ-न-कुछ' मात्रा अवश्य रहती है। कला में रूप और वस्तु के संयोग से, एक जादुई शक्ति का आविर्भाव होता है। रूप और वस्तु का यह संयोग अनुभव-जगत् अर्थात् वस्तु-जगत् में संभव नहीं होता, केवल कला-जगत् में ही संभव होता है। इस संयोग के प्रभाव के फलस्वरूप दैनिक यथार्थ का दबाव (pressure) दूर हो जाता है और कलात्मक भाव मुक्त तथा उद्रिक्त हो उठता है। चूंकि कला बिंबों (images) और प्रतीतियों (appearances) में विचरण करती है और मन में वर्तमान ढांचों के अनुसार सर्जन करती है, इसलिए इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले अध्यासों (illusions) के प्रयोग में उसे दक्ष बनाना आवश्यक है। इसी के द्वारा अपने सर्जनों (creations) में वह सामंजस्य स्थापित कर सकती है और कल्पनाओं में यथार्थ का रूप-रंग भर सकती है।

यों तो सभी कला-कृतियां किसी-न-किसी मूल का सादृश्य (अनुकरण) होने से बाह्य जगत् से संबद्ध होती हैं; फिर भी, विभिन्न कलाओं में बिंबों का प्रतिफलन विभिन्न माध्यमों से होता है और माध्यमों के भेद के कारण उनकी स्पष्टता तथा प्रभविष्णुता में भी भेद हुआ करता है। उदाहरणार्थ, संगीत केवल स्वरात्मक तथा लयात्मक होता है; स्वर और लय, दोनों अमूर्त माध्यम हैं; अतः संगीत के द्वारा संचारित भाव में उस स्पष्टता की कमी का होना स्वाभाविक है जो नृत्य या काव्य में संभव है। नृत्य में संगीत के प्रायः दोनों गुण (स्वर और लय) रहते हैं। साथ ही विभिन्न अंगों (मुख, नेत्र, हस्त, चरण आदि) की आकृतियों, मुद्राओं, चेष्टाओं आदि की सहायता से उसमें अधिक मूर्तता आ जाती है, जिसके कारण संगीत की तुलना में उसका भाव-संचार स्पष्टतर हो जाता है। चित्रकला और मूर्तिकला के उपादान मूर्त तो होते हैं किंतु जड़ और निष्क्रिय भी होते हैं; इसलिए वे आत्म-चैतन्य की विविधताओं तथा क्रमिक अभिव्यंजनाओं (successive manifestations) को प्रकट करने में असमर्थ रह जाते हैं। उनकी निश्चल एवं निरुद्ध गति किसी एक ही भाव के अंकन को हमेशा के लिए स्थिर बना देती है। कोई एक विशिष्ट क्षण पकड़ लिया जाता है और वही पूर्वापर का प्रतिनिधि बन जाता है। फिर भी, आकृति, रेखा और रंग की सहायता से मन के प्राकृतिक बिंब का महत्त्व, वह आंशिक ही क्यों न हो, बच रहता है और उसकी सार्थकता को उजागर करने में सम्मिति (symmetry) सहायक होती है। बात यह है कि संगीत, नृत्य आदि गत्यात्मक कलाओं (arts of movement) में जो स्थान लय (rhythm) का है, वही चित्र,

भास्कर्य आदि स्थित्यात्मक कलाओं (arts of repose) में सम्मिति (symmetry) का है। यदि लय गत्यात्मक कलाओं की अभिव्यंजना को स्पष्टता और मूर्तता प्रदान करती है तो स्थित्यात्मक कलाओं में वही काम सम्मिति करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यम-भेद से कलाओं में तारतम्य-भेद हुआ करता है।

अन्य कलाओं से काव्य की स्थिति भिन्न है। काव्य अपना प्रभाव मुख्यतः प्रतीकों द्वारा उत्पन्न करता है। चित्र या भास्कर्य के समान वह रूप और रंग को सीधे प्रस्तुत नहीं कर सकता; प्रतिरूपणीय वस्तुओं के बिंबों को प्रकट करने के लिए वह केवल शब्दों से काम लेता है, चाहे वे उच्चरित हों, चाहे लिखित। संकेत और संकेतित में अर्थात् शब्द और अर्थ में कोई नित्य संबंध नहीं होता जो सर्वदा और सर्वत्र एकरूप रहे; उसमें देश, काल, प्रजाति (race) आदि का भेद हुआ करता है। इसलिए सार्वभौम भाषा जैसी कोई चीज नहीं होती। स्वगत भेदों के बावजूद भाषा का माध्यम इतना सबल और समर्थ होता है कि विषयवस्तु के विस्तार की दृष्टि से, अथवा पूर्ण एवं संतोषप्रद अभिव्यक्ति की दृष्टि से अथवा मूल के बिंबों के सफल प्रतिरूपण की दृष्टि से कोई दूसरी कला उसकी समता नहीं कर सकती। काव्य के भेदों में भी नाटक इस दृष्टि से सर्वोत्तम है क्योंकि उसमें जीवन का काव्यात्मक अनुकरण पराकाष्ठा का होता है; उसमें चरित्र, भाव और कार्यव्यापार का पूर्ण अनुकरण पाया जाता है। यही कारण है कि अरस्तू ने दुःखांतक को कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान दिया है। इसका समर्थन भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा भी करती है। जैसा वामन (नवीं शताब्दी ई०) ने कहा : तत् हि चित्रं चित्रपटवत् विशेषसाकल्यात् (काव्यालंकार सूत्र), रूपक सर्व-श्रेष्ठ काव्य विधा है क्योंकि उसमें चित्रपट के समान सभी विशेषताओं का समाहार देखा जाता है। कालिदास भी रूपक को चाक्षुष देव-यज्ञ कहते हैं : देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। (मालविकाग्निमित्र, १/२)। नाटक की यह विशेषता तो स्पष्ट ही है कि उसमें सब कुछ चाक्षुष अर्थात् प्रत्यक्ष रूप में अनुभूति का विषय बनता है। साथ ही नृत्य और संगीत के योग से उसकी रमणीयता और भी बढ़ जाती है। इन दोनों विशेषताओं से वंचित होने के कारण महाकाव्य भी नाटक से पीछे छूट जाता है। नाटक की श्रेष्ठता का एक और कारण है : नाटक के अतिरिक्त काव्य की अन्य सभी विधाओं से आनंद केवल श्रवण से ही प्राप्त किया जा सकता है किंतु नाटक में श्रवण के साथ प्रेक्षण का भी साहचर्य होता है जो उसको मूर्त, अतः अधिक आकर्षक, बना देता है।

काव्य अनुकरणात्मक कला के रूप में श्रेष्ठता का भागी इसलिए भी है कि उसमें मानव जीवन के सामान्य तत्त्व (universal element) की अभिव्यक्ति होती है। अरस्तू के अनुसार ललित कला मूल के अस्थायी (transient) और विशेष (particular) धर्मों को छोड़कर उसके स्थायी (permanent) और सामान्य (universal) धर्मों को ही अभिव्यक्त करती है। दूसरे शब्दों में कहें कि व्यक्ति में निहित सामान्य को ही वह ग्रहण करती है। तात्पर्य कि कला प्रकृति द्वारा प्रस्तुत नग्न यथार्थ का परि-

त्याग कर, और उसके विकास की अवरोधक घटनाओं तथा परिस्थितियों से उसे मुक्त कर यथार्थ के परिष्कृत रूप को प्रकट करती है। इस दृष्टि से देखने पर यथार्थ और आदर्श का विरोध मिट जाता है। यथार्थ ही परिष्कृत होकर आदर्श बन जाता है। अत: प्लेटो का आदर्श-विषयक आग्रह अबाधित भी रह जाता है और यथार्थ से उसका संबंध-विच्छेद भी नहीं होता। प्लेटो यथार्थ का अनुकरण अर्थात् अनुकरण का अनुकरण होने से काव्य को गर्हणीय मानते हैं किंतु अरस्तू के अनुसार कवि यथार्थ को प्रस्तुत करता ही नहीं, वह तो उसके सादृश्य पर एक नयी वस्तु गढ़ देता है; उसमें यथार्थ का अनुकरण नहीं, नया निर्माण होता है जो यथार्थ से अधिक सुंदर, अधिक परिष्कृत हुआ करता है और इस प्रकार आदर्श की कोटि में पहुंच जाता है। अत: प्लेटो की यह मान्यता कि आदर्श यथार्थ से उच्चतर और श्रेष्ठतर होता है, अखंडित रह जाती हैं। निष्कर्ष कि कला सामान्य के अनुकरण द्वारा आदर्श का ही अनुकरण करती है (यथार्थ का नहीं)। तो अंतिम लक्षण यह हुआ कि **कलाकृति ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत रूपों में मानव-जीवन का—अर्थात् चरित्र, भाव और कार्यव्यापार का—आदर्शीकृत प्रतिरूपण है।**"[११]

ऊपर की समीक्षा से स्पष्ट है कि अरस्तू काव्य के संदर्भ में जब अनुकरण शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ उत्पादन या सर्जन ही उन्हें अभिप्रेत है। इस उत्पादन या सर्जन के लिए प्रकृतिगत विषय का चयन, मिश्रण और अलंकरण ही पर्याप्त नहीं है, उसमें कुछ जोड़ या घटा देना ही काफी नहीं है, बल्कि विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित कर उनमें **आदर्शात्मक एकान्विति** (ideal unity) लाना भी आवश्यक है। इस दृष्टि से अनुकरण एक सर्जनात्मक व्यापार है। वह बिंब के रूप में मूर्त की ही अभिव्यक्ति (expression of the concrete thing under an image) है। सामान्य का ग्रहण और सरल तथा ऐंद्रिय रूप में उसका पुनरुत्पादन ऐंद्रिय प्रत्यक्षों द्वारा पूर्व-परिचित यथार्थ का प्रतिफलन नहीं है, बल्कि वह प्रकृति का प्रतिस्पर्धी (rival) है क्योंकि वह प्रकृति के अपूर्ण उद्देश्यों को पूर्ण करता है और उसकी असफलताओं का निराकरण करता है।

बुचर के अनुसार अरस्तू की अनुकरण-संबंधी मान्यता के चार चरण हैं :

१. कलाकृति मूल वस्तु का **पुनरुत्पादन** है।

२. कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन तो है किंतु उसके मौलिक रूप में नहीं, बल्कि उस रूप में जैसी वह **ज्ञानेंद्रियों को प्रतीत** होती है। कहने का अभिप्राय यह कि कोई वस्तु जैसी रहती है उसी रूप में कलाकृति में अभिव्यक्त नहीं होती, बल्कि ज्ञानेंद्रियों की सहायता से मन पर उसका जो बिंब अंकित होता है, उसी के अनुरूप वह कलाकृति में अभिव्यक्त होती है, अर्थात् कलाकृति वस्तु का प्रतिफलन नहीं, कलाकार के **मनोगत बिंब का प्रतिफलन है।**

११. A work of art is an idealised representation of human life—of character, emotion, action—under forms manifest to sense.—ATPFA, p. 153.

३. कलाकृति मानव जीवन के **सामान्य पक्ष** का अनुकरण करती है (विशेष या व्यक्तिनिष्ठ पक्ष का नहीं)।
४. कलाकृति मानव जीवन का **आदर्शीकृत प्रतिरूपण** है। इस प्रकार अनुकरण किसी एक अर्थ का वाचक नहीं है, उसका पूर्ण अर्थ कई तत्त्वों के योग से व्यक्त होता है, जिनमें प्रमुख हैं **पुनरुत्पादन, मानस बिंब,** जीवन का **सामान्य** तथा **आदर्श** पक्ष। अरस्तू के मन में इन तत्त्वों के मिश्रित रूप का ही नाम अनुकरण है जो प्लेटो के अनुकरण से सर्वथा भिन्न कोटि की चीज है। अतः वह उस हेय अर्थ से भी मुक्त है जो प्लेटो के मन में रहा है।

लगे हाथ प्लेटो और अरस्तू की काव्य-संबंधी मान्यताओं की तुलनात्मक समीक्षा कर लें।

१. प्लेटो मूलतः दार्शनिक थे और अरस्तू वैज्ञानिक। अतः दोनों के दृष्टिकोण में अंतर था। प्लेटो ने जिस भौतिक-विज्ञान की खिल्ली उड़ायी थी, उसका और उसके साथ अन्य विज्ञानों का भी अरस्तू ने अभिनिवेशपूर्वक अध्ययन किया था। इसलिए जहां **प्लेटो** के लिए केवल **प्रत्यय-जगत्** सत्य था, वहां **अरस्तू** के लिए **वस्तु-जगत्** भी उतना ही सत्य, अतः मीमांस्य, था।
२. प्लेटो की दृष्टि **आदर्शपरक** थी, अरस्तू की **यथार्थपरक**। अरस्तू ने विज्ञान की तरह ही कला और काव्य के उपादानों—विषय, माध्यम तथा पद्धति—का विश्लेषण किया और अपने निष्कर्षों को वस्तुनिष्ठ रूप में उपस्थापित किया। उस उपस्थापन में उनकी अपनी रुचि-अरुचि, मत-विमत नहीं के बराबर है।
३. प्लेटो को काव्य सत्य से त्रिधा अपेत लगा था क्योंकि उसमें आदर्श की अभिव्यक्ति नहीं थी। काव्य को उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ (particular) रूप में भी देखा था। उन्हीं के तर्कों की अभिनव व्याख्या कर अरस्तू ने प्रमाणित किया कि काव्य न तो सत्य से अपेत है और न व्यक्तिनिष्ठ है। वह **सत्य** भी है, साथ ही **सामान्य** भी है। सत्य तो इतना है कि इतिहास से भी ऊंचे स्थान का अधिकारी है।
४. प्लेटो की मान्यता थी कि महत्तम और सुंदरतम कार्य प्रकृति द्वारा निष्पादित होते हैं और हीनतर-लघुतर कला के द्वारा। अरस्तू ने सिद्ध किया कि जो कार्य प्रकृति से अनिष्पादित रह जाते हैं, उन्हें कला पूरा करती है। कला प्रकृति की कमी को पूरा करने का, उसकी त्रुटियों को दूर करने का साधन है। अतः कला प्रकृति से अधिक महत्त्वपूर्ण है।
५. प्लेटो का कहना था कि कला भ्रम उत्पन्न कर मन को छलती है और तर्कशक्ति को क्षीण करती है। अरस्तू ने बल देकर कहा कि कला-जनित भ्रम मन को धोखे में नहीं डालता और न उसकी तर्कशक्ति को क्षीण करता है, बल्कि वह उस सर्वव्यापी आदर्श (immanent idea) को प्रतिबिंबित करता है, जो भौतिक सत्ता के विविध रूपों में आबद्ध रहने से पूर्णतः एवं सम्यक् अभिव्यक्त नहीं हो पाता।

६. प्लेटो के लिए कला को, उसके नैतिक और राजनीतिक प्रभावों से अलग रख कर, देखना असंभव था। अरस्तू उन प्रभावों से अनवगत हों, ऐसी बात नहीं है किंतु उनकी लेखन-पद्धति की यह विशेषता है कि वे जिस शास्त्र की सीमा में किसी विषय पर विचार करते हैं, उसे उसकी सीमा में ही रखते हैं। दुःखांतक का उपयोग राजनीतिक साधन के रूप में किया जा सकता है अथवा उसके संवादों में राजनीतिक सिद्धांतों या प्रेरणाओं को भरा जा सकता है किंतु दोनों ही स्थितियों में उसका उपयोग कलापरक मानना संगत नहीं होगा, उसे राजनीतिशास्त्र या भाषणशास्त्र का ही अंग कहना समीचीन होगा। राज्य के संदर्भ में कला का और नाटक के संदर्भ में संवाद (विचार) का विचार राजनीतिशास्त्र और भाषणशास्त्र के अंतर्गत ही रखना उचित होगा क्योंकि एक में राजनीतिशास्त्र के सिद्धांत चर्चित होंगे और दूसरे में अवसरोपयुक्त सशक्त कथन-भंगी समाविष्ट होगी। इसलिए अरस्तू की दृष्टि में विषय-निरूपण का आधार शास्त्र-भेद है। प्लेटो में इस भेद की अवहेलना हो जाती है।[१२]

७. रिचर्ड मैकिअन ने दोनों विचारकों के विभिन्न ग्रंथों में एक ही विषय के प्रतिनिर्देश (cross-reference) के खतरे का भी संकेत किया है।[१३] प्लेटो एक ही वैचारिक शृंखला का सर्वत्र निर्वाह नहीं करते। उदाहरणार्थ, 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' में उन्होंने काव्य के विचार-प्रसंग में राजनीतिक जीवन से संबद्ध अनेक सूत्रों को सामने रखा है; 'फ़ेद्रुस' में काव्य की मीमांसा अन्य कलाओं के साथ की है; 'इओन' में काव्य की चर्चा ईश्वरीय प्रेरणा की पृष्ठभूमि में हुई है। इतना ही नहीं, 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' में भी काव्य की चर्चा में दृष्टिभेद है क्योंकि 'रिपब्लिक' में आदर्श गणराज्य की स्थापना का प्रसंग है और 'लॉज़' में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विशेषताओं का। इसलिए एक प्रसंग में प्रयोजन की भिन्नता के कारण जो बात कही गयी है, उसे दूसरे प्रसंग में बिना आवश्यक संशोधन-परिवर्तन के मिला देना असंगत भी हो जाता है और विरोधी भी। अतः प्लेटो के काव्यविषयक सिद्धांत का निर्माण विभिन्न कृतियों से संकलित उक्तियों को जोड़कर नहीं किया जा सकता। आलोचना का इतिहास साक्षी है कि ऐसे प्रयासों से सिद्धांत-निर्माण के बदले भ्रांतियों की ही सृष्टि हुई है, और जो कुछ सामने आया है, वह असंबद्ध उक्तियों का संकलन-मात्र है। इसके विपरीत अरस्तू ने कला या अनुकरण शब्द का उपयुक्त स्थलों पर स्वतंत्र विचार किया है। अतः प्लेटो के जैसा विचार-सांकर्य उनमें नहीं दीखता। अरस्तू की अन्य कृतियों से जहां कहीं इन शब्दों का सांकर्य दिखायी भी देता है, वहां वे इनके अर्थ-निरूपण में प्रायः पूरक और सहायक का ही काम करती हैं। यों, प्रकरण से विच्छिन्न अरस्तू की उक्तियों को भी एकसाथ मिला देना प्लेटोवाली स्थिति से तत्त्वतः

१२. The Concept of Imitation in Antiquity by Richard MeKeon in Critics and Criticism—ed. by R. S. Crane, p. 135.

१३. Ibid, p. 137.

भिन्न नहीं होगा। अरस्तू की उक्तियों को पूरक रूप में ही ग्रहण करना उचित होगा, नियामक या सिद्धांत-वाक्य के रूप में नहीं।

८. प्लेटो ने अनुकरण का संबंध वस्तु से जोड़ा था, अरस्तू ने अनुकरण का संबंध **कार्यव्यापार** से जोड़ा। चूंकि प्लेटो के मत में वस्तु प्रत्यय का अनुकरण है, और काव्य वस्तु का अनुकरण, अतः सत्य से दूर होने के कारण वह मिथ्या है। अरस्तू ने प्रत्यय और वस्तु के विरोध का परिहार कर कहा कि प्रातिभासिक जगत् नित्य प्रत्यय का अनित्य, अस्थायी छायामात्र नहीं है। परिवर्तन तो प्रकृति का शाश्वत नियम है; जब तक उसमें परिवर्तन की शक्ति न हो तब तक वह परिवर्तित हो कैसे सकती है? अतः परिवर्तन प्रकृति की आधारभूत प्रक्रिया है। परिवर्तन को परिवर्तनीय से अलग करके नहीं रखा जा सकता। तात्पर्य कि प्रकृति वस्तुओं का केवल बाह्य रूप नहीं है और न प्रत्यय (idea) का अनुकरण है। अरस्तू की पद्धति में प्लेटो की प्रत्ययात्मक सत्ता (ideal being) अमान्य है। प्रकृति सर्जनात्मक शक्ति के रूप में, अतः गत्यात्मक शक्ति के रूप में, सभी वस्तुओं में विद्यमान है और काव्य उसी का अनुकरण करता है।

९. प्लेटो का काव्य-विरोधी निर्णय केवल उसकी **विषय-वस्तु** (content or matter) को लेकर था। प्रश्न है कि काव्य को केवल विषय-वस्तु के निकष पर परख कर ही उसे ग्राह्य या त्याज्य ठहराया जा सकता है? एकमात्र विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य का विचार निश्चय ही एकांगी है। अरस्तू ने व्यापक दृष्टि का परिचय देते हुए पोएटिक्स के आरंभ में ही काव्य-विचार के तीन आधार प्रस्तुत किये—**माध्यम, विषयवस्तु** और **पद्धति**। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में माध्यम और पद्धति के विचार के बिना कोरी विषय-वस्तु का विचार अपूर्ण ही नहीं, अयुक्त भी है।

१०. प्लेटो ने कवि को 'अनुकर्ता' बताया था; अरस्तू ने कवि का 'कर्ता' सिद्ध किया चूंकि प्राकृतिक सृष्टि के समान वह भी नवीन सृष्टि करता है। 'तुष्यतु दुर्जन-न्याय' से अरस्तू ने कहा कि यदि कोई चाहे तो कवि को कर्ता के साथ अनुकर्ता भी कह सकता है: काव्य का अर्थात् कथानक का सर्जक होने से वह कर्ता है और चूंकि काव्य का कथानक कार्यव्यापार का अनुकरण है, इसलिए कवि को अनुकर्ता भी कहा जा सकता है।

कर्ता-अनुकर्ता का यह विवाद ऐसा चला कि आज तक शांत नहीं हुआ और एक से एक दार्शनिकों, सौंदर्यशास्त्रियों और आलोचकों ने इसमें भाग लिया। रेने देकार्त (Rene' Descartes : १५९६-१६५०), जॉन लॉक (John Locke : १६३२-१७०४), जॉर्ज बर्कले (George Berkeley : १६८५-१७५३), डेविड ह्यूम (David Hume : १७११-१७७६), इम्मानुएल कांट (Immanuel Kant : १७२४-१८०४), सैमुअल टेलर कॉलरिज (Samuel Taylor Colridge : १७७२-१८३४) आदि का समर्थन पाकर 'कर्ता' का पलड़ा क्रमशः भारी होता गया। कॉलरिज ने तो गौण कल्पना (Secondary Imagination) की सहायता से निष्पन्न

कवि की सृष्टि को ईश्वर की सृष्टि के समकक्ष बिठा दिया।

प्लेटो और अरस्तू के बीच काव्य या अनुकरण से संबद्ध और भी अनेक भेद हैं, किंतु उनके विस्तार में जाना ग्रंथ-गौरव का कारण होगा।

अनुकरण के विषय में मध्ययुग से आज तक पश्चिम की विभिन्न भाषाओं में जितना कुछ लिया गया है, उसका सूची-बंधन भी अशक्य है। इसमें संतुलित विचार भी हुए हैं और अतिरंजित भी। उदाहरणार्थ, जहां अरस्तू का कहना है कि "कला प्रकृति का अनुकरण है" वहां प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि शार्ल बोदलेर (Charles Baudelaire : १८२१-६७) अनुकरण को कला का शत्रु घोषित करने में भी नहीं हिचकते। वे एक निबंध (१८५९) में लिखते हैं कि "हाल के कई वर्षों में हम यह कहते सुन रहे हैं कि 'प्रकृति का अनुकरण करो; केवल प्रकृति का अनुकरण करो। प्रकृति के उत्तम अनुकरण से बढ़कर न तो कोई अधिक आनंद है और न सुंदर विजय'। और यह मत (जो कला का शत्रु है) केवल चित्रकला पर ही लागू नहीं हुआ, बल्कि सभी कलाओं पर लागू हुआ, यहां तक कि उपन्यास और काव्य पर भी। जिसका अस्तित्व है, उसका वर्णन बेकार भी है और उबाऊ भी, क्योंकि कुछ भी, जिसका अस्तित्व है, मुझे संतुष्ट नहीं करता। तुच्छ की तुलना में मैं अपनी कल्पना के राक्षस को भी अधिक पसंद करूंगा।"[१४] यहां बोदलेर ने प्रकारांतर से अरस्तू के सिद्धांत को ही प्रस्तुत किया है। जो है (exists) उसका अनुकरण व्यर्थ है; अनुकरण यथार्थ से अधिक कल्पना पर आश्रित तत्त्व है; तात्पर्य कि अनुकरण आदर्श का होता है अर्थात् उसका "जो घटित हो सकता है।"

१९वीं शताब्दी के अंतिम चरण में कलावाद के अन्यतम प्रतिष्ठापक ऑस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde : १८५४-१९००) ने The Decay of Lying (मिथ्या-भाषण का ह्रास) शीर्षक एक लेख लिखा। यह लेख सिरिल और विवियन नामक दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप के रूप में है। दोनों एक पुस्तकालय में हैं। सिरिल विवियन से प्रस्ताव करता है कि खुली छत पर चलें, वहां धूम्रपान भी करेंगे और प्रकृति का आनंद भी लेंगे। विवियन, यह कहते हुए कि प्रकृति में मुझे कोई आनंद नहीं आता, इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है और कहता है : "मेरा अनुभव है कि जितना अधिक हम कला का अध्ययन करते हैं, उतना ही कम हम प्रकृति में रुचि लेते हैं। कला हमारे सम्मुख वस्तुतः क्या प्रकट करती है—प्रकृति में व्यवस्था का अभाव, उसका विचित्र अनगढ़पन (भद्दापन), उसकी असाधारण एकरसता (monotony), उसकी सर्वथा अपरिष्कृत स्थिति। प्रकृति के उद्देश्य भले ही अच्छे हों, किंतु जैसा अरस्तू ने

१४. In recent years we have heard it said in a thousand different ways, 'copy nature, only copy nature. There is no greater delight, no finer triumph than an excellent copy of nature'. This doctrine (the enemy of art) was alleged to apply not only to painting but to all the arts, even to the novel and to poetry. It is useless and tedious to represent what exists, because nothing that exists satisfies me. (I prefer) the monsters of my fancy to what is positively trivial. —The Interests of Criticism, Adams, H., p. 33.

कहा है, वह उन्हें पूरा नहीं कर सकती।"[१५]

वाइल्ड अरस्तू से आगे बढ़कर निम्नलिखित सिद्धांत सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं :

१. कला कला के अतिरिक्त और किसी चीज को अभिव्यक्त नहीं करती।
२. सभी दूषित (बुरी) कलाएं जीवन और प्रकृति की ओर लौटने से, और आदर्श के रूप में उन्हें स्वीकार करने से, उत्पन्न होती हैं।
३. कला जितना जीवन का अनुकरण करती है, उससे अधिक जीवन कला का अनुकरण करता है।
४. कला का उद्देश्य है 'मिथ्याभाषण' अर्थात् सुंदर, असत्य वस्तुओं का वर्णन।

अरस्तू का अनुसरण करते-करते वाइल्ड उनके अनुकरण-विषयक सूत्र को उलट देते हैं। अरस्तू का कहना था कि "कला जीवन (प्रकृति) का अनुकरण करती है"; वाइल्ड कहते हैं कि "जीवन कला का अनुकरण करता है।" विगत ढाई हजार वर्षों में "अनुकरण" ने कितनी दूरी तै की है, इसका यह कितना दिलचस्प उदाहरण है? रुचि-भेद से एक ही चीज के कितने रूप-भेद हो जाते हैं?

विरेचन (Katharsis)

यूनानी 'कथार्सिस' का हिंदी-रूपांतर 'विरेचन' है। (अंग्रेजी में कथार्सिस में K और C दोनों का प्रयोग होता है।) 'विरेचन' भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) का पारिभाषिक शब्द है और 'कथार्सिस' यूनानी चिकित्साशास्त्र का। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में वात, पित्त, कफ, ये तीन दोष (विकार) होते हैं। जब तक ये आनुपातिक स्थिति में रहते हैं तब तक शरीर स्वस्थ रहता है और इनमें किसी के उपचय-अपचय अर्थात् वृद्धि-ह्रास से शरीर में रोग उत्पन्न होता है। रोग के उपशम का उपाय है उपचित-अपचित दोषों को पुनः साम्यावस्था में अर्थात् आनुपातिक स्थिति में ला देना। शरीर में उपचित या संचित दोष को निकालने के लिए कभी-कभी औषध ही पर्याप्त नहीं होता, कुछ शारीरिक क्रियाएं भी आवश्यक होती हैं। ये क्रियाएं अनेक प्रकार की हैं, अतः इनकी पारिभाषिक संज्ञाएं भी अलग-अलग हैं। उदाहरणार्थ, एक क्रिया **वमन** (कै) कहलाती है। आमाशय में संचित मल के निष्कासन के लिए 'वमन' कराया जाता है। पक्वाशय में संचित मल को **विरेचन** (दस्त) की सहायता से निकाला जाता है। इसी प्रकार मूत्राशय की स्वच्छता के लिए 'वस्तिकर्म' का उपयोग किया जाता है।

तो **विरेचन** मल-निष्कासन के द्वारा शरीर-शोधन तथा त्रिविध दोषों में साम्यावस्था के निष्पादन की अन्यतम प्रक्रिया या विधि है। इसकी सहायता से अतिरिक्त, व्याधिकारक मल बाहर निकल जाता है और मल के निकल जाने से शरीर में फिर से संतुलन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप व्याधि मिट जाती है और शरीर स्वस्थ हो जाता है। स्व-थ का अर्थ ही है अपने में रहने वाला। अपने में रहना बाधित होता है

१५. The Interests of Criticism, Adams, H., p. 38.

शरीर में विजातीय द्रव्य के आ जाने या बढ़ जाने से। उसके निकल जाने पर शरीर पुनः स्वस्थ हो जाता है अर्थात् अपनी प्राकृतिक स्थिति में पहुंच जाता है।

स्वास्थ्य के लिए जिस प्रकार शारीरिक मल का निष्कासन-शोधन जरूरी है, उसी प्रकार मानसिक मल का निष्कासन-शोधन भी। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, क्रूरता आदि मानसिक मल भी मनुष्य को अस्वस्थ बनाया करते हैं। इसलिए इनकी भी मात्रा संतुलित रखनी आवश्यक है। इसकी भी विधियां शास्त्रों में विहित हैं।

आयुर्वेद में विरेचन शब्द का पारिभाषिक प्रयोग शारीरिक मल के शोधन के लिए ही रूढ़ है, किंतु अर्थ-विस्तार के द्वारा उसका प्रयोग भाव-शोधन के लिए भी चल पड़ा है, विशेषतः अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'कथार्सिस' के संदर्भ में।

'अनुकरण' के समान 'कथार्सिस' के भी अर्थ को लेकर पश्चिम में बड़ा विवाद रहा है। इसकी धार्मिक, नैतिक, मानसिक सभी प्रकार की व्याख्याएं हुई हैं। उस पूरे प्रपंच की चर्चा यहां न तो आवश्यक है और न शक्य। अरस्तू की दुःखांतकीय परिभाषा के स्पष्टीकरण के लिए जितना विवक्षित है, हम उतने तक ही इसे सीमित रखेंगे।

'कथार्सिस' शब्द अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' में केवल एक बार आया है और वहां भी अरस्तू ने स्वयं इसकी कोई व्याख्या नहीं की है या की हो तो आज वह उपलब्ध नहीं है। यों, अपने 'राजनीतिशास्त्र' (५/८) में उन्होंने यह अवश्य कहा है कि इस शब्द की विस्तृत व्याख्या मैं 'काव्यशास्त्र' में करूंगा। लेखक का अभिमत अज्ञात होने से अटकलों का द्वार उन्मुक्त रहा है और जिसके मन में जो आया है, उसे उसने अरस्तू का मंतव्य कह कर प्रस्तुत कर दिया है। बुचर का तो यहां तक कहना है कि विगत तीन सौ वर्षों में दुःखांतकीय परिभाषा का प्रायः प्रत्येक शब्द गलत व्याख्या का शिकार हुआ है। अरस्तू ने 'कथार्सिस' शब्द का प्रयोग दुःखांतक के प्रभाव के प्रसंग में किया है। परिभाषा का अपेक्षित अंश है, "दुःखांतक ऐसे कार्यव्यापार का अनुकरण है⋯जो करुणा और भय को उद्‌बुद्ध कर इन भावों का उचित विरेचन करे।" (Tragedy is an imitation of an action...through pity and fear affecting the proper purgation of these emotions.)

'कथार्सिस' शब्द अरस्तू द्वारा उद्‌भावित नहीं है। यह प्राचीन शब्द है जिसका अनेक प्रसंगों में प्रयोग हुआ है। प्लेटो ने भी इसका प्रयोग किया है। किंतु जैसी अरस्तू की पद्धति है, वे प्राचीन शब्दों में नवीन अर्थवत्ता भरकर नवीन संदर्भों में उनका प्रयोग किया करते हैं।

सदियों तक यह कहा जाता रहा कि भावों के विरेचन (शोधन) (purification of the passions) के द्वारा दुःखांतक नैतिक प्रभाव उत्पन्न करता है। वह प्रभाव क्या है और उसके लिए दुःखांतक किन भावों का उपयोग करता है, इस संबंध में अनेक मत-मतांतर हैं। पिएर कोर्नेइ (Pierre Corneille : १६०६-८४), श्ज़ां रासीन (Jean Racine : १६३९-९९), गोटहोल्ड एफ्राइम लेसिंग (Gotthold Ephraim Lessing : १७२९-८१) जैसे प्रख्यात फ्रांसीसी या जर्मन नाटककारों ने (लेसिंग को

मेकॉले ने "निर्विवाद रूप से यूरोप का प्रथम आलोचक" कहा है) 'कथार्सिस' के भले ही भिन्न-भिन्न समाधान किये किंतु इसमें सभी एकमत हैं कि नाटक का प्रयोजन नैतिक ही होता है।

डॉ० कांतिचंद्र पांडेय ने अपने 'कम्पेरेटिव ईस्थेटिक्स' (खंड २) में 'कथार्सिस' के धार्मिक प्रयोग के कई उदाहरण दिए हैं। जैसे, किसी मृतक के घर जो बाहर के लोग आते थे, वे मृतक के स्पर्श से अपने को अपवित्र मानकर द्वार पर रखे जलपात्र से (जिसका जल दूसरे घर से लाया गया होता था) अपने को पवित्र करने के बाद वापस जाते थे। (भारत में भी शव का दाह-संस्कार होने के बाद अरथी के साथ जाने वाले स्नान करते हैं। परिवार के लोगों का आशौच श्राद्ध के दिन तक चलता है।) एक अन्य प्रकार के धार्मिक कथार्सिस का उल्लेख अरस्तू ने अपने 'राजनीतिशास्त्र' (५/८) में किया है। कभी कोई किसी देवता द्वारा आविष्ट (possessed) हो जाता था। (भारत के गांवों में भी, खासकर दशहरे के अवसर पर, देवता को 'खेलाते-खेलाते' कोई आविष्ट (possessed) हो जाता है और उस स्थिति में वह जो करता है, वह सह्य और क्षम्य माना जाता है। उस समय गाजे-बाजे खूब जोर से बजते हैं जो उसके आवेश को बढ़ा देते हैं और फिर उन्हीं से आवेश धीरे-धीरे शांत भी हो जाता है।) यूनान में कुछ लोगों पर धार्मिक हर्षोन्माद चढ़ता था जिसे उग्र संगीत के द्वारा शांत किया जाता था। इस प्रसंग में संगीत के विरेचक प्रभाव (kathartic effect) की बात अरस्तू ने कही है। संगीत के तीन प्रभावों का वे उल्लेख करते हैं—एक प्रकार का संगीत वह है जो नैतिक प्रभाव या शैक्षिक मूल्य उत्पन्न करता है। दूसरे प्रकार के संगीत का उपयोग आनंद के लिए होता है। तीसरे प्रकार का संगीत अत्यंत उग्र और अशांत होता है और धार्मिक आवेश को शांत करने के काम में आता है। इस तीसरे प्रकार के संगीत को अरस्तू ने 'विरेचक' कहा है। यह एक प्रकार की शारीरिक उत्तेजना है जो धार्मिक उन्माद के निस्सरण का मार्ग खोलती है। इसके फलस्वरूप "आविष्ट व्यक्ति प्राकृतिक विश्राम की स्थिति में आ जाते हैं, जैसे उनकी विरेचनात्मक चिकित्सा हुई हो।" इसका भावात्मक परिणाम है 'निर्दोष आनंद'। राजनीतिशास्त्र में भी करुणा और भय के विरेचन की बात आयी है; संगीत के विरेचनात्मक प्रभाव की चर्चा भी उठी है किंतु दोनों में किसी का सविस्तर निरूपण नहीं हुआ है और काव्यशास्त्र में सविस्तर निरूपण का आश्वासन देकर भी अरस्तू ने विरेचन पर बिना कुछ लिखे प्रकरण का उपसंहार कर दिया है।

ध्यान में रखना है कि काव्यशास्त्र में विरेचन की चर्चा न तो नैतिक अर्थ में हुई हैं, न धार्मिक अर्थ में। वहां का संदर्भ मानसिक या भावात्मक है, साथ ही कलात्मक भी। इसलिए कलात्मक, भावात्मक विरेचन का ही आधार ढूंढ़ना संगत होगा। जैसा हमने देखा है, अरस्तू के कला-संबंधी अनेक मंतव्य प्लेटो द्वारा उठायी गयी आपत्तियों के समाधान के रूप में हैं। विरेचन-सिद्धांत को भी, प्लेटो की एक ऐसी ही आपत्ति की पृष्ठभूमि में देखना विषय की स्पष्टता में सहायक होगा। प्लेटो ने नाटक (दु:खांतक) के प्रभाव की अवांछनीयता जिन कारणों से प्रतिपादित की थी, उनकी

समीक्षा हो चुकी है। उनका कहना था कि दुःखांतक भावों का पोषण और सिंचन कर मनुष्य के पौरुष को क्षीण करता है और उसे निर्बल बनाता है; उच्चतर तत्त्वों के बदले निम्नतर तत्त्वों को उभार कर आत्मा में अराजकता उत्पन्न करता है; और, तर्क का स्थान भावना को दे देता है। अरस्तू ने गुरु की इस आपत्ति के निराकरण का भी उपक्रम किया। प्लेटो ने जिसे दोष सिद्ध किया था, अरस्तू ने उसे ही गुण के रूप में प्रस्तुत किया। प्लेटो ने कहा कि भाव का अतिरेक न आत्मा के लिए हितकर है, न बुद्धि के लिए और न मन के लिए। अरस्तू ने कहा कि वस्तुतः भावों का दमन हितकर नहीं, हानिकर है; उन्हें दमित करने के बदले संतुलित रखना वांछनीय और आवश्यक है। (इसमें फ्रायड के मनोविश्लेषण का पूर्वाभास देखा जा सकता है।) दुःखांतक भावों का उद्रेक करता है, यह ठीक है, पर वह उद्रेक स्थायी नहीं होता, बल्कि उसके द्वारा उच्चावच भावों में सामंजस्य और संतुलन आता है। भावों की उद्दीप्ति साध्य नहीं, बल्कि भावों के उपशम का ही साधन है। दुखांतक करुणा और भय के भावों को कृत्रिम रूप से उद्रिक्त कर मन में संचित करुणा तथा भय के भावों को निकाल देता है जिससे मन एक प्रकार की आनंदप्रद विश्रांति का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति आत्मा, बुद्धि और मन, तीनों के लिए लाभदायक है क्योंकि इससे भावात्मक रुग्णता दूर हो जाती है। यह व्याख्या होमियोपैथी के अनुकूल है जिसका सिद्धांत है—'समः समं शमयति : सम समका शमन करता है।' करुणा और भय के भाव उद्रिक्त होकर मन में विद्यमान करुणा और भय का शमन कर देते हैं जिससे मन पूर्वापेक्षया स्वस्थ हो जाता है, साथ ही आनंद भी प्राप्त करता है।

होमियोपैथी का सिद्धांत (समः समं शमयति) चिकित्साविज्ञान की एकमात्र पद्धति नहीं है। भारतीय आयुर्वेद अथवा यूनानी चिकित्साविज्ञान बहुत कुछ 'विषमः समं शमयति' पर आधारित है। उदाहरणार्थ, गर्मी का उपचार ठंडी चीजों से करते हैं और ठंड को गर्मी से दवाते हैं। प्लेटो ने 'लॉज' में इस विषमोपचार का संकेत किया है। शिशुओं के लालन-पालन के नियमों का निर्देश करते हुए वे कहते हैं कि उन्हें निरंतर इतना गतिशील रखना चाहिए कि उन्हें लगे कि समुद्र की लहरों पर अविराम उछल रहे हैं। उग्र संगीत के द्वारा धार्मिक आवेश के उपशम का दृष्टांत देते हुए वे कहते हैं कि बच्चे मौन से नहीं, संगीत से सोते हैं; शांत रखने से नहीं, उछालने से उन्हें जल्दी नींद आती है। (भारतीय शिक्षण-संस्थाओं की स्थिति देखने पर प्लेटो की बात सही ही लगती है। छात्रों को कुछ करने को नहीं है; उनके दिमाग और देह निष्क्रिय हैं; इसलिए तोड़फोड़, प्रदर्शन आदि में सक्रिय होकर वे अपने को गतिशील बनाए रखने का प्रयास करते हैं। यदि देह और दिमाग को व्यस्त रखने के साधन उपलब्ध हो जाएं तो उपद्रव के लिए समय ही नहीं बचेगा।) तो, प्लेटो के अनुसार बाह्य उत्तेजना की सहायता से आंतरिक उत्तेजना और अशांति का निराकरण होता है। नाटक के अभिनय में प्रस्तुत करुणा और भय के स्थल मन में प्रसुप्त करुणा और भय को जगा देते हैं और इससे क्रमशः उनका वेग कम हो जाता है। जो बात प्लेटो ने केवल संगीत और शिशु-पालन के प्रसंग में कही थी, उसे अरस्तू ने अपनी साधा-

रणीकरण की नैसर्गिक क्षमता से व्यापक आयाम प्रदान कर काव्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत बना दिया। चूंकि वे चिकित्सक के पुत्र थे, इसलिए चिकित्सा के सैद्धांतिक-व्यावहारिक पक्षों को बचपन से ही देखते-सुनते आये होंगे और विरेचन से परिचित भी रहे होंगे। फलतः चिकित्साशास्त्र की इस पद्धति का काव्यशास्त्र में विनियोग उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक था। प्रशंसा उनकी इसमें है कि चिकित्साशास्त्र के एक शब्द को उन्होंने सौंदर्यशास्त्र के एक अर्थगर्भ, स्थायी उपकरण में परिणत कर दिया।

बुचर ने विरेचन की व्याख्या करते हुए कहा है कि "वास्तविक जीवन में करुणा और भय के भाव दूषित और कष्टप्रद तत्त्वों से युक्त रहते हैं। दुःखांतकीय उत्तेजना में दूषित अंश के निकल जाने से वे कष्टप्रद के बदले आनंदप्रद बन जाते हैं। जैसे-जैसे कार्यव्यापार आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे पहले उत्तेजित और बाद में उपशमित निम्नतर भाव उच्चतर, परिष्कृत भावों में परिवर्तित होते जाते हैं। करुणा और भय में वर्तमान कष्टकर तत्त्व निकल जाते हैं; बल्कि यों कहें कि वे भाव स्वयं ही शोधित (विरेचित) हो जाते हैं। इस दृष्टि से दुःखांतक का कार्य केवल करुणा और भय का निर्गम-मार्ग तैयार करना नहीं है बल्कि उन्हें कलात्मक संतुष्टि का स्पष्ट साधन भी बनाना है, उन्हें कला के माध्यम के बीच से पार कर शुद्ध और स्वच्छ भी बनाना है।"[१६]

इस शोधन या विरेचन का स्वरूप क्या है, इसका कोई संकेत अरस्तू नहीं करते। उनके लेखन से सिर्फ इतना ही पता चलता है कि उन्हें विरेचन से कोई कष्टकर तथा अशांतिकर तत्त्व अभिप्रेत है। 'भाषणशास्त्र' में इन शब्दों की जो परिभाषा उन्होंने दी है, उससे उपयुक्त धारणा की पुष्टि होती है। अरस्तू के अनुसार "भय घातक या कष्टकर आसन्न अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न एक प्रकार की पीड़ा है।" इस परिभाषा में तीन बातें ध्यान देने की हैं: एक तो यह कि अनिष्ट ऐसा हो जो घातक प्रतीत हो; दूसरी यह कि वह आसन्न हो और तीसरी यह कि उसका प्रभाव हम पर ही पड़ने वाला हो। इसी तरह "करुणा घातक या कष्टकर अनिष्ट से उत्पन्न एक प्रकार की पीड़ा है जिसका संबंध ऐसे व्यक्ति से होता है जो वस्तुतः उसका पात्र नहीं होता; अपने ऊपर या अपने किसी आत्मीय के ऊपर उस अनिष्ट के निकट भविष्य में घटित होने की हमें आशंका बनी रहती है।" तो करुणा और भय, दोनों पीड़ादायक भाव हैं। उनका संबंध ऐसे अनिष्ट से है जो घातक प्रतीत होता हो, निकटवर्ती हो, और हम पर या हमारे आत्मीय पर घटित होने वाला हो। दोनों में अंतर यह है कि करुणा का पात्र वह व्यक्ति होता है जिसके संबंध में हम यह सोचते हैं कि इस पर यह अनिष्ट नहीं घटित होना चाहिए था। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू के अनुसार करुणा और भय परस्पर संबद्ध भाव हैं। जिस स्थिति में अपने लिए हमें भय होता है, उसी स्थिति में दूसरे के लिए हमें करुणा होती है। अतः जिसमें भय का

१६. ATPFA, 254-55.

संचार नहीं होता उसमें करुणा भी उत्पन्न नहीं हो सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि भय और करुणा में भय मूल भाव है जिससे करुणा उद्भूत होती है; अंतर यह है कि भय स्वयं अपने लिए होता है; करुणा दूसरे के लिए होती है और उसमें यह आशंका मिली रहती है कि ऐसा हमारे साथ भी घटित न हो।

व्यावहारिक जीवन में भय और करुणा के भावों का जो स्वरूप है, वह काव्य-जगत् में कुछ परिवर्तित हो जाता है। दुःखांतक के प्रभाव से करुणा में तो कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता क्योंकि उसका संबंध दूसरे से हुआ करता है किंतु भय में परिवर्तन हो जाता है क्योंकि वह यथार्थ से काल्पनिक बन जाता है। अतः अपने ऊपर आसन्न अनिष्ट की आशंका उदित नहीं होती; अनिष्ट हमारे सामने खड़ा है, ऐसा बोध हमें नहीं होता, कारण कि हम जानते होते हैं कि भय के कारण का संबंध हमसे नहीं है। फिर भी, चूंकि नायक मूलतः हमारे जैसा ही मनुष्य होता है, इसलिए हम उसके प्रति सहानुभूति से सिहर उठते हैं। यदि नायक से हमारा सादृश्य नहीं होता तो उसके प्रति हमारी सहानुभूति भी नहीं होती। इस सादृश्य पर ही दुःखांतक का प्रभाव निर्भर करता है। नायक सर्वथा निर्दोष या पूर्ण मनुष्य नहीं होता और न पक्का खल ही होता है। वह साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक गुणशाली एवं गौरवशाली होते हुए भी त्रुटियों तथा निर्बलताओं का शिकार होता है। वस्तुतः उसे न तो इतना महान् होना चाहिए और न इतना निकृष्ट कि उससे हम तादात्म्य स्थापित ही न कर सकें। तात्पर्य कि उसे हमारे जैसा होते हुए भी हमसे उच्चतर होना चाहिए—गुण में, गरिमा में, स्थिति में, जिससे एक ओर हमें समानता का भी बोध हो और दूसरी ओर कुछ दूरी का भी। इसीलिए प्राचीन नाटकों में किसी राजा, राजकुमार या प्रसिद्ध पुरुष को नायक बनाने की परिपाटी थी। दूसरी चीज यह कि उसके भाग्य-विपर्यय का परिणाम या प्रभाव केवल उसी तक सीमित न रहे बल्कि व्यापक भी पड़े। बुचर नायक से प्रेक्षक के सादृश्य और दूरीभाव की समीचीन व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नायक की दूरी (जो उसकी महत्ता के कारण होती है) हमें अपने बाह्य जीवन की परिस्थितियों के प्रति किंचित् तटस्थ बनाये रखती है। हम अपनी तात्कालिक वास्तविकता के दबाव का अनुभव नहीं करते; अपने भौतिक अस्तित्व की चिंताओं की कष्टकरता से भी हम मुक्त रहते हैं। अतः अंशतः हम दुःखांतकीय भावों की कलात्मक, परिष्कारक प्रक्रियाओं के बीच से होकर गुजरते हैं। ये प्रक्रियाएं हमारे क्षुद्र स्वार्थ की सीमाओं से पृथक् होती हैं; अतः साधारणीकरण के योग्य होती हैं। हम बड़ी यंत्रणा और मानसिक तनाव का अनुभव करते हुए नायक की आसन्न विपत्ति की प्रत्याशा से विह्वल हो उठते हैं क्योंकि उतनी देर के लिए हमारा अस्तित्व नायक के अस्तित्व में विलीन ह जाता है, अर्थात् हम उससे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं; सामने घटित होने वाली घटनाएं हमारे ही साथ घटित होती-सी प्रतीत होती हैं। हम एक ऐसी मनोदशा में पहुंच जाते हैं कि अपने को नायक के दुःख का भागीदार मान लेते हैं। यह सब कुछ कल्पना के सहयोग से संभव होता है। सच्चा दुःखांतकीय भय बहुत कुछ अवैयक्तिक भाव (impersonal emotion)

बन जाता है, जिसका संबंध किसी विशेष घटना से न होकर, सामान्य कार्यव्यापार की शृंखला से होता है, जो हमारे सम्मुख मानवता के भाग्य का प्रतिरूप बनकर प्रकट होती है। बुचर की यह व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धांत की प्रतिध्वनि जैसी लगती है। दोनों में केवल तत्त्व-साम्य ही नहीं, शब्द-साम्य तक दिखायी देता है।

अरस्तू भय और करुणा में से किसी एक के उद्रेक से नाटकीय प्रभाव की निष्पत्ति नहीं मानते, बल्कि **दोनों के** सम्मिलित उद्रेक से। बाद के कुछ आलोचकों ने '**अथवा**' का समावेश किया है किंतु वह यूनानी आचार्य के अभिमत से पृथक् है। अरस्तू को भय **और** करुणा, **दोनों** का संयोग इष्ट है। हां, यह और बात है कि कहीं भय का प्राधान्य हो जाए और कहीं करुणा का, मगर साहचर्य दोनों का अनिवार्य है।

अरस्तू ने बार-बार काव्य के 'सामान्य' तत्त्व (universal element) पर जो बल दिया है, उसका महत्त्व अब स्पष्ट होता दीखता है। जब तक काव्य 'विशेष' से संसक्त रहेगा, जब तक उससे 'सामान्य' की अभिव्यक्ति नहीं होगी, तब तक उसका प्रभाव भी व्यापक नहीं होगा। व्यक्तिगत सुख-दुःख व्यक्ति (विशेष) तक ही सीमित रह जाते हैं, इसलिए दूसरों को प्रभावित करने में अक्षम रहते हैं। इसके विपरीत काव्यगत सुख-दुःख उस सीमा का अतिक्रमण कर सर्वजनीन बनने में सफल होते हैं। काव्य (नाटक) के विभिन्न अंगों (कथानक आदि) की अन्वितियुक्त सुघटित संरचना उनमें कार्य-कारण-भाव की स्थापना कर ऐसी कलात्मकता प्रदान करती है कि हम यह भूल जाते हैं कि जो हो रहा है, इसके अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता था। यही अरस्तू की भाषा में 'संभाव्यता और आवश्यकता' का नियम है। मानवीय दुःख-भोग की इस बृहत्तर परिधि में करुणा और भय का सम्मिलित उद्रेक **सामान्य, सार्वजनीन, सार्वभौम भाव** में परिणत हो जाता है। जो कुछ भी वैयक्तिक और अहंमूलक है, वह विगलित होकर उस बृहत्तर परिधि में विलीन हो जाता है। फलतः प्रेक्षक अपनी सीमित अनुभूतियों से ऊपर उठकर भव्यतर अनुभूतियों का (भले ही वे दुःखकर भी क्यों न हों) अनुभविता बनता है। भावों की इसी आत्मविस्मृति-कारी गहन तन्मयता में विशिष्ट दुःखांतकीय आनंद निहित रहता है, जो करुणा और भय के अविशुद्ध अंश का शोधन कर उनमें भी आनंदात्मकता का आधान कर देता है। दुःखांतकीय उत्तेजना (tragic excitement) की सात्त्विक उद्दीप्ति के क्षण में अन्य भाव इस प्रकार रूपांतरित हो जाते हैं कि भव्य आह्लादकारी चेतनामात्र अव-शिष्ट रह जाती है। यही काव्य का साध्य है।

करुणा और भय दुःखद भाव हैं। फिर, उनकी परिणति आनंद में कैसे होती है? यह प्रश्न पश्चिम में ही नहीं, भारत में भी करुण रस के प्रसंग में उठाया गया है। जैसा स्वाभाविक है, इसके उत्तर में ऐकमत्य नहीं है। मतभेदों की विस्तृत चर्चा यहां अनपेक्षित है। अरस्तू ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रश्न का समाधान नहीं किया है किंतु समूहालंबन से उनका अभिप्राय जाना जा सकता है। वास्तविक जीवन में करुणा और भय के भाव दुःख से संवलित अवश्य होते हैं किंतु कलात्मक प्रक्रिया के वैशिष्ट्य

के कारण दु:खद अंश विलुप्त हो जाता है और शुद्ध आनंद बच रहता है। बात यह है कि लौकिक व्यवहार में दु:ख, अशांति या क्लेश का कारण है ममत्व—परत्व की भावना; एक शब्द में कहें तो स्वार्थ-संसक्ति। स्वार्थ अहम् का ही विजृंभण है। जहां भी स्वार्थ या अहम् होगा, वहां राग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष आदि भी अवश्य रहेंगे और ये दु:खदायी भी होंगे ही। योगी ब्रह्मानंद का अनुभव इसीलिए कर पाते हैं कि उनके अहम् का विगलन हो चुका होता है। भारत में काव्यानंद को ब्रह्मानंद का सहोदर इसी दृष्टि से कहा गया कि उतनी देर के लिए प्रमाता अहम् से मुक्त होकर वैयक्तिक स्वार्थ और सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। जैसे स्वच्छ दर्पण के सामने जो भी आएगा, उसका प्रतिबिंब दर्पण में प्रतिफलित होगा, वैसे ही अहम् के लोप से जब मनमुकुर विशद हो जाता है तो उसमें अपना सुख ही सुख और अपना दु:ख ही दु:ख प्रतीत नहीं होता, सबों के सुख-दु:ख अपने-जैसे प्रतीत होने लगते हैं क्योंकि अपने-पराये का भेद करने वाली अहम् की दीवार ढह चुकी होती है।

विरेचन से केवल **भावात्मक विश्रांति** ही नहीं होती, बल्कि **भावात्मक परिष्कार** भी हो जाता है, भले ही वह अस्थायी हो। दु:खांतक देखने के बाद ऐसा तो होता नहीं कि क्लेशकर भावों से मनुष्य हमेशा के लिए मुक्त हो जाय; यदि ऐसा होता तो नाटक नैतिक सुधार का सर्वोत्तम साधन बन जाता; जेलों की जगह नाट्यशालाएं ले लेतीं। इसलिए स्थायी भाव-परिष्कार तो नहीं होता पर तात्कालिक अवश्य होता है। इसी में विरेचन की सार्थकता है।

अन्वितियां (Unities)

नाटक के तत्त्वों के विवेचन के क्रम में संकलन-त्रय की चर्चा अनिवार्य-सी रही है और इनके उद्भावक का पद अरस्तू के लिए 'अचल-प्रतिष्ठ' है। किंतु अरस्तू ने कहीं भी तीन संकलनों का (इस ग्रंथ में संकलन के बदले अन्विति शब्द का प्रयोग हुआ है) उल्लेख नहीं किया है। कोई भूल भी बद्धमूल होकर कितनी प्रामाणिक बन जाती है, इसका यह बहुत अच्छा उदाहरण है। बुचर ने इसको 'साहित्यिक अंध-विश्वास' (literary superstition) की संज्ञा देते हुए कहा है कि "एकमात्र नाट-कीय अन्विति, जिसका अरस्तू ने विधान किया है, कार्यव्यापार की अन्विति है। इसे अब भी दुहराने की जरूरत पड़े, यह आश्चर्य की बात है। किंतु अधिकारी व्यक्ति के अनुमोदन से एक बार स्थापित होकर कोई साहित्यिक परंपरा इतनी दृढ़ हो जाती है कि लोकप्रिय लेखनों में हम अब भी तीन अन्वितियों को 'पोएटिक्स' के एक नियम के रूप में चर्चित पाते हैं।"[१७] इसलिए इस भ्रम का निराकरण अपेक्षित है।

'काव्यशास्त्र' के आठवें अध्याय में अरस्तू कहते हैं कि "कार्यव्यापार का अनुकरण

१७. The only dramatic unity enjoined by Aristotle is Unity of Action. It is strange that this should still need be repeated. So inveterate however is a Literary tradition, once it has been established under the sanction of high authority that we still find the 'Three Unities' spoken of in popular writings as a rule of the Poetics. —ATPFA, p. 288.

होने के नाते कथानक में एक ही कार्यव्यापार का अनुकरण होना चाहिये, जो पूर्ण हो; खंडों का संरचनात्मक संयोजन ऐसा होना चाहिए कि उनमें से यदि एक को इधर-उधर कर दिया जाए या हटा दिया जाए तो पूर्ण (कथानक) खंडित और बाधित हो जाए।"[१८] इस कथन से स्पष्ट है कि कथानक के कार्यव्यापार में अन्विति का होना आवश्यक है क्योंकि अन्विति-रहित कार्यव्यापार का प्रभाव छिन्न-भिन्न हो जाएगा। तात्पर्य कि अन्विति का स्पष्ट प्रयोग एक इसी संदर्भ में मिलता है जिसका संबंध कार्यव्यापार से है। कार्यव्यापार की यह अन्विति आंगिक (organic) या आंतरिक (internal) अन्विति है, केवल बाहर से दिखायी पड़ने वाला संयोजनमात्र नहीं। कार्यव्यापार की अन्विति में घटनाएं, विविध होती हुई भी, कार्य-कारण-भाव के द्वारा परस्पर जुड़ी होती हैं। कार्य-कारण-भाव का तात्पर्य यह है कि कोई उत्तरवर्ती घटना पूर्ववर्ती घटना की अनिवार्य परिणति प्रतीत हो; यदि पूर्ववर्ती घटना न होती तो उत्तरवर्ती घटना भी नहीं होती, जैसे कारण के नहीं रहने पर कार्य भी नहीं होता है। इसीलिए कार्य-कारण-भाव से जुड़े कार्यव्यापार के पौर्वापर्यक्रम को अरस्तू आंगिक (organic) मानते हैं, सांयोगिक (accidental) नहीं। तो अरस्तू के अनुसार अन्विति दो रूपों में प्रकट होती है : एक तो कार्य-कारण-भाव के रूप में, जब नाटक के अनेक खंड—जैसे बाह्य घटनाएं, विचार, भाव आदि—अपरिवर्तनीय रूप में अंतर्ग्रथित (inextricably interwoven) हों। दूसरे, इस तथ्य के रूप में कि सभी घटनाएं, जिनमें नैतिक शक्तियों का द्वन्द्व भी शामिल है, एक लक्ष्य की ओर बढ़ रही हों। कहने का अभिप्राय यह कि **कार्यव्यापार का अंतर्ग्रथन और लक्ष्य की एकतानता**, ये दोनों अन्विति की अनिवार्य शर्तें हैं। अन्विति के संबंध में अरस्तू ने इतना ही कहा है। शेष दोनों अन्वितियों को विद्वानों ने अपने बुद्धि-बल से निकाल लिया है।

कालान्विति (Unity of Time) का उद्गम एक दूरारूढ़ प्रसंग से है। काव्यशास्त्र के पंचम अध्याय में दुःखांतक और महाकाव्य के भेदक लक्षणों को दिखाते हुए अरस्तू कहते हैं कि "दुःखांतक में यथासंभव 'सूर्य की एक परिक्रमा' तक सीमित रहने का अथवा इस सीमा का थोड़ा ही अतिक्रमण करने का प्रयास होना चाहिए, जबकि महाकाव्य के कार्यव्यापार में समय की कोई सीमा नहीं होती। हालांकि आरंभ में दुःखांतक में भी समय की वही स्वतंत्रता मान्य थी, जो महाकाव्य में।"[१९] यहाँ अरस्तू ने न तो अन्विति शब्द का प्रयोग किया है और न काल की सीमा पर बल दिया है, जैसा 'यथासंभव' शब्द से स्पष्ट है। इसमें नियमन से अधिक समसामयिक

१८. The plot, being an imitation of an action, must initiate one action and that a whole, the structural union of the parts being such that if any one of them is displaced or removed, the whole will be disjointed and disturbed. —ATPFA, p. 35.

१९. Tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit, whereas the Epic action has no limits of time.........though at first the same freedom was admitted in Tragedy as in Epic poetry. —ATPFA, p. 23.

प्रचलन का उल्लेख है। 'सूर्य की एक परिक्रमा' की कालावधि वांछनीय तो है पर अनुल्लंघनीय नहीं; एक परिक्रमा का कुछ अतिक्रमण भी शक्य है। यहां एक ऐतिहासिक तथ्य का भी उल्लेख है : दुःखांतक के आरंभिक दिनों में काल का कोई बंधन नहीं था; महाकाव्य के समान उसका भी यथेच्छ विस्तार हो सकता था। किंतु समय बीतने के साथ इस शिल्पगत त्रुटि की ओर नाटककारों का ध्यान गया; उन्होंने देखा होगा कि कालिक बंधन से मुक्त नाटकों की रोचकता क्रमशः क्षीण होती जाती है और उनका प्रभाव बिखर जाता है; इसलिए कुछ-न-कुछ काल-सीमा का पालन वांछनीय है और इसके लिए उन्होंने 'यथासंभव सूर्य की एक परिक्रमा' की सीमा रखी होगी। ग्रंथकार के अभिप्राय को व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ऐंठना शुरू किया और 'यथासंभव' की परिणति अलंघ्य नियम में हो गयी। पर इतने से ही बौद्धिक विलास कैसे तृप्त हो सकता था? फिर, आरंभ हुआ 'सूर्य की एक परिक्रमा' के अभिप्राय का विशदन। कुछ विद्वानों ने सूर्य की एक परिक्रमा का अर्थ बारह घंटे किया, कुछ ने चौबीस घंटे। दोनों अर्थ ठीक। रोमी और फ्रांसीसी आलोचकों के बीच बहुत दिनों तक बारह और चौबीस घंटों का विवाद चलता रहा और नाटककारों के लिए इसका पालन अनिवार्य हो गया। नव-आभिजात्यवादी (neo-classical) युग (१७वीं-१८वीं शताब्दी) ने कालान्विति को द्वितीय अन्विति के आसन पर आसीन कर दिया।

कालान्विति के बाद स्थानान्विति ने जोर लगाया क्योंकि स्थान और काल तो साथ चलने वाले तत्त्व हैं। कालान्विति का तो दूरारूढ़ ही सही, एक आधार था ('यथासंभव सूर्य की एक परिक्रमा') पर स्थानान्विति का तो वैसा भी कोई आधार नहीं था। व्याख्याकारों ने यहां भी अपने बुद्धिबल का प्रदर्शन किया और सोचा कि जब कालान्विति हो सकती है तो स्थानान्विति क्यों नहीं हो सकती? इस प्रकार एक तीसरी अन्विति का भी आविर्भाव हो गया। कहा जाता है कि स्थानान्विति की उद्भावना स्पेनी आलोचक लुदोविको कास्तेलवेत्रो (Ludovico Castelvetro) ने काव्यशास्त्र की अपनी व्याख्या में की (१५७० ई०)। बात यह है कि व्यापारान्विति (Unity of Action) का स्पष्ट विधान अरस्तू ने इसलिए किया कि उसे नाटक की संरचना का अनिवार्य अंग माना और उसकी कलात्मक उपादेयता देखी। यही कारण है कि नाटक के साथ उन्होंने व्यापारान्विति का आंगिक संबंध स्थापित किया। कालान्विति और स्थानान्विति का संबंध नाटक की संरचना से नहीं, उसके मंचन से है। ये दोनों अन्वितियां मंच की व्यावहारिक सीमाओं और कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर स्वीकार की गयीं। यूनानी मंच पर पर्दे नहीं होते थे, सारा मंच आरंभ से अंत तक दर्शकों के सम्मुख खुला रहता था। इसलिए नाटककार नाटकों का अंकों में विभाजन नहीं करते थे क्योंकि विभाजन को दिखाने का पर्दे जैसा कोई साधन नहीं था। परिणाम यह होता था कि नाटक एक बार जो आरंभ होता तो अंत तक अविराम चलता रहता। फलतः कालान्विति और स्थानान्विति का अवकाश नहीं के बराबर था। जब यूरोप की नाट्यशालाओं में पर्दे का विकास हो गया तो

ये अधिक सार्थक हो गयीं।

कालान्विति और स्थानान्विति नाटक के लिए अनिवार्य नहीं है। यह नाटककार की प्रतिभा और कला पर निर्भर करता है कि वह काल और स्थान के अंतराल को इस प्रकार प्रस्तुत करे कि वह खटके नहीं। अभिज्ञानशाकुंतल में काल की अवधि कई वर्षों की है : दुष्यंत-शकुंतला के प्रथम प्रणय से लेकर उनके पुत्र भरत के सिंह-शावक के दांत गिनने लायक बड़ा होने तक का कथानक नियोजित है। स्थान की स्थिति यह है कि मर्त्यलोक की कौन कहे, कथानक स्वर्गलोक तक चला जाता है। किंतु कहीं भी यह अंतराल, खटकने की बात तो दूर, अनुभवगम्य भी नहीं होता। शेक्सपियर के नाटकों में भी इन अन्वितियों की रक्षा नहीं हुई है पर इससे उनके कलात्मक उत्कर्ष में कोई बाधा नहीं पड़ी है। फ्रेडरिक द ग्रेट ने अन्वितियों की उपेक्षा के कारण शेक्सपियर के नाटकों को 'फार्स' का नाम दिया और कहा कि "ये कनाडा के जंगलियों के ही देखने योग्य हैं क्योंकि ये मंच के सभी नियमों की अवहेलना करते हैं।" इतना कहकर ही फ्रेडरिक विरत नहीं हुए, आगे कहा कि "ये नियम ऐच्छिक नहीं हैं। आप इन्हें अरस्तू के काव्यशास्त्र में देख सकते हैं।" ऐसे ही उत्साहियों की व्याख्याओं को ध्यान में रखकर बुचर ने कहा है कि लोगों ने 'काव्यशास्त्र' से उन बातों को भी ढूंढ़ निकाला है, जिनकी अरस्तू ने कल्पना भी नहीं की थी।

मूल्यांकन

१. यूरोपीय आलोचना के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक जॉर्ज सेन्ट्सबरी का कहना है कि विगत २३०० वर्षों में संसार की किसी साहित्यिक कृति पर इतना विचार-विमर्श नहीं हुआ है जितना इस प्रसिद्ध पुस्तिका (काव्यशास्त्र) पर। ठीक ही, अनुवाद, टिप्पणी, व्याख्या, आलोचना आदि के रूप में संसार की विभिन्न भाषाओं में जितना और जो लिखा गया है, उसका यथातथ्य आकलन असंभव की सीमा छूने लगता है। कठिनाई इसलिए और भी बढ़ जाती है कि उसका विस्तार देश में ही नहीं, काल में भी है। अपूर्णप्राय यह अतिलघु कृति आज तक जीवित तो है ही, अपनी प्रासंगिकता भी बनाये हुए है। अरस्तू की कथित चार सौ कृति-संततियों में अपने 'जनक' को जितना यश इस क्षीणकाय 'काव्यशास्त्र' ने दिया, उतना और किसी ने नहीं।

२. 'काव्यशास्त्र' यूनानी काव्य पर आधारित होते हुए भी कुछ ऐसे सौंदर्य-शास्त्रीय प्रश्नों को उठाने और कुछ दूर तक उनका समाधान करने में सफल हुआ है जो सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक हैं। अरस्तू के आलोचकों का आरोप है कि उनके समक्ष यूनानी साहित्य के अलावा और कोई साहित्य नहीं था। अतः उनकी दृष्टि में वह व्यापकता और विशदता नहीं है जो गंभीर आलोचना के लिए अपेक्षित है। यह आरोप निर्मूल नहीं है—पर यह ऋणपक्ष पर बल देना है। अरस्तू का धनपक्ष यह है कि एक भाषा के सीमित साहित्य पर (और वस्तुतः साहित्य जैसा व्यापक अर्थ का वाचक कोई शब्द यूनानी भाषा में था ही नहीं, इसलिए प्रत्येक साहित्यिक विधा—दुःखांतक, महाकाव्य, प्रहसन आदि—का अलग-अलग नाम लेकर उन्हें अपना मंतव्य व्यक्त करना

पड़ा है) उन्होंने आलोचना का प्रासाद खड़ा किया। सच तो यह है कि मुख्यतः चार ही लेखकों की कृतियां उनके विवेचन की आधार-भूमि रही हैं—होमर के महाकाव्य और सोफ़ोक्लेस, एउरिपिदेस तथा एस्खिलुस के दुःखांतक। अरिस्तोफ़ेनेस जैसे प्रहसनकार और पिंदार जैसे गीतिकार उन्हें रुचिकर या विवेच्य प्रतीत नहीं हुए हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि अरस्तू आलोचक थे ही नहीं, वे तो दार्शनिक और वैज्ञानिक थे; इसलिए आलोचना के अनेक मौलिक प्रश्नों का उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया; जैसे, आलोचना क्या है ? साहित्यालोचन के सिद्धांत क्या हैं ? किन सिद्धांतों पर वे यूनानी साहित्य की आलोचना करना चाहते हैं ? आदि-आदि। हम अरस्तू की इन सीमाओं को स्वाभाविक मानते हैं। आश्चर्य इसका नहीं कि उनकी ये सीमाएं हैं; आश्चर्य इसका है कि इन सीमाओं के बावजूद उन्होंने ऐसे अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किये जो स्थायी और सार्वभौम आलोचना का उपकरण बनने में समर्थ हुए।

३. जो दार्शनिकता और वैज्ञानिकता अरस्तू की सीमाएँ मानी जाती हैं, वे ही उनकी विशेषताएं भी हैं। दार्शनिक की तत्त्वदर्शिता और वैज्ञानिक की विश्लेषकता के योग ने उनकी दृष्टि को निष्पक्ष तथा वस्तुनिष्ठ रखा है। उनका विषय-निरूपण तथ्यानुसंधान की भावना से प्रेरित है; उसमें कहीं भी हठधर्मिता नहीं है। इसमें अपने गुरु (प्लेटो) से अरस्तू का स्पष्ट भेद है। प्लेटो में मताग्रह है और, जैसे भी हो, अपनी बात को प्रमाणित कर देने की चातुरी है। जब तक कोई बहुत सावधान न हो तब तक प्लेटो से असहमत होना भी कठिन है क्योंकि वे गलत बात भी इस ढंग से कहते हैं कि श्रोता उनकी हां में हां मिला देता है। अरस्तू में यह नहीं है। वे अपनी बात आपके सामने निरपेक्ष भाव से रख देते हैं; मानना, न मानना आपकी इच्छा पर है।

४. अरस्तू की सबसे बड़ी देन है काव्य की स्वायत्तता की स्थापना; उसे गंभीर विचार के योग्य विषय सिद्ध करना। चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० पू० की यूनानी शास्त्रीय गतिविधि पर ध्यान देने से इस कार्य की गुरुता स्पष्ट हो जाती है। दर्शन की महत्ता शीर्ष पर थी; उसके बाद इतिहास का स्थान था; फिर, राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र आदि का। काव्य तो इस परिधि में कहीं आता ही नहीं था। प्लेटो ने दर्शन और काव्य के शाश्वत विरोध की बात ही नहीं कही थी, बल्कि जब भी अवसर मिला, और न मिला तो दूसरे प्रसंगों में भी अवसर निकालकर, उन्होंने काव्य की लघुता और अवांछनीयता साबित करने में कोर-कसर नहीं रखी। बद्धमूल परंपरा के प्रतिकूल, प्लेटो जैसे प्रभावशाली आचार्य की बहुशः आवृत्तियों के प्रतिकूल, काव्य को इतिहास से अधिक दार्शनिक घोषित करना साहस का काम था; साहस से अधिक तर्कयुक्त प्रमाणन का कार्य था (क्योंकि साहस तो कुतर्क में भी रहता है)। उनके तर्क की भंगिमा है—इतिहास तो केवल उसी का वर्णन करता है जो हो चुका है; इसके विपरीत काव्य उसका वर्णन करता है जो हो सकता है। यदि इतिहास **आगत** का आख्याता है तो काव्य **अनागत** का व्याख्याता है। एक **घटित** को लेकर चलता है, दूसरा **संभावित** को। इतिहास में **व्यक्ति** (विशेष) का निरूपण रहता है, काव्य में

सामान्य का। इतिहास का संबंध यथार्थ से है, काव्य का आदर्श से। इसलिए काव्य इतिहास से कहीं ऊपर की चीज है। अरस्तू द्वारा दिये गये इस उच्चासन से कोई काव्य को फिर उतार नहीं सका। केवल दो वाक्यों में उन्होंने सारे विरोधों को निरस्त कर काव्य को अविचल प्रतिष्ठा दे दी।

५. प्लेटो ने कवि को 'अनुकर्ता' कहकर उसकी सारी प्रतिभा और प्रकर्ष पर पानी फेर दिया था। प्लेटो की सत्य-सोपान-परंपरा में बढ़ई का भी स्थान कवि से ऊपर था क्योंकि बढ़ई तो सत्य से द्विधा ही अपेत (twice removed) होता है पर कवि तो त्रिधा अपेत (thrice removed) है। अरस्तू ने कहा कि कौन कहता है कि कवि 'अनुकर्ता' है ? वह तो 'कर्ता' है; ईश्वर की तरह काव्य-जगत् का निर्माता है। यह दृष्टि भारतीय दृष्टि से मिलती है जिसमें कवि को प्रजापति कहा गया है :

अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

—अपार काव्य-संसार का कवि ही प्रजापति (स्रष्टा) है। कवि की जैसी रुचि या इच्छा होती है, यह विश्व (काव्य-संसार) वैसा ही बन जाता है।

मम्मट ने इसी को प्रकारांतर से कहा कि कवि की वाणी का संसार नियति के नियम से मुक्त और सर्वथा स्वतंत्र (नियतिकृत नियम-रहित अनन्यपरतंत्र) होता है। इसलिए कवि अपने संसार का स्रष्टा है, स्वामी है।

६. अनुकरण को भी अरस्तू ने उस स्थिति से उबारा जिसमें प्लेटो ने उसे डाल रखा था। प्लेटो का अनुकरण नकल का पर्याय था; अतः उसमें गर्हा का भाव था। अरस्तू ने अनुकरण का अर्थ किया 'आदर्शीकृत प्रतिरूपण' (idealized representation) और बताया कि कवि प्रकृति का या मानव-जीवन का हूबहू चित्रण (नकल) नहीं करता, उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ता है और यथार्थ को रमणीयतर बनाकर प्रस्तुत करता है। सदा प्रकृति से अर्थात् बाहर से ही वह काव्य का उपादान ग्रहण करे, यह भी आवश्यक नहीं; वह कल्पना की सहायता से मानस सृष्टि भी कर सकता है। इसीलिए अरस्तू ने 'अनुकरण' में 'आदर्शीकरण' का योग किया। इसका अभिप्राय यह भी दिखाना था कि आदर्शीकरण होने से काव्य यथार्थ की अपेक्षा उत्कृष्टतर और प्रशस्यतर है। प्लेटो ने बार-बार आदर्श पर बल दिया था। अरस्तू की इस व्याख्या में उसका भी समाहार हो गया है। फिर, उन्होंने अनुकरण को एक सर्जनात्मक शक्ति माना जिसमें जगत् और जीवन के सत्य को प्रकट करने के लिए आवश्यकतानुसार संग्रह, त्याग और व्यवस्था की क्षमता होती है, अर्थात् क्या रखें, क्या छोड़ें और किस प्रकार क्या उपस्थापित करें, इनका ज्ञान अनुकरण का सहचारी होता है।

७. आनंद को कला का, काव्य का प्रयोजन सिद्ध कर उन्होंने उसे नैतिक-शैक्षिक घेरे से बाहर निकाला। प्लेटो ने काव्य को समाज के नैतिक-शैक्षिक सुधार का साधन माना था। काव्य की सामाजिकता का विरोध अरस्तू ने भी नहीं किया, पर जहां प्लेटो नें काव्य की सामाजिकता उसकी नैतिक उन्नयन की क्षमता में देखी, वहां

अरस्तू ने उसकी आनंद-प्रदान की क्षमता में। समाज के लिए यदि नैतिक उन्नयन आवश्यक है तो आनंद-प्राप्ति भी कम आवश्यक नहीं है। इसलिए अरस्तू ने काव्य के नैतिक मूल्य का खंडन तो नहीं किया पर उसके आनंदात्मक मूल्य को उजागर अवश्य किया। और, अपने गुरु की शंका का निवारण करते हुए प्रतिपादित किया कि काव्य से उत्पन्न आनंद न तो मन के लिए अहितकर होता है, न आत्मा के लिए; न व्यक्ति के लिए, न समाज के लिए। इसलिए कवि से गणतंत्र को कोई खतरा नहीं है। जो काम कवि (प्लेटो) को करना चाहिए था (प्लेटो की आलोचना के क्रम में हम देख चुके हैं कि उनके लेखकीय जीवन का आरंभ काव्य से ही हुआ था किंतु सुकरात के संपर्क में आने पर उन्होंने उसे नष्ट कर दिया और दर्शन को अपना लिया), वह वैज्ञानिक (अरस्तू) ने किया। तब से गुरु-शिष्य का यह विवाद—काव्य का प्रयोजन उपदेश है या आनंद—यूरोप में चला आ रहा है, और युग के अनुसार, कभी एक को तो कभी दूसरे को, अधिक महत्त्व मिलता रहा है।

८. आज जिसे रूपवादी (formalistic) आलोचना कहते हैं, यूरोप में उसके उद्भावक अरस्तू ही हैं। प्लेटो ने काव्य-रूप के संबंध में कुछ भी नहीं कहा था, केवल विषय के आधार पर काव्य को त्याज्य घोषित कर दिया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य केवल विषय नहीं है, रूप भी है; बल्कि विषय से बढ़कर रूप ही है; काव्य के सौंदर्य का, उत्कर्षापकर्ष का निर्धारक विषय से अधिक रूप ही होता है। अरस्तू ने काव्य के विषय के साथ, उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम और पद्धति पर भी विचार किया; कथानक की संरचना से लेकर काव्य के भाषिक पक्ष तक को अपने विवेचन में समेट लिया। काव्यविधा, काव्यशिल्प, माध्यम के वैशिष्ट्य, प्रभाव के स्वरूप और प्रभाव को उत्पन्न करने वाले साधनों के विश्लेषण उनके रूप-वादी दृष्टिकोण के प्रमाण हैं। ये विशेषताएं 'अनुकरण' की वस्तु नहीं, कवि की प्रतिभा की उपज हैं। अरस्तू स्वच्छ-स्पष्ट संप्रेषण के आग्रही हैं। अतः उन्होंने दुःखांतक के अंगों, उपाख्यानों आदि की योजना अथवा पद-योजना का भी विचार संप्रेषण की प्रांजलता को ध्यान में रखकर ही किया है।

९. प्रभाव की दृष्टि से काव्य का निरूपण मानवीय मूल्यों के महत्त्व का प्रति-पादन है। विरेचन में भय से अधिक करुणा का मानवीय मूल्य है, क्योंकि वह सहानुभूति से उत्पन्न होती है और एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की भाग्यविपर्यय-जनित क्लेशकर स्थिति की अनुभूति का भागीदार बनाती है।

१०. अरस्तू ने एक पते की बात कही है। 'दृश्य' को उन्होंने नाटक के प्रभाव का अनिवार्य अंग नहीं माना और बल देकर कहा कि नाटक का दुःखांतकीय प्रभाव नाटक की संरचना में अर्थात् उसके विषय तथा पद्धति के वैशिष्ट्य में रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, नाटक की सफलता इसमें है कि पढ़ने पर भी उसका वही प्रभाव पड़े जो मंच पर देखकर पड़ता। जो लोग नाटक को अनिवार्यतः मंचन की वस्तु मानते हैं, उन्हें इस मंतव्य पर विचार करना चाहिए।

११. अरस्तू के काव्यशास्त्र की जीवंतता का यह विशिष्ट प्रमाण है कि उसके

सूत्रों को पकड़कर इस शताब्दी में दो आलोचना-संप्रदाय विकसित हुए। वे हैं अमेरिकी नयी आलोचना (New Criticism) और शिकागो स्कूल (Chicago School)। प्रथम के नेता जॉन क्रो रैन्सम हैं और द्वितीय के जे० एस० क्रेन। प्रथम का विकास बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में हुआ और द्वितीय का १९५० के बाद।

१२. अरस्तू की अभिव्यंजना सामान्यतः स्पष्ट, प्रांजल और अर्थगर्भ है। उन्हें समझने में कठिनाई वहीं होती है जहां उन्होंने अतिशय संक्षेप से काम लिया है या किसी शब्द की व्याख्या नहीं की है। संभवतः ऐसे शब्द उनके समय में इतने प्रचलित थे कि उनकी व्याख्या उन्हें अपेक्षित नहीं जान पड़ी, अथवा उन्होंने जानबूझकर व्याख्या नहीं की, अथवा पांडुलिपि के अपूर्ण, खंडित या त्रुटित होने का भी यह परिणाम हो। इनमें किसका कितना दायित्व है, यह निर्णय करने का आज कोई साधन नहीं है।

१३. अरस्तू की सीमाओं में सब से प्रमुख है—काव्य के सर्वांगपूर्ण विवेचन की प्रतिज्ञा कर केवल दुःखांतक का विवेचन करना। प्रगति का उन्होंने स्पर्श भी नहीं किया; प्रहसन को चलता कर दिया है; महाकाव्य की चर्चा केवल दुःखांतक की श्रेष्ठता सिद्ध करने के प्रसंग में की है। इस तरह 'काव्यशास्त्र' काव्य का शास्त्र न होकर केवल दुःखांतक का शास्त्र बन गया है।

१४. आज साहित्य की विधाओं, रूपों, शिल्पों में इतना अधिक परिवर्तन (क्रांति कहना शायद अधिक उपयुक्त हो) हो गया है कि इनकी आलोचना के लिए 'काव्यशास्त्र' अनुपयोगी बन गया है। जॉन गैसनर ने ठीक ही कहा है कि काव्यशास्त्र के सिद्धांतों से आज के साहित्य की आलोचना का प्रयास वैसा ही है, जैसा चलनी में पानी रखने का प्रयास! पर लोगों ने यह प्रयास भी किया है और संभवतः आगे भी करते रहेंगे।

१५. 'काव्यशास्त्र' की एक गंभीर सीमा यह है कि उसमें काव्यभाषा-विषयक विचार नहीं के बराबर है। जो है, वह इतना अपर्याप्त है कि उसकी सहायता से काव्यालोचन की परिधि में प्रवेश भी संभव नहीं है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय आचार्यों का भाषा-विवेचन कहीं अधिक व्यापक, गंभीर एवं व्यवस्थित है। अलंकारों की संख्या में तो आज भी पश्चिम भारत के पीछे है। वाग्विकल्प के विच्छित्तिपूर्ण कितने भेद-प्रभेद हो सकते हैं, इसमें भारतीय काव्यशास्त्र अप्रतिस्पर्धी है। संभव है, सीधी-सपाट वैज्ञानिक अभिव्यंजना के अभ्यासी अरस्तू को काव्य की वक्र कथन-भंगी आकृष्ट करने में असफल रही हो।

१६. अरस्तू ने मताग्रह से मुक्त होकर सच्चे अनुसंधायक के रूप में काव्य के तत्त्वों के विश्लेषण का बीड़ा उठाया था और निष्ठा से उसे पूरा किया। उनका काव्यशास्त्र वर्णनात्मक आलोचना (Descriptive Criticism) का उत्तम और प्रथम निदर्शन है। उन्होंने कहीं भी नियामक (Law-giver) बनने का प्रयत्न नहीं किया है किंतु संयोग ऐसा कि तीन सौ वर्षों (सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी) तक वे नियामक ही माने जाते रहे। उनके नियमों का उल्लंघन साहित्यिक अपराध में

गिना जाता था। नव-आभिजात्यवादी (Neo-Classical) युग में तो काव्यशास्त्र को बाइबिल जैसी मान्यता प्राप्त थी। उन्नीसवीं शताब्दी में रोमांटिक भावधारा के आविर्भाव के बाद ही काव्यशास्त्र का प्रभाव कुछ क्षीण हुआ, पर क्षीण ही हुआ, लुप्त नहीं। यह और बात है कि उसका अधिकतर महत्त्व अब ऐतिहासिक ही रह गया है पर वह ऐसा ऐतिहासिक अभिलेख है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सेंट्सबरी का कहना सर्वथा समीचीन है कि "जो आलोचक की भूमिका पूरी करना चाहता है, उसके लिए, बिना गंभीर क्षति उठाए, अरस्तू का अध्ययन न करना, असंभव है।"[२०] "अरस्तू आलोचना के सिकंदर हैं और इस क्षेत्र में उनकी विजय-शृंखलाएं, दूसरे क्षेत्र में उनके शिष्य की विजय-शृंखलाओं के विपरीत, आज भी प्रायः ज्यों-की-त्यों कायम हैं, बल्कि उनका कुछ विस्तार ही हुआ है।"[२१]

२०. It is impossible for any one who undertakes the office of a critic to omit the study of him without very great harm.

२१. He is the very Alexander of Criticism, and his conquests in this field, unlike those of his pupil in another, remain practically undestroyed, though not unextended, to the present day. —History of Criticism and Literary Taste in Europe, p. 59.

होरेस

[६५ ई० पू०—८ ई० पू०]

अरस्तू के निधन के बाद के दो सौ वर्षों में एथेन्स का बौद्धिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष प्रायः समाप्त हो गया और एथेन्स का गौरव सिकंदरिया (मिस्र) को प्राप्त हो गया। पहली शताब्दी ई० पू० में औगुस्तुस (Augustus) के नेतृत्व में रोमी साम्राज्य के उदय के साथ सिकंदरिया का उत्कर्ष भी क्षीण पड़ गया और रोम यूरोपीय सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, कला आदि का केंद्र बन गया। आतरिक विग्रह को निर्मूल कर औगुस्तुस ने एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण किया जिसका प्रभाव मध्ययुग (१२वीं-१३वीं शताब्दी) तक सारे यूरोप पर छाया रहा। रोम के इसी प्रभाव और वैभव को लेकर उक्ति चल पड़ी कि "सारे मार्ग रोम को जाते हैं" (All roads lead to Rome)। इसी प्रभाव के फलस्वरूप लैटिन शताब्दियों तक यूरोप के ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति, धर्म-राजनीति की भाषा बनी रही।

होरेस (Horace) औगुस्तुस के समसामयिक थे और सम्राट् के निकटस्थ भी। स्वभावतः वे उस गौरव के द्रष्टा ही नहीं, भोक्ता भी थे। होरेस के विषय में प्रसिद्धि है कि वे रोमी कवियों में सर्वश्रेष्ठ आलोचक और रोमी आलोचकों में सर्वश्रेष्ठ कवि थे। कवि और आलोचक का यह दूसरा वैशिष्ट्य होरेस के महत्त्व का अन्यतम कारण था।

एथेन्स की सशक्त सर्जनशीलता का रोम में अभाव था। न तो उसमें एथेन्स जैसी चिंतनशीलता थी, न कल्पनाशीलता और न मौलिक, वैचारिक समृद्धि। रोम-निवासी प्रकृत्या व्यावहारिक जीव थे; वे उद्भावक नहीं, व्यवस्थापक थे; अनुसंधाता नहीं, अनुकर्ता थे। इसलिए यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से एथेन्स उनके अधिकार में था किंतु बौद्धिक-सांस्कृतिक दृष्टि से वे ही एथेन्स के अधिकार में थे। इस विरोधाभास पर होरेस की टिप्पणी है कि "बंदी यूनान ने अपने भयानक विजेताओं को बंदी बना लिया।" सिसेरो का निम्नलिखित कथन तद्युगीन रोम की मनोवृत्ति को स्पष्ट कर देता है: "काव्य का उपयोग यह है कि वह काम से आराम देता है और अमरत्व प्रदान करने की आशा के द्वारा देशभक्ति-संबंधी वीरता को जगाता है।" काव्य की इतनी सी उपयोगिता मानने वाले समाज में असाधारण प्रातिभ उन्मेष की आशा दुराशामात्र है।

सम्राट् औगुस्तुस काव्य और कला के संरक्षक तथा प्रेरक थे। उन्हें साहित्य का

विकास अभिमत था किंतु वैसे साहित्य का, जिसमें राष्ट्र का गुणगान हो अथवा जिससे सम्राट् के कार्यकलाप का प्रशस्ति-विस्तार हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सीमित प्रयोजन को लक्ष्य मानकर चलनेवाला साहित्य महान् नहीं हो सकता। इसलिए रोमी लेखक यूनानी लेखकों द्वारा प्रस्तुत काव्य की विधाओं या ढांचों में ही यत्किंचित् परिवर्तन कर पाये। उन्होंने व्यंग्य (satire), पत्र (epistle), चतुर्दशपदी (sonnet), शोकगीत (elegy), ग्वालगीत (pastoral), सूक्ति (epigram), जैसी कुछ विधाएं विकसित कीं अवश्य पर उनमें वह असाधारणता नहीं आ सकी जो साहित्य को क्लासिकी महिमा प्रदान करती है। नाटकों की भी स्थिति बहुत कुछ यही रही।

होरेस इसी देश-काल की उपज थे। प्रतिभाशाली होते हुए भी वे समसामयिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सके। उनकी दो व्यंग्य-परक कृतियां, चार संबोध-गीतियां (odes) और दो पत्रात्मक पुस्तकें उपलब्ध हैं। पत्रात्मक पुस्तकों में से ही एक उनकी प्रसिद्ध आलोचनात्मक रचना है जिसका लैटिन नाम 'आर्स पोएतिका' (Ars Poetica) है। इस पुस्तक का वास्तविक नाम Epistola ad Pisones (Epistle to the Pisos) है; 'आर्स पोएतिका' नाम प्रसिद्ध आलोचक क्विन्तिलियन (Quintilian) का दिया हुआ है। उन्होंने ही इसे पहले पहल 'आर्स पोएतिका' (काव्य की कला) की संज्ञा से अभिहित किया। क्विन्तिलियन (३५ ई०-९५ ई०) रोम के मूल निवासी नहीं थे; वे जन्मना स्पेनी थे किंतु कुछ दिनों तक रोम में शिक्षा पाने के बाद वे वहीं भाषणशास्त्र के राजकीय आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और प्रायः बीस वर्षों तक उस पद पर बने रहे। आर्स पोएतिका 'पिसो' नामक एक युवक के नाम पद्य में लिखित पत्र है, जिसमें ४७६ पंक्तियां हैं। पिसो संभवतः लेखक बनना चाहता था; उसने अपने युग के सबसे बड़े साहित्यकार का मार्ग-दर्शन चाहा जो उसे इस पत्र के द्वारा मिला। पत्र में पिसो के पिता और छोटे भाई का भी उल्लेख है, जो कविकर्म में रुचि रखते थे।

पत्रात्मक होने के कारण इस रचना की कई सीमाएं हैं: यह अतिसंक्षिप्त है, अतः काव्यशास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का इसमें उल्लेख भी नहीं है। दूसरी चीज यह कि इसमें व्यवस्था और विवेचनात्मक गंभीरता का अभाव है। कुछ व्यावहारिक सुझाव या परामर्श देना ही लेख का लक्ष्य रहा है। पत्र में इससे अधिक संभव भी नहीं था। फिर भी, इसकी उक्तियां सूक्तियों के समान सारगर्भ, स्मरणीय और उद्धरणीय हैं। आर्स पोएतिका यूरोप के नवशास्त्रवादी युग (१६-१८वीं शताब्दी) में लेखकों का कंठहार रहा और उसे वही मान्यता प्राप्त थी जो अरस्तू के काव्य-शास्त्र को; बल्कि संक्षिप्त, चुटीली उक्तियों के कारण उद्धरण अधिकतर 'आर्स पोएतिका' के ही लोकप्रिय थे।

इस व्यवस्थाहीन कृति में भी विद्वानों ने व्यवस्था देखने का प्रयास किया है। उनके अनुसार मुख्यतः आर्स पोएतिका में परंपरागत तीन विषयों का निरूपण है—विषयवस्तु (poiesis), रूप (Poiema) और कवि (poieta); रूप में काव्यशैली

भी गतार्थ है। दूसरे शब्दों में कहें कि **काव्य, काव्यशैली और कवि**, ये तीन आर्स पोएतिका के प्रतिपाद्य हैं। इसमें भी काव्य के अंतर्गत मुख्य विचार नाटक का ही हुआ है; अन्य विधाओं की चर्चा प्राय: नहीं है।

होरेस के समय में रोम के कवियों के सामने दो विकल्प थे। एक ओर यूनान का विकसित-समृद्ध साहित्यिक दाय था और दूसरी ओर, साम्राज्य-विस्तार से प्राप्त अतुल शक्ति और संपत्ति, शांति और उन्नति के अनुरूप अपनी भाषा (लैटिन) में राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का आग्रह था। गुण में यूनानी साहित्य इतना उत्कृष्ट और अभिभावी था कि उसे छोड़ना कठिन था और राष्ट्रीय चेतना से उद्भूत गौरव-बोध इतना दुर्दम था कि अपनी भाषा की उपेक्षा अप्रीतिकर थी। दोनों के बीच समन्वय का मार्ग यह निकला कि आदर्श या ढांचा तो यूनानी का रहा किंतु भाषा अपनी (लैटिन) रही। यूनानी परंपरा के पुनरुज्जीवन में महाकवि वर्जिल (७०-१९ ई० पू०) और कवि-आलोचक होरेस एकमत थे। होरेस का यूनानी साहित्य के प्रति कितना पक्षपात था, यह उनके इस उद्धरण में अभिव्यक्त है : "मेरे मित्रो ! यूनान के महान् मूल ग्रंथों का अध्ययन करो; दिन में उनका चिंतन करो और रात में उनका सपना देखो !" ठीक ही "विजेता रोम को पराजित यूनान ने पराजित कर दिया !"

यहां 'आर्स पोएतिका' (काव्यकला) में निरूपित विषयों की संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। आर्स पोएतिका का आरंभ इस प्रकार होता है :

"यदि कोई चित्रकार मनुष्य के सिर में घोड़े की गर्दन जोड़ दे; सब प्रकार के जंतुओं के अंगों को एकत्र कर उनमें किस्म-किस्म के पंख लगा दे; और, ऊपरी हिस्से में सुंदर नारी का रूप अंकित कर निचले हिस्से में भद्दी मछली बना दे तो मेरे मित्रो ! क्या इन्हें देखकर आप अपनी हंसी रोक पाएंगे ?"

"पिसो-परिवार के मेरे दोस्तो ! ऐसे चित्र उस कविता से अधिक बुरे नहीं होंगे जिनमें रुग्ण व्यक्ति के स्वप्नों की तरह खोखले बिंबों की योजना हुई हो; अतः न तो उसके सिर का पता चले, न पैर का !"

इस हलके-फुलके अंदाज से आलोचना का आरंभ करने वाले होरेस के स्वभाव की थोड़ी झांकी मिलती है, जिनमें व्यंग्य और विनोद दोनों का पुट है। "आप कह सकते हैं कि कवि स्वच्छंद होते हैं और उन्हें इच्छानुसार कुछ कहने की पर्याप्त छूट है। मुझे भी यह मालूम है और मैं भी यह छूट देने को तैयार हूं, किंतु जंगली को पालतू के पास, सांप को चिड़िया के पास और बाघ को मेमने के पास बैठाने की छूट मैं नहीं दे सकता। देखने में आता है कि कोई रचना आरंभ में बड़ी गरिमा और संभावना की आशा जगाती है किंतु आगे चलकर वह शिथिल पड़ जाती है क्योंकि लेखक उसका निर्वाह नहीं कर पाता। इसलिए रचना की पहली अपेक्षा है कि **विषय सरल और समंजस हो**। लेखक सोचता है कि वह जो लिख रहा है, बिलकुल ठीक है किंतु संक्षेपण के प्रयास में अस्पष्टता आ जाती है, मधुरता के आग्रह में ओज तथा स्फूर्ति नष्ट हो जाती है और भव्यता की आकांक्षा वागाडम्बर में परिणत हो जाती है।"

"प्यारे लेखको ! **विषय** ऐसा चुनो जो तुम्हारी **क्षमता** के अनुरूप हो। अच्छी

तरह सोच लो कि तुम्हारे कंधे कितना बोझ उठा सकते हैं। जो समझ-बूझकर विषय चुनता है उसे न तो शब्दों की कमी होती है और न उनके यथावत् विन्यास में कोई त्रुटि होती है। शब्द-विन्यास का सौंदर्य और आकर्षण इसमें है कि जो जहां रहना चाहिए, वहीं रहे; यहां की चीज यहां और बाद की चीज बाद में।"

"लेखक को काव्यगत शब्दों के परस्पर संयोजन में सुरुचि और सावधानी से काम लेना चाहिए। निपुण संयोजन से परिचित शब्द भी मौलिक प्रतीत होने लगते हैं। यदि नये शब्दों को गढ़े बिना गुप्त रहस्यों (गूढ़ अर्थों) की अभिव्यक्ति न होती हो तो नये शब्द गढ़ने में कोई क्षति नहीं है किंतु इसमें मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए अन्यथा नव-निर्मित शब्दों का आधिक्य अपरिचय के कारण अर्थ को धूमिल कर देगा। नये शब्दों के निर्माण में यूनानी स्रोत का उपयोग उनके प्रचलन में सहायक होगा।"

"शब्दों की स्थिति वृक्ष के पत्तों की है। जैसे पुराने पत्ते झड़ जाते हैं, वैसे पुराने शब्द भी प्रयोग से बहिष्कृत होकर नष्ट हो जाते हैं और नये पत्तों की तरह नये शब्द विकसित होकर पूरी सजधज से प्रकट हो उठते हैं। बहुत बार प्रयोग-बहिष्कृत शब्द फिर से प्रचलन में आ जाते हैं और आज जो शब्द प्रचलित हैं, वे विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। शब्द के आविर्भाव-तिरोभाव का यह क्रम निरंतर चलता रहता है। व्यवहार या प्रयोग ही भाषा का नियामक, शासक तथा मानक है। अत: कवि को सर्वथा प्रयोग-परायण होना चाहिए।"

"छंद का वर्ण्य विषय के साथ घनिष्ठ संबंध है, यह होमर ने अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया है। शोक, आनंद या शौर्य की अभिव्यक्ति के लिए तदनुरूप छंद का ही प्रयोग करना चाहिए; हर्ष-व्यंजक छंद से शोक की व्यंजना और शोक-व्यंजक छंद से हर्ष की व्यंजना सफल नहीं होगी। तात्पर्य कि सत्कवि को विषय और छंद की संगति का ध्यान रखना आवश्यक है।"

"कविता में केवल सौंदर्य का होना ही पर्याप्त नहीं है; उसमें आह्लादन की साथ ही, श्रोता की आत्मा को यथेप्सित दिशा में ले जाने की, क्षमता भी होनी चाहिए। मनुष्य के चेहरे मुस्कान देखकर खिल उठते हैं और रुदन देखकर खिन्न हो जाते हैं। इसलिए जो कवि शोक का भाव उत्पन्न करना चाहता है, उसे पहले अपने भीतर शोक को उद्दीप्त करना होगा। यदि वक्ता के शब्द मानसिक स्थिति को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं तो रोम के द्रष्टा या श्रोता, चाहे वे उच्च हों या निम्न, अट्टहास कर उठेंगे।"

"कथानक के लिए या तो परंपरा का अनुगमन करो या सुसंगत कथानक की उद्भावना करो। परंपरा-प्रसिद्ध पात्र पूर्व-परिचित होते हैं; अत: उनके चित्रण में उनके स्वभावगत वैशिष्ट्य का ध्यान रखना उचित है।" (उदाहरणार्थ, राम की धीरता-गंभीरता और लक्ष्मण की उग्रता-असहिष्णुता ही परंपरा-प्रसिद्ध है। इसके विपरीत वर्णन प्रभाव को खंडित कर देगा; जैसे, राम को उग्र या असहिष्णु और लक्ष्मण को धीर-गंभीर चित्रित करना उचित नहीं होगा। इसी प्रकार युधिष्ठिर को प्रचंड और

भीम को शांत चित्रित करना भी समीचीन नहीं होगा।)

"यदि नाटक के लिए नया कथानक चुनते हो और नये पात्रों की सृष्टि करते हो तो उनकी **चारित्रिक विशेषताओं** को आरंभ से अंत तक कायम रखो। यदि परिचित विषय चुनते हो तो भी ठीक। दृष्टपूर्व विषय भी सत्कवि के हाथ में पड़कर चमक उठते हैं।" (आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है कि रस की योजना से दृष्टपूर्व विषय भी, वसंत ऋतु के वृक्ष की तरह, नये रूप-लावण्य से दमक उठते हैं।) इसलिए विषय का महत्त्व उतना नहीं, जितना उसके उपस्थापन की कला का है। "कवि में क्षमता ऐसी होनी चाहिये कि प्रकाश से धुआं उत्पन्न करने के बदले, धुएं से प्रकाश उत्पन्न कर दे।"

"नाटक में कुछ **घटनाओं** का **प्रदर्शन** होता है और कुछ का केवल **वर्णन** अर्थात् कुछ घटनाएं दृश्य होती हैं और कुछ सूच्य। जो घटनाएं प्रदर्शन के उपयुक्त न हों, उनका वर्णन ही उचित है, अन्यथा वे या तो अविश्वसनीय बन जाएंगी या उद्वेजक। अविश्वसनीय (जैसे, समुद्र-लंघन) तथा उद्वेजक (जैसे, वध आदि) का वर्णन ही होना चाहिये, प्रदर्शन नहीं। (भारतीय नाट्यशास्त्र मे भी ऐसी घटनाओं का वर्णन ही विहित है।) नाटक में केवल पांच अंक होने चाहिये, न अधिक, न कम। किसी दैवी हस्तक्षेप का तब तक उपयोग नहीं करना चाहिये, जब तक उसके बिना समस्या का समाधान होता न दीखे। एक बार तीन से अधिक पात्र मंच पर संभाषण करते न दिखाए जाएं। कोरस (गायकदल) भी एक ही अभिनेता का कार्य करता दिखायी दे और उसका गान भी कथानक की प्रगति में योगदान करने वाला हो। तात्पर्य कि गायकदल की अनेकता का प्रभाव विच्छिन्न न होकर एकीभूत रहे और उसका गान भी कथानक से संबद्ध हो।"

"नाटक में **भाषा** ऐसी प्रयुक्त होनी चाहिये जो न तो ग्राम्य हो और न अभिजनोचित, क्योंकि ग्राम्य भाषा अभिजनों को रुचिकर नहीं होगी और परिष्कृत भाषा अशिक्षितों की समझ में नहीं आएगी। नाटक दोनों श्रेणी के दर्शकों के लिए खेला जाता है। इसलिए दोनों की रुचि और शक्ति का ध्यान रखना आवश्यक है।" "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्"—कालिदास की यह उक्ति होरेस के उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है।

"पूर्ण उत्कर्ष पर पहुंचने के पहले कविता का बार-बार **संशोधन-परिवर्तन** आवश्यक है। जो कविता लंबी अवधि तक संशोधित-परिमार्जित न हुई हो, दस बार कटी-छंटी न हो, वह प्रशस्य नहीं होती।"

"देमोक्रितुस की धारणा है कि कला (व्युत्पत्ति) की अपेक्षा प्रतिभा का प्रकर्ष बड़ा है। अतः बहुसंख्यक भावी कवि (अपने को प्रतिभाशाली प्रमाणित करने के लिए) नाखून नहीं काटते, दाढ़ी नहीं बनाते, स्नान नहीं करते और एकांत ढूंढ़ते हैं।" (होरेस के इस कथन से पता चलता है कि कवियों का यह ढब और ढंग काफी पुराना है।)

"अच्छे लेखन का आधार और स्रोत **स्वस्थ चिंतन** है, (नाखून या दाढ़ी बढ़ाना

नहीं) । व्युत्पन्न लेखक को जीवन और वास्तविक व्यवहार से अपना विषय चुनना चाहिये; भाषा का सच्चा रूप भी वहीं मिलेगा।" (काव्य में लोक-प्रचलित भाषा के प्रयोग का यह संकेत आगे के दांते, वर्ड्सवर्थ, इलियट आदि कवियों ने अनेकशः दुहराया है।)

"धन के लोभ से रचित कविता कभी स्थायित्व नहीं प्राप्त करती।"

"कवि या तो उपदेश देना चाहते हैं या आनंद या दोनों।"

"कोई नैतिक सूत्र संक्षिप्त होना चाहिये; तभी मन उसे सुगमता से ग्रहण करेगा। कल्पित कथानक सत्य के निकट होना चाहिये जिससे उसके लिए असीम विश्वास की आवश्यकता न पड़े। बुजुर्ग नागरिकों को शिक्षा-हीन नाटक पसंद नहीं; गर्ममिजाज सामंतों को नीरस और शिथिल कविता पसंद नहीं। ऐसी स्थिति में वैसी ही रचना सबों को रुचिकर लग सकती है जिसमें आनंद और उपदेश, दोनों का समन्वय हो। ऐसी ही कविता प्रकाशक के लिए लाभकारी होती है, समुद्र के पार पहुंचती है और लेखक को अमर बनाती है।"

"यदि कोई कविता अतिशय चमत्कृतिपूर्ण हो तो उसमें विद्यमान कुछ दोषों को भी मैं बुरा नहीं मानूंगा क्योंकि असावधानी या भूल मनुष्य का प्रकृतिगत धर्म है।"

"कविता की स्थिति तस्वीर की है जो कभी तो पास से अच्छी लगती है और कभी दूर से; कभी उसके लिए मद्धिम रोशनी अच्छी होती है और कभी तेज। किसी कविता को एक बार सुनना काफी होता है और किसी को दस बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती।"

"मन में गांठ बांध लो कि देवों, मनुष्यों तथा पुस्तक-विक्रेताओं द्वारा कवियों के लिए मध्यमता (mediocrity) निषिद्ध है। जिस तरह किसी अच्छी दावत में बेसुरा संगीत या भद्दी खुशबू अच्छी नहीं लगती, उसी तरह कोई कविता, जिसका गुण मन को मोहित करना है, यदि उत्तम नहीं होती, तो अधम बन जाती है।"

"जब तक मन में रचना की प्रेरणा न जगे तब तक कुछ न लिखो और लिखने के बाद सबसे पहले उसे किसी आलोचक को दिखाओ। फिर, उस पन्ने को अपने दराज में नव वर्षों के लिए बंद कर दो। यदि दीर्घ अंतराल के बाद भी वह रचना रमणीय प्रतीत होती है तो उसे प्रकाशित करो। जो प्रकाशित नहीं है, उसे नष्ट कर देना हमेशा संभव है, लेकिन जो चीज एक बार लोगों के सामने आ गयी उसको लौटाना संभव नहीं; उसके साथ लगा यश-अयश स्थायी बन जाता है।"

आचार्य भामह की उक्ति ध्यान देने योग्य है :—कविता नहीं करने से न तो अधर्म होता है, न रोग, न दंड, किंतु कुकविता तो साक्षात् मरण है :

नाकवित्वमधर्माय व्याधये दंडनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिणः ।। काव्यालंकार, १-९

"लोग पूछते हैं कि प्रतिभाजन्य कविता यशस्कर होती है या व्युत्पत्तिजन्य। मैं नहीं समझता कि बिना प्रतिभा के अध्ययन अथवा बिना शिक्षा के नैपुण्य कैसे लाभकर होगा?"

"जिस व्यक्ति का तुमने उपकार किया हो या जो प्रकृत्या चाटुकार हो, उसकी राय रचना के संबंध में न लो, क्योंकि वह तो 'शाबास ! कमाल ! अद्वितीय !', आदि ही कहेगा। यदि किसी के बताने पर भी तुम अपने दोष का समाधान करते हो तो दोनों का श्रम निरर्थक होता है। सच्चे प्रशंसक की अपेक्षा झूठा प्रशंसक अपने उद्‌गार में अधिक उदार होता है। ईमानदार और बुद्धिमान् व्यक्ति निर्जीव रचना की निंदा करेगा, नीरस पंक्तियों में दोष दिखाएगा, असुंदर पंक्तियों पर स्याही फेर देगा, अनपेक्षित अलंकार को काट देगा, अस्पष्ट अंश को स्पष्ट करने के लिए बाध्य करेगा, संदिग्धार्थता की ओर संकेत करेगा, परिवर्तनीय स्थल को चिह्नित करेगा। वह यह नहीं कहेगा कि 'छोटी बात के लिए मित्र को क्यों अप्रसन्न करें ?' छोटी त्रुटियां ही गंभीर बनकर उपहास का कारण हुआ करती हैं।"

निष्कर्ष

होरेस की आलोचना-विषयक मान्यताओं को कुछ हद तक उन्हीं के अंदाज-ए-बयां में हमने ऊपर प्रस्तुत किया है। उनका सार इस प्रकार है :

१. काव्य का विषय **सरल, समंजस** और कवि की **शक्ति के अनुरूप** होना चाहिये। सरल से तात्पर्य ऐसे विषय से है जो परिचित हो। समंजस वह है जिसमें कोई अनपेक्षित या असंबद्ध अंश न हो।

२. **शब्द-संयोजन में सुरुचि और सावधानी** से काम लेना चाहिये जिससे पुराने शब्द भी प्रयोग-नैपुण्य से नये जैसे लगें। कभी प्रचलित शब्द भी पुराने पड़कर प्रयोग-बहिष्कृत हो जाते हैं; कभी प्रयोग-बहिष्कृत शब्द फिर से प्रचलन में आ जाते हैं; नये शब्द भी उत्पन्न होते रहते हैं। यदि उपलब्ध शब्दों से काम चलता न दिखायी दे तो नये शब्दों का निर्माण कर लेना चाहिये। निर्माण के लिए **यूनानी-स्रोत** श्रेष्ठ है। **प्रयोग** भाषा की अर्थवत्ता तथा शक्तिमत्ता का सबसे बड़ा आधार है।

३. **छंद का वर्ण्य विषय से घनिष्ठ संबंध है।** हर छंद से हर भाव अभिव्यक्त नहीं होता। किस भाव के लिए कौन सा छंद उपयुक्त होगा, इसके लिए प्राचीन कवियों के प्रयोग को प्रमाण मानना चाहिये।

४. काव्य में केवल **सौंदर्य** की सत्ता ही काफी नहीं है; उसमें श्रोता को **भाव-मग्न** करने की भी क्षमता होनी चाहिये और यह तभी संभव है जब कवि उस भाव में स्वयं भावित हुआ हो।

५. नाटक का **कथानक** या तो **प्रसिद्ध** (परंपरा-प्राप्त) हो सकता है या **कल्पित**। इन दोनों में, कथानक चाहे जैसा भी हो, आरंभ से अंत तक **सामंजस्य** होना चाहिये। यही बात नाटकीय पात्रों के संबंध में भी याद रखनी चाहिये।

६. नाटक में कुछ घटनाएं **दृश्य** होती हैं और कुछ **सूच्य**। अरुचिकर, उद्वेजक आदि घटनाएं सूच्य रूप में ही प्रस्तुत की जानी चाहिये।

७. नाटक की **भाषा सर्वजन-सुलभ** होनी चाहिये। अरस्तू के शब्दों में "निम्न हुए बिना स्पष्ट"।

८. रचना का बार-बार **संशोधन-परिमार्जन** आवश्यक है। इसके बिना रचना में निखार नहीं आता।
९. उत्तम काव्य की निष्पत्ति के लिए **प्रतिभा**, **व्युत्पत्ति** और **अभ्यास**, तीनों अनिवार्य हैं। इनमें भी अभ्यास का महत्त्व सर्वाधिक है।
१०. उत्कृष्ट काव्य **स्वस्थ चिंतन** से प्रसूत होता है।
११. काव्य का प्रयोजन न तो कोरा उपदेश होना चाहिये और न केवल आनंद, बल्कि **उपदेश** और **आनंद** का समन्वय।
१२. सर्वथा **निर्दोष काव्य विरल** होता है। इसलिए कुछ दोषों के कारण ही किसी काव्य को हेय नहीं कह देना चाहिये।
१३. कोई काव्य सुखबोध्य होता है और कोई श्रम-बोध्य। काल-भेद से उसके आस्वादन-प्रकार में भी भेद हुआ करता है।
१४. काव्य हमेशा **उत्तम** ही होना चाहिये। मध्यम काव्य नाम की कोई चीज नहीं होती। जो काव्य उत्तम नहीं, वह अधम है।
१५. जब तक रचना की इच्छा न हो अर्थात् रचना की **अंतःप्रेरणा** न हो तब तक रचना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।
१६. रचना के प्रकाशन में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। जल्दबाजी में प्रकाशित रचना से यश के बदले अयश होता है।
१७. रचना पर आलोचक की राय लेनी चाहिए। यदि वह दोष बताए तो समाधान के बदले उसका निवारण करना चाहिए।
१८. उपकृत या अनुगृहीत प्रशंसक की प्रशंसा को महत्त्व नहीं देना चाहिए। वह प्रशंसा के बदले चाटुकारी करता है।

मूल्यांकन

१. होरेस की आलोचना पर, जैसा स्वाभाविक है, अनुकूल तथा प्रतिकूल, दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाएं हुई हैं। यदि दो बातों पर ध्यान रखें तो उनका मूल्यांकन अधिक संगत और वस्तुनिष्ठ होगा। एक है 'आर्स पोएतिका' की रचना का **प्रयोजन** और दूसरा, उसका **अधिकारी**। हमने देखा है कि आर्स पोएतिका लेखक का दिया नाम नहीं है। वस्तुतः इस नाम से हमारी अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। 'काव्यकला' पर लिखी पुस्तक से हम काव्य-संबंधी सांगोपांग या व्यापक विचार की आशा करते हैं। उस समय यह बात हमारे ध्यान से ओझल हो जाती है कि यह स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि केवल एक पत्र है जिसका प्रयोजन है काव्य-रचना-विषयक केवल व्यावहारिक, उपयोगी सुझाव देना और उसका अधिकारी है काव्यपथ का एक नया पथिक। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखें तो हम यथार्थ के अधिक निकट होंगे।

२. आर्स पोएतिका के पाठक को उसकी अपूर्णता, असंबद्धता, अगंभीरता आदि खटकती है पर इन सब का संबंध कृति की विधा से है। पत्र में बातें उसी क्रम से आती हैं जिस क्रम से वे मन में उदित होती हैं; अतः पौर्वापर्य का पत्र में क्रम बहुधा

बाधित हो जाया करता है। फिर, लेखन जैसे विषय पर पत्र में कतिपय संकेत ही दिये जा सकते हैं, विस्तृत या पूर्ण निरूपण नहीं हो सकता।

३. यद्यपि होरेस ने अरस्तू का कहीं नाम नहीं लिया है किंतु अरस्तू का प्रभाव उन पर हमेशा हावी रहता है। यों, अरस्तू और होरेस में कई स्पष्ट भेद हैं: (क) अरस्तू की आलोचना वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक है; होरेस की निर्देशात्मक (prescriptive)। अरस्तू कहते हैं कि 'ऐसा है' या 'ऐसा होता है'; होरेस कहते हैं कि 'ऐसा होना चाहिए'। (ख) अरस्तू आलोचक की दृष्टि से काव्य पर विचार करते हैं; होरेस रचनाकार की दृष्टि से। अरस्तू की शास्त्रीय, वैज्ञानिक और अंतर्भेदी दृष्टि का होरेस में अभाव है। होरेस का क्षेत्र संकुचित और सतही है। (ग) अरस्तू की आलोचना में पद्धति का वैशिष्ट्य है; इसलिए उससे आज भी नयी आलोचना-सरणियों का विकास हो रहा है। होरेस की आलोचना में पद्धति जैसी कोई वस्तु नहीं है; वह प्रकीर्ण, प्रचलित सिद्धांतों अथवा तथ्यों का संग्रह है।

४. प्लेटो ने काव्य की सार्थकता नैतिक-शैक्षिक मूल्यों में मानी थी; अरस्तू ने आनंद की महत्ता स्थापित की थी। होरेस ने दोनों के बीच समन्वय का मार्ग अपना कर काव्य के प्रयोजन के अंतर्गत शिक्षा और आनंद दोनों का समाहार कर दिया।

५. होरेस इसके लिए श्रेय के अधिकारी हैं कि उन्होंने काव्यालोचन की स्वायत्तता कायम रखते हुए शुद्ध आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत किया और आलोचना को किसी दूसरे अनुशासन का अंग या आश्रित नहीं बनाया।

६. जॉर्ज सेन्ट्सबरी के अनुसार आर्स पोएतिका का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उसमें रोमी युग के साहित्य की आलोचनात्मक धारणा की स्पष्ट झांकी मिलती है।

६. अनुकरण शब्द का प्रयोग होरेस ने भी किया है किंतु अरस्तू से सर्वथा भिन्न अर्थ में। होरेस के अनुसार अनुकरण का अर्थ है प्राचीन कवियों के आदर्शों और मान्यताओं का अनुकरण। एक शब्द में कहें तो प्राचीनों का अनुकरण ही वास्तविक अनुकरण है। प्रकृति, दर्शन आदि के झमेले में न पड़कर होरेस ने अनुकरण का सीधा, सुबोध अर्थ ग्रहण किया है।

८. होरेस के मन में औचित्य (decorum/propriety) काव्यरचना का प्रधान गुण है। विषय, भाव, भाषा, छंद, सर्वत्र वे औचित्य के आग्रही हैं। औचित्य शास्त्रवाद का एक प्रकार से अभिन्न सहचर है। कालांतर में उसी से रूढ़ियों का जन्म होता है। नाटक का आकार मर्यादित होना चाहिए, यह ठीक है, क्योंकि अतिविस्तार से वह ऊब पैदा करेगा और अतिसंक्षेप से उसका प्रभाव आहत होगा किंतु जब होरेस यह कहते हैं कि "अंक पांच ही हों, न अधिक, न कम" तो यह रूढ़ि हो गयी। प्रेक्षकों का ध्यान बंट न जाए, इसके लिए मंच पर तीन पात्रों का होना संगत है मगर चार पात्र कभी हों ही नहीं, यह रूढ़ि है। आवश्यकता पड़ने पर तीन से अधिक पात्रों के भी मंच पर आने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए औचित्य रूढ़ि में परिणत न हो जाए, इसका ध्यान रखना चाहिए। होरेस का औचित्य बहुशः रूढ़ि में परिणत हो गया है।

९. नये रचनाकारों के लिए होरेस के सिद्धांत निश्चय ही बड़े उपादेय और सहायक हैं। उनका अनुगमन कर कोई सहज ही स्खलन से बच सकता है। इस दृष्टि से उनके सिद्धांतों की प्रासंगिकता अक्षुण्ण कही जाएगी। होरेस की लोकप्रियता और मान्यता का यह बहुत बड़ा कारण रहा है।

१०. यद्यपि होरेस यूनानी साहित्य के प्रबल प्रशंसक तथा समर्थक हैं, आदर्श के रूप में यूनानी साहित्य को सदा सामने रखने की सिफारिश भी करते हैं किंतु राष्ट्रीय साहित्य की कीमत पर नहीं। उनका कहना है कि कला और शिल्प में यूनान को आदर्श मानो पर अपनी भाषा में अधिक से अधिक मौलिक साहित्य रच कर राष्ट्रीय भंडार को भरो। "यदि यूनानी भी मौलिकता से परहेज करते तो हमें उनके जैसा अभिजात साहित्य कहां से मिलता ?" होरेस लैटिन साहित्य में यूनानी साहित्य की श्री और समृद्धि लाना चाहते हैं।

११. काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास में प्रतिभा का महत्त्व मानते हुए भी होरेस व्युत्पत्ति और अभ्यास को अधिक उपादेय समझते हैं। श्रम का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व है।

१२. होरेस की प्रकृति विनोदी और व्यंग्यप्रिय थी, यह उनके लेखन के अंदाज से जाहिर है। अतः आलोचना के सैद्धांतिक ऊहापोह या गहराइयों में जाने की उनमें प्रवृत्ति नहीं दीखती। वे कवि थे, अतः अपने अनुभव के आधार पर काव्यरचना के लिए उपयोगी सुझाव दे सकते थे। आर्स पोएतिका में उन्होंने यही किया भी है। उनमें कहीं भी क्लिष्टता या अस्पष्टता नहीं है। उनकी चुटीली, संक्षिप्त, सूत्रोपम उक्तियां समझने में सुगम और याद रखने में आसान हैं। पर इसके साथ ही उनमें एक बड़ा दोष यह है कि उनके सिद्धांत-वचन व्यंग्य-विनोदपूर्ण विस्तार और वाग्जाल में छिप जाते हैं; उनका मनमौजीपन कभी-कभी उबाऊ और हास्यास्पद बन जाता है। आर्स पोएतिका में यह प्रवृत्ति आरंभ से अंत तक वर्तमान है। यों, उनकी अभिव्यंजना में अपेक्षित सफाई-सुथराई है, और कथन-भंगी भी आकर्षक है।

१३. सेन्ट्सबरी का कहना है कि कुछ संदर्भों को छोड़कर होरेस में न तो सप्राणता है, न उमंग, न भाव। कुल मिलाकर आर्स पोएतिका अत्यंत मध्यम (mediocre) कोटि की रचना है। विलियम विमसैट ने अपने इतिहास में सेन्ट्सबरी से असहमति व्यक्त की है। हमारी धारणा है कि सेन्ट्सबरी के विचार अतिरंजित हैं। होरेस पर गंभीरता, मौलिकता और विवेचकता की कमी का आरोप सही हो सकता है किंतु उनमें न तो उमंग या भाव की कमी है और न सप्राणता की ही। हमारा तो यह ख्याल है कि उमंग या भाव के अतिरेक के कारण ही उनमें गंभीरता नहीं आ पायी है। उमंग, भाव-प्रवणता या जिंदादिली में होरेस की समता करने वाले आलोचक कम ही मिलेंगे।

१४. रोमी आलोचकों में होरेस का स्थान निस्संदेह सर्वोच्च है; शास्त्रवादी आलोचकों में अरस्तू के बाद उन्हीं का नाम लिया जाता है किंतु दोनों में तात्त्विक अंतर है : अरस्तू अपनी आभा से चमकते हैं; होरेस अरस्तू की आभा के प्रतिफलन

से। अरस्तू मौलिक उद्भावना में समर्थ हैं; होरेस उद्भावित मार्ग पर आत्मविश्वास से चल सकते हैं और दूसरों को भी सहारा दे सकते हैं। उनकी सबसे उल्लेख्य आलोचनात्मक भूमिका यह है कि उनके प्रभाव से गौथिकवाद (Gothicism) का अतिरेक नियंत्रित रहा; रोमांटिक कल्पना का अतिशय अनुशासित रहा; पुनर्जागरण-युगीन आलोचना को प्रेरणा और दिशा मिली। इंग्लैंड में बेन जॉनसन (१५७३-१६३७ ई०) और फ्रांस में बोइलो (१६३६-१७११ ई०) जैसे उत्कृष्ट आलोचक होरेस के अनुगामी रहे। बोइलो के 'लार पोएतीक' (L'art Poetique) और अलेग्ज़ांडर पोप (१६८८-१७४४ ई०) के 'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म' में शुद्धता, व्यवस्था, औचित्य, व्युत्पत्ति आदि पर जो बल है, उसके पीछे होरेस का ही प्रभाव है। अरस्तू को छोड़ दें तो अठारहवीं शताब्दी तक यूरोपीय आलोचना पर होरेस का एकाधिपत्य रहा। शास्त्रवादी आलोचना के प्रतिष्ठापकों और आद्य आचार्यों में उनका स्थान स्थिर तथा सुरक्षित है।

लोंगिनुस

[प्रथम या तृतीय शताब्दी ई०]

लोंगिनुस (Longinus) (अंग्रेजी उच्चारण के अनुसार लोंजाइनस) कब और कहां हुए, यह निश्चित नहीं है। कभी कभी यह भी संदेह व्यक्त किया जाता है कि इस नाम का कोई व्यक्ति वस्तुतः हुआ भी है या नहीं। किंतु परंपरा ने इस नाम का संबंध एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धांत के साथ जोड़ रखा है, जिसे 'उदात्त' नाम से अभिहित किया गया है।

लोंगिनुस जन्म से यूनानी थे। उनका समय ईसा की प्रथम या तृतीय शताब्दी माना जाता है। इन दोनों में किसी एक के पक्ष में निर्णायक प्रमाण नहीं हैं। यों, बहुमत प्रथम शताब्दी का समर्थक है। ऐतिहासिकता का दंभ करने वाले और भारतीय इतिहास-बोध की कमजोरी दिखानेवाले पश्चिम में भी इतिहास की क्या स्थिति रही है, इसका यह सुंदर उदाहरण है। लोंगिनुस के नाम से जो ग्रंथ संबद्ध तथा प्रसिद्ध है उसका यूनानी नाम 'पेरि हुप्सुस' है। शताब्दियों की उपेक्षा तथा विस्मृति के बाद 'पेरि हुप्सुस' १५५४ ई० में प्रकाशित हुआ जिसका श्रेय रोब्रेरतेल्लो (Robertello) नामक एक इतालवी विद्वान् को है। इसका पहला अंग्रेजी रूपांतर जॉन हॉल ने १६५२ ई० में किया और नाम रखा 'ऑफ दि हाइट ऑफ एलक्वेन्स' (Of the Height of Eloquence)। 'पेरि हुप्सुस' मूलतः भाषणशास्त्र (रेटोरिक) का ग्रंथ है। इसलिए हॉल का दिया नाम 'ऑफ दि हाइट ऑफ एलक्वेन्स' (वाग्मिता का प्रकर्ष) मूल यूनानी के अधिक निकट है किंतु जैसा सेन्ट्सबरी ने कहा है, यह नाम न तो सुंदर (elegant) है और न सुप्रयोज्य (handy)। कोई दूसरा शब्द भी उन विप्रतिपत्तियों से मुक्त नहीं है जो 'सब्लाइम' में पायी जाती हैं। ध्यान में इतना ही रखना है कि 'सब्लाइम' को उसके संकीर्ण शैलीगत अर्थ में ग्रहण न करके, उन विशेषताओं से समन्वित व्यापक अर्थ में ग्रहण करना उचित है जिससे उल्लास उत्पन्न होता है। जो कठिनाई सब्लाइम में है वही कुछ दूर तक 'उदात्त' में भी है; फिर भी, 'उदात्त' में 'हुप्सुस' की उच्चता या उत्कर्ष की द्योतकता वर्तमान है; अतः 'सब्लाइम' की तुलना में 'उदात्त' मूल के अधिक समीप है। सबसे बड़ी बात यह है कि अंग्रेजी में 'सब्लाइम' और हिंदी में 'उदात्त' इतने प्रचलित हो गये हैं कि इन्हें बदलना न तो शक्य है और न आवश्यक। प्रयोग से ही शब्द की अर्थवत्ता पुष्ट होती है। 'सब्लाइम' तथा 'उदात्त' में प्रयोगजनित वह पुष्टि आ चुकी है और थोड़ा अर्थविस्तार कर देने

पर ये उस अर्थ के बोधक भी हो जाते हैं जो 'हुप्सुस' से अभिप्रेत है।

'पेरि हुप्सुस' अरस्तू के 'पेरि पोइएतिकेस' की तरह काव्य-निरूपक ग्रंथ नहीं है। प्राचीन एथेन्स (या रोम में भी) काव्यशास्त्र के समान एक दूसरा शास्त्र भी विकसित तथा लोकप्रिय था जिसे भाषणशास्त्र (र्‌हेतोरिकेस) कहते थे। भाषणशास्त्र, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, भाषण-संबंधी शिक्षा का शास्त्र है। चूंकि एथेन्स में लोकतंत्र था और लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोक-प्रतिनिधियों का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी बात को तर्कसंगत तथा प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करना जरूरी है, इसलिए भाषण-कला का एक स्वतंत्र शास्त्र विकसित हुआ। 'पेरि हुप्सुस' का विषय भाषण-कला ही है किंतु कथ्य को प्रभावी बनाना वक्ता और कवि दोनों का लक्ष्य है—दोनों श्रोता और पाठक को प्रभावित ही नहीं, संमोहित भी करना चाहते हैं; अतः भाषण-शास्त्र और काव्यशास्त्र के प्रतिपाद्य काफी दूर तक समान ही हैं। अंतर दोनों में इतना ही है कि कवि यदि भावोद्दीपन के द्वारा प्रभावित करता है तो वक्ता तर्क के द्वारा। इसका यह अर्थ नहीं कि वक्ता भावोद्दीपन का सहारा लेता ही नहीं, और न यही कि कवि की उक्ति तर्कहीन होती है। भाव और तर्क की बात केवल प्रधानता के आधार पर है। यही कारण है कि 'पेरि हुप्सुस' भाषणशास्त्र का ग्रंथ होने पर भी काव्यशास्त्रियों के बीच सम्मानित हुआ।

'पेरि हुप्सुस' पत्र के रूप में पोस्तुमिउस तेरेन्तियानुस (Postumius Terentianus) नामक एक रोमी युवक को संबोधित है, जो लोंगिनुस का मित्र या शिष्य रहा होगा। पत्र की भाषा यूनानी (ग्रीक) है। केकिलिउस नाम के एक व्यक्ति ने पहले उदात्त का निरूपण किया था किंतु उसमें लोंगिनुस को अनेक त्रुटियां दिखायी पड़ीं: जैसे, १. विषय की परिभाषा का अभाव; २. उन पद्धतियों के विवेचन का अभाव जिनकी सहायता से कोई अपनी शक्ति को विकसित कर उदात्त की ऊंचाई तक पहुंच सकता है; ३. भाव जैसे प्रमुख तत्त्व के निरूपण का अभाव; ४. उदाहरणों का अनपेक्षित बाहुल्य। केकिलिउस की इस कृति पर लोंगिनुस ने पहले भी कभी तेरेन्तियानुस के साथ विचार-विमर्श किया था। उसी को विशद रूप देते हुए, लिपिबद्ध करते हुए और केकिलिउस की त्रुटियों का यथासंभव निराकरण करते हुए लोंगिनुस ने यह रचना की। होरेस की आलोचना के प्रसंग में हमने देखा है कि 'आर्स पोएतिका' की रचना भी पत्र के रूप में ही हुई है। काव्यशास्त्र अथवा भाषणशास्त्र जैसे गूढ़ विषय का पत्र में विवेचन अन्य विशेषताओं—जैसे उन्मुक्तता, अनौपचारिकता, आदि—के अतिरिक्त, यह भी सूचित करता है कि विवेच्य विषय पर लेखक का कितना अधिकार है।

'पेरि हुप्सुस' लगभग साठ पृष्ठों की लघुकाय कृति है जिसमें छोटे-बड़े ४४ अध्याय हैं। अध्यायों का आकार बहुत ही असमान है—कुछ अध्याय दो-तीन पृष्ठों के हैं तो कुछ केवल सात-आठ पंक्तियों के। इसका एक कारण यह भी है कि कई अध्यायों के अंश खंडित हैं। पूरी पुस्तक का प्रायः एक-तिहाई भाग लुप्त है। मनुष्यों की तरह कृतियों के भी भाग्य सोते-जागते रहते हैं। इसके अगणित उदाहरणों में 'पेरि हुप्सुस' भी है।

१५०० वर्षों तक इसका कहीं अता-पता नहीं था। सोलहवीं शताब्दी के पूर्व इसकी कहीं चर्चा भी नहीं मिलती। काव्यशास्त्रीय इतिहास का निश्चय ही यह बहुत बड़ा सौभाग्य है कि 'पेरि हुप्सुस' जैसी महत्त्वपूर्ण कृति, खंडित रूप में ही सही, प्रकाश में आयी। विद्वानों ने एक स्वर से इस कृति की और कृतिकार की प्रशंसा की है। सेन्ट्सबरी के शब्दों में लोंगिनुस "तीक्ष्ण साहित्यिक प्रतिभा से संपन्न लेखक हैं और 'पेरि हुप्सुस' विस्मयकारी कृति। आलोचना का कोई विद्यार्थी (इस पुस्तक की) एक दर्जन पंक्तियां पढ़ने के बाद यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि वह एक नयी दुनिया में है। (लोंगिनुस) ऐसे व्यक्ति हैं जिनके उत्कर्ष का क्षेत्र अरस्तू से बड़ा है और जिनकी प्रतिभा दियोनीसिउस अथवा क्विन्तिलियन की तुलना में निश्चय ही अधिक शक्तिशाली तथा साहित्यिक परिशंसन कहीं अधिक तीव्र है।" एलेन टेट ने उन्हें "अपूर्ण होते हुए भी प्रथम साहित्यिक आलोचक" माना है। विमसैट और क्लीन्थ ब्रुक्स के अनुसार 'पेरि हुप्सुस' "एक असाधारण लेख (extra-ordinary essay) है।" एब्रम्स का कहना है कि "साहित्य के उत्तरवर्ती अध्येताओं की दृष्टि में यदि अरस्तू व्यवस्थाप्रेमी, होरेस सांसारिक और भाषणशास्त्री क्षुद्र हैं तो लोंगिनुस जीवंत और आधुनिक हैं।" डेविड डेचेज़ का मत है: "लोंगिनुस का महत्त्व इस बात में है कि साहित्य के संबंध में जो प्रश्न प्लेटो या अरस्तू ने उठाये थे, उनसे सर्वथा भिन्न प्रश्न लोंगिनुस ने उठाये।" लोंगिनुस के संबंध में इस तरह के विचारों की संख्या अनंत है। वस्तुत: १७वीं शताब्दी के बाद का शायद ही कोई आलोचक हो जो लोंगिनुस से अभिभूत न हुआ हो। चूंकि दुर्दैववश लोंगिनुस डेढ़ हजार वर्षों तक विस्मृत रहे, इसलिए उनका महत्त्व लोगों के सामने ठीक-ठीक प्रकट नहीं हुआ, अन्यथा उनके जैसी पैनी आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि किसी दूसरे आलोचक में नहीं दीखती। और, जिस युग में उन्होंने 'पेरि हुप्सुस' की रचना की, उसे यदि ध्यान में रखें तो वे सचमुच अद्वितीय हैं।

यहां हम संक्षेप में, किंतु कुछ-कुछ लोंगिनुस की पद्धति में ही, उनके विचारों को उपस्थापित कर रहे हैं जिससे सिद्धांतों के साथ उनकी कथन-भंगी का भी थोड़ा आभास हो सके। एक दूसरी बात का भी संकेत अपेक्षित है। 'पेरि हुप्सुस' के किसी एक अनुवाद पर निर्भर न कर हमने अनेक अनुवादों[1] की सहायता ली है क्योंकि हमने पाया कि विभिन्न अनुवादों में परस्पर पर्याप्त भेद है, न केवल शब्दगत बल्कि अर्थगत और विन्यासगत भी।

अध्यायानुसार 'पेरि हुप्सुस' की विषय-सूची इस प्रकार है:

१.	(a) Longinus on the Sublime	Ed. and Trans. W. Rhys Roberts, Cambridge University Press; 1935
	(b) Do	Trans. H. L. Havell, Every Man's Library, London; 1935.
	(c) Do	Trans. T. S. Dorsch, Penguin Classics, London; 1977.

१. अध्याय १ से ७	:	भूमिका—ग्रंथ का प्रयोजन, उदात्त की परिभाषा, कतिपय दोषों का विवेचन आदि।
२. अध्याय ८ से १५	:	उदात्त के पांच स्रोतों का निर्देश; उनमें विचार की गरिमा तथा भाव की प्रबलता का निरूपण।
३. अध्याय १६ से २९	:	अलंकारों का निरूपण।
४. अध्याय ३० से ३८	:	शब्द, रूपक, बिंब आदि का निरूपण।
५. अध्याय ३९-४०	:	रचना की भव्यता का निरूपण।
६. अध्याय ४१-४३	:	दृष्टिभेद से उदात्त-विरोधी कुछ अन्य दोषों की चर्चा।
७. अध्याय ४४	:	उपसंहार—यूनान के नैतिक-साहित्यिक ह्रास के कारणों का संधान।

पुस्तक की भूमिका है :

"प्रिय तेरेन्तियानुस, चूंकि तुमने आग्रह किया है कि तुम्हारे संतोष के लिए मैं उदात्तविषयक अपने विचारों को लिख डालूं, अतः पहले हमें यह सोच लेना चाहिए कि मेरे विचारों में व्यापक सार्वजनिक मूल्य की कोई वस्तु है भी या नहीं ? और, मेरे मित्र ! चूंकि अपनी प्रकृति और योग्यता से प्रेरित होकर तुमने मुझसे यह आग्रह किया है, इसलिए मुझे आशा है कि तुम इसके विभिन्न विवरणों के विषय में अपने निष्पक्ष निर्णय से मुझे अवगत कराओगे। 'देवताओं से हमारी किन बातों में समानता है ?' इस प्रश्न में उत्तर में किसी ने ठीक ही कहा था कि 'परोपकार और सत्य में'।"

जैसा हम कह चुके हैं, 'पेरि हुप्सुस' इसी तरह पत्र के रूप में है; अतः उसमें सर्वत्र उत्तम पुरुष का प्रयोग है।

उदात्त को परिभाषित करते हुए लोंगिनुस कहते हैं : **'उदात्त अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है'**। यही वह साधन है जिसकी सहायता से महान् कवियों और इतिहासकारों ने ख्याति और अविनश्वर कीर्ति अर्जित की है। उदात्त का प्रभाव श्रोताओं के अनुनयन (persuation) में नहीं, बल्कि सम्मोहन (entrancement) में दृष्टिगोचर होता है। जो केवल हमारा अनुनयन या मनोरंजन करता है, उसकी अपेक्षा वह निश्चय ही अधिक श्रेष्ठ है, जो हमें विस्मित कर सर्वदा और सर्वथा सम्मोहित कर लेता है। अनुनयन हमारे अधिकार की चीज है अर्थात् अनुनीत होना या न होना हमारे हाथ में है किंतु उदात्त तो प्रत्येक श्रोता को अप्रतिरोध्य शक्ति (irresistible force) से प्रभावित कर अपने वश में कर लेता है। सर्जनात्मक कौशल और वस्तुविन्यास पूरी रचना में आद्यंत वर्तमान रहते हैं और क्रमशः, शनैः शनैः, उभरते हैं, किंतु बिजली की कौंध की तरह सही समय पर उदात्त की एक कौंध, पूरे विषय को उद्भासित कर देती है।

निष्कर्ष कि

१. उदात्त अभिव्यंजना का प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।

२. उदात्त का कार्य अनुनयन नहीं, सम्मोहन है।

३. उदात्त यदाकदा नहीं, बल्कि सदा, सब को और संपूर्णतः सम्मोहित करता है।

४. उदात्त सर्जनात्मक या रचनात्मक कौशल से भिन्न तत्त्व है। उसका प्रभाव क्रमिक नहीं, आकस्मिक होता है और उसके अलौकिक आलोक से कथ्य चमक उठता है।

उदात्त सहज है या उत्पाद्य ?

उदात्त के स्वरूपनिर्धारण के बाद लोंगिनुस दूसरा प्रश्न उठाते हैं कि उदात्त सहज है या उत्पाद्य ? कुछ लोगों का कहना है कि प्रतिभा सहज अर्थात् जन्मजात धर्म है; उसे सीखा नहीं जा सकता; प्रकृति के अतिरिक्त और किसी चीज से वह उत्पन्न नहीं होती। उनका यह भी कहना है कि नैसर्गिक प्रतिभा से उत्पन्न कृतियां नियमों के कठोर बंधन और दबाव से निष्प्राण हो जाती हैं। लोंगिनुस के अनुसार इस मत का विरोधी पक्ष भी निर्बल नहीं है। यह ठीक है कि प्राकृतिक प्रतिभा के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु यह भी सही है कि प्रकृति नियमहीन या उच्छृंखल रूप में कुछ नहीं करती। यद्यपि सभी कार्यों का मूल कारण और सर्जनात्मक आधार प्रकृति ही है, फिर भी किसी कार्य की मात्रा और काल का निर्धारण (कोई कार्य कितना और कब होगा) अथवा उसके उपयोग के लिए स्पष्ट नियम का निर्माण किसी तंत्र या व्यवस्था के अंतर्गत आता है। कहने का अभिप्राय यह कि उदात्त सहज होते हुए भी नियम-निरपेक्ष नहीं है। उदात्त को एक खतरे से बचाना भी आवश्यक है। यदि उस पर ज्ञान का अंकुश न रहे तो वह अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है। इसलिए उदात्त के लिए अंतःप्रेरणा की जितनी अपेक्षा है, उतनी ही नियंत्रण की भी। लोंगिनुस उदात्त की उत्पत्ति के लिए केवल प्रतिभा को ही पर्याप्त नहीं मानते, उसके साथ ज्ञान (व्युत्पत्ति) को भी आवश्यक बताते हैं। तात्पर्य कि उदात्त नैसर्गिक ही नहीं, उत्पाद्य भी है; प्रतिभा के अतिरिक्त ज्ञान और श्रम से भी उसकी सृष्टि संभव है।

उदात्त के अवरोधक दोष

तीन दोष उदात्त के अवरोधक हैं :

१. शब्दाडंबर (Tumidity or bombast);

२. बालिशता (Puerility);

३. भावाडंबर (Empty or false passion)।

"शब्दाडंबर से बचना बड़ा कठिन है। बात यह है कि कुछ लेखक अशक्तता (feebleness) और शुष्कता (aridity) से बचने के प्रयास में शब्दाडंबर के शिकार हो जाते हैं। किंतु वे भूल जाते हैं कि शोथ (swelling) शरीर की तरह रचना में भी अवांछनीय है। श्लथता (flabbiness) का प्रभाव अभीष्ट के विपरीत होता है। कहावत है कि जलोदर के रोगी से बढ़कर और कुछ भी शुष्क नहीं होता। तो शब्दा-

डंबर उदात्त के अतिक्रमण की इच्छा से उत्पन्न होता है किंतु उदात्त का अतिक्रमण करने के बदले वह उसके प्रभाव को ही नष्ट कर देता है।

बालिशता (बचकानापन) भव्यता का विलोम है क्योंकि यह निर्बल और संकीर्ण बुद्धि से उत्पन्न होती है और लेखन-संबंधी दोषों में सबसे हेय है। बालिशता अप्रौढ़ता से उत्पन्न बचकाना विस्तार है, जो रचना को जड़ बना देती है। यह दोष तब आता है, जब लेखक रचना को असाधारण या आकर्षक या भड़कदार बनाना चाहता है पर हाथ लगती है केवल कृत्रिमता और प्रदर्शनप्रियता।"

भावाडंबर या मिथ्याभाव तीसरा दोष है। इसकी उत्पत्ति अस्थानस्थ या निस्सार भाव से होती है अर्थात् जहां भाव की आवश्यकता नहीं है या यों कहें कि जहां भाव के बदले संयम की आवश्यकता है, वहां जब लेखक भाव की अमर्यादित अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होता है तो भावाडंबर आ जाता है। तात्पर्य कि **अस्थानस्थ, अनपेक्षित और अनुचित भावातिरेक** भावाडंबर है।

शब्दाडंबर, बालिशता और भावाडंबर, ये तीन दोष उदात्त के बाधक या अवरोधक हैं। "इस सभी दोषों का कारण एक ही है और वह है नवीनता का आग्रह जिससे आज के लेखक ग्रस्त हैं। सच तो यह है कि हमारे दोषों के स्रोत भी वे ही हैं जो गुणों के। यदि सुंदर शैली, भव्य कल्पना और प्रसन्न पदयोजना प्रभावी रचना के उपादान और सफलता के आधार हैं तो विफलता के भी आधार ये ही हैं। औचित्य और मर्यादा के निर्वाह से जहां ये रचना को सफल बनाते हैं, वहां अनौचित्य या अमर्यादा से विफल भी।"

सच्चे उदात्त की पहचान

कहना न होगा कि उदात्त की सिद्धि तभी संभव है, जब उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाए। किंतु यह कार्य सरल नहीं है, क्योंकि साहित्यालोचन दीर्घ अनुभव की चूड़ांत उपलब्धि है (judgement of literature is the crowning achievement of long experience)।

"धन, सम्मान, यश और प्रभुत्व की जो बाहरी तड़क-भड़क दिखायी देती है, उससे बुद्धिमान् मनुष्य प्रभावित नहीं होता क्योंकि वह इनके भीतरी खोखलापन को अच्छी तरह जानता है। इसी प्रकार हमें यह भी देखना चाहिए कि कोई काव्य अलंकारों के अतिशय प्रयोग से तो भव्य नहीं लग रहा है, जिन्हें हटा देने पर वह अरमणीय लगने लगेगा और प्रशंसनीय के बदले निंदनीय बन जाएगा। वास्तविक उदात्त में कुछ ऐसी अंतर्निहित शक्ति होती है कि वह हमारी आत्मा को ऊपर उठा देता है और हमें ऐसे आनंद से भर देता है कि लगता है मानो हम जो सुन रहे हैं उसके स्रष्टा हम स्वय हैं। यदि कोई बुद्धिमान् और अधीत व्यक्ति किसी संदर्भ को अनेक बार सुनकर भी उसकी भव्यता का अनुभव नहीं करता अथवा शब्दार्थ के अतिरिक्त, चिंतन के योग्य, उससे और कोई सामग्री नहीं पाता, बल्कि इसके विपरीत, अवधानपूर्वक विवेचन करने पर उसका प्रभाव अधिकाधिक क्षीण होता जाता है या एक बार

सुनने तक ही टिकता है तो इसका अर्थ है कि वह सच्चा उदात्त नहीं है। कोई रचना तभी महान् होती है जब वह बार-बार के परीक्षण से भी फीकी नहीं पड़ती, जब उसके प्रभाव को रोकना संभव नहीं होता और जब स्मृति में वह अटल और अमिट रूप में अंकित हो जाती है। सामान्यतः उदात्त अपने पूरे सौंदर्य के साथ उन्हीं रचनाओं में रहता है जो सभी मनुष्यों को सदा आनंद देती हैं। जब विभिन्न व्यवसायों, जीवन-पद्धतियों, आकांक्षाओं, रुचियों, उम्रों और भाषाओं के लोग किसी रचना के संबंध में सर्वथा एकमत हों तो ऐसे परस्पर असमान व्यक्तियों का सर्व-सम्मत निर्णय उस महनीय वस्तु में हमारी आस्था को दृढ़ और अविचल बनाता है।"

उद्दात के पांच स्रोत

लोंगिनुस उदात्त के पांच स्रोत मानते हैं :

१. महान् विचारों की उद्भावना की क्षमता।

२. प्रबल तथा अंतःप्रेरित भाव।

३. अलंकारों—विचारालंकार और शब्दालंकार—का समुचित प्रयोग।

४. भव्य शब्द-योजना। इसमें शब्द-चयन, बिंबविधान तथा शैलीगत परिष्कार अंतर्भूत हैं।

५. रचना की गरिमा और उत्कर्ष का समुचित प्रभाव।

इनमें प्रथम और द्वितीय बहुत कुछ जन्मजात हैं और शेष तीनों कला से उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्रथम दोनों प्रतिभा की देन हैं और शेष कला (व्युत्पत्ति-अभ्यास) की। लोंगिनुस की मान्यता है कि सभी भाव उदात्त के उपयुक्त नहीं होते। करुणा, भय, दुःख जैसे भाव इतने क्षुद्र हैं कि इनमें उदात्त की कल्पना भी नहीं हो सकती। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि अनेकत्र भाव के बिना भी उदात्त की स्थिति पायी जाती है अर्थात् उदात्त के लिए भाव का होना जरूरी नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पहली मान्यता का अरस्तू से विरोध है। अरस्तू के अनुसार करुणा और भय दुःखांतक के प्राण हैं—दुःखांतक के प्रभाव का सारा दारमदार करुणा और भय पर ही निर्भर है। इसके विपरीत लोंगिनुस इन दोनों भावों को क्षुद्र कहते हैं और उदात्त की सीमा से इन्हें बहिष्कृत कर देते हैं। ऐसा करते समय निश्चय ही उनके मन में अरस्तू प्रच्छन्न रूप से वर्तमान हैं, अन्यथा इतने जोरदार ढंग से करुणा और भय का प्रत्याख्यान अपेक्षित नहीं था। दूसरी मान्यता में स्ववचन-विरोध है। एक ओर तो लोंगिनुस उदात्त के पांच स्रोतों में भाव को प्रधान (द्वितीय) स्थान देते हैं; उसे जन्मजात मानते हैं। यही नहीं, केकिलिउस के उदात्तविषयक निरूपण में उनकी अरुचि और असंतोष का एक कारण यह भी है कि केकिलिउस ने भाव की उपेक्षा कर दी है। लोंगिनुस के उदात्त-निरूपण का एक सबल कारण भाव की प्रतिष्ठा भी है। भाव को इतना महत्त्व देकर यह कहना कि भाव के बिना भी उदात्त की निष्पत्ति होती है, वदतोव्याघात हो जाता है। उनके उदाहरण से भी यह स्पष्ट है कि वे भाव

को उदात्त का अनिवार्य अंग नहीं मानते। उत्पत्तिग्रंथ (दि बुक ऑफ जेनेसिस) से उद्धृत उदात्त का उदाहरण भावहीन ही है: "ईश्वर ने कहा—प्रकाश हो जाए और प्रकाश हो गया।" इसमें विस्मयमिश्रित भव्यता तो है पर भाव का स्पर्श भी नहीं है।

लोंगिनुस ने वक्ताओं के भाषणों का हवाला देते हुए कहा है कि उनमें भव्यता और गरिमा तो होती है किंतु भाव सदा नहीं होता। इससे सिद्ध है कि भावुक वक्ता सबसे कम प्रभावी होते हैं और जो उत्तम वक्ता हैं, वे भावुकता से बचना चाहते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि केकिलिउस की तरह यह मान लें कि उदात्त से भाव का कोई संबंध ही नहीं है। लोंगिनुस अपना अभिप्राय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं: "मैं विश्वासपूर्वक कहना चाहता हूं कि उचित स्थल पर भव्य भाव के समावेश से बढ़कर उदात्त की सिद्धि का और कोई साधन नहीं है। वह (भाव) वक्ता के शब्दों में एक प्रकार का रमणीय उन्माद भर देता है और उसे दिव्य अंतःप्रेरणा से समुच्छ्वसित कर देता है।"

विचार की महत्ता

उदात्त के स्रोतों में प्रथम स्थान **विचार की महत्ता** का है। लोंगिनुस शब्दभेद से उसे ही आत्मा की भव्यता (nobility of soul) भी कहते हैं। आपाततः यह स्खलन जैसा प्रतीत होता है पर स्खलन है नहीं, कारण कि लोंगिनुस के अनुसार विचार की महत्ता का जन्म आत्मा की भव्यता से ही होता है। आगे उन्होंने कहा है: "उदात्त महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है" (sublimity is the echo of a great soul)। वाणी की कौन कहे, कभी-कभी तो महान् आत्मा का मौन भी इतना मुखर होता है कि वह उदात्त में परिणत हो जाता है।

"इसलिए यह बता देना अत्यंत आवश्यक है कि जो मनुष्य वस्तुतः वाग्मी है उसकी आत्मा कभी भी क्षुद्र या अधम नहीं हो सकती। जिनके विचार और उद्देश्य निर्बल और दासोचित हैं, वे कोई असाधारण उद्भावना नहीं कर सकते। वाणी की महत्ता के लिये विचारों की महत्ता आवश्यक है। उच्चाशय मनुष्यों की अभिव्यंजनाएं निसर्गतः भव्य होती हैं।"

नवम अध्याय में होमर के दो महाकाव्यों—इलियद और ओदेसी—की तुलना करते हुए लोंगिनुस कहते हैं कि "इलियद होमर की तरुणाई की रचना है क्योंकि उसमें गति और संघर्ष का प्राचुर्य है। इसके विपरीत ओदिसी का बहुलांश आख्यानात्मक है जो बुढ़ापे की देन है। ओदिसी के होमर की उपमा डूबते हुए सूर्य से दी जा सकती है जिसमें भव्यता तो रहती है पर तीव्रता नहीं। ओदिसी के उदात्त संदर्भों में वह समरस भास्वरता नहीं है जो कभी हीनप्रभ न हो, न उसमें भावों का प्रगाढ़ प्राचुर्य है और न यथार्थ जीवन से गृहीत बिंबों की मनोरम, वाग्मितापूर्ण शैली ही। ऐसा लगता है मानो महासागर सिमट कर अपनी सीमा में शांत पड़ा हो। यहां हम होमर की महत्ता का उतार देखते हैं क्योंकि हम पाते हैं कि वे काल्पनिक और

अविश्वसनीय क्षेत्रों में विचरण कर रहे हैं। ऐसा करते समय मैं ओदिसी के तूफानों को नहीं भूला हूं। मैं केवल बुढ़ापे की बात कह रहा हूं पर यह बुढ़ापा भी होमर का है। मैंने यह विषयांतर यह दिखाने के लिए किया है कि ह्रास के समय महान् प्रतिभा भी कभी-कभी सारहीन लेखन से नहीं बच पाती।" (हमने यह उद्धरण यह दिखाने के लिए दिया है कि लोंगिनुस की आलोचनात्मक पकड़ कितनी जबर्दस्त है और कथन-भंगी प्रांजल होते हुए भी कितनी ऊर्जस्वल है ?)

विषय का चयन और संगठन

"अब हमें यह देखना चाहिए कि ऐसी कोई दूसरी वस्तु भी है क्या जो शैली को उदात्त बना सके।...उदात्त का एक स्रोत है असाधारण परिस्थितियों के निभ्रांत चयन और उनके परस्पर अंतर्ग्रथन की योग्यता जिससे उनमें एकीभूत सांगता (single organism) की प्रतीत हो। कोई लेखक विचारों के चयन से अपने पाठकों को आकृष्ट करता है और कोई विचारों के समन्वित प्रभाव से। उदाहरणार्थ, साफो (७वीं शताब्दी ई० पू०) वास्तविक जीवन के भाव-चक्र से केवल प्रेम के सहचर भावों का चयन करती है किंतु उसकी विशेषता उन भावों के चयन से कहीं अधिक उसके कौशल में है जिसके द्वारा वह उन (भावों) को घुलामिला कर एक अभिनव, साथ ही तीव्र और उत्कट, रूप में अभिव्यक्त करती है।"

विस्तारण (amplification)

विस्तारण का उदात्त में क्या योगदान है, इस पर विचार करते हुए लोंगिनुस कहते हैं कि भाषणशास्त्र के अन्य लेखकों से उनका मत भिन्न है। अन्य लेखकों का कहना है कि विस्तारण भाषा की वह विशेषता है जिससे विषय में भव्यता आती है। लोंगिनुस की आपत्ति है कि यह लक्षण तो उदात्त पर भी घटित होता है; भावात्मक और आलंकारिक शैलियों पर भी घटित होता है क्योंकि इनसे भी भाषा में कुछ-न-कुछ भव्यता आती है। लोंगिनुस के अनुसार उदात्त की स्थिति उन्नयन (elevation) में है और विस्तारण की मात्रा (quantity) में। इस प्रकार उदात्त प्रायः एक विचार में निहित रहता है, जबकि विस्तारण सदा मात्रा का सहवर्ती होता है और उसमें अल्पाधिक निरर्थकता (redundancy) भी रहती है। तात्पर्य कि विस्तारण विषय से संबद्ध अनेक छोटे-मोटे स्थलों और आकस्मिक प्रकरणों का संकलन है जो तर्क को सबल बनाता है।

इसके बाद लोंगिनुस देमोस्थेनेस (इतिहास-प्रसिद्ध यूनानी वक्ता) और सिसेरो (प्रख्यात रोमी वक्ता) की तुलना करते हुए कहते हैं कि "देमोस्थेनेस का उदात्त परुष है तो सिसेरो का विस्तृत। देमोस्थेनेस अपनी शक्ति, गति, वेग और तीव्रता से सामने जो कुछ भी पड़ता है, उसे या तो जला देते हैं या उड़ा देते हैं। इसलिए हम उनकी तुलना वज्रपात या वात्याचक्र से कर सकते हैं। सिसेरो प्रसरणशील ज्वालमाल के समान हैं जो पास और दूर की प्रत्येक वस्तु को अपनी लपट से भस्म कर

देती है। उनमें स्थिर और व्यापक ज्वाला है जो इधर-उधर, जहां चाहे, मुड़ कर अपना इंधन प्राप्त करती है। देमोस्थेनेस जब श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करना चाहते हैं तो उनका ओज तीव्र और उद्दाम भावों में प्रकट होता है। सिसेरो का प्रसार वहां देखने को मिलता है, जहां वे अपनी वाग्मिता के प्रवाह में श्रोताओं को वहा ले जाना चाहते हैं।"

उदात्त और अनुकरण

उदात्त के उपरिनिर्दिष्ट साधनों के अतिरिक्त एक और साधन है—अपने पूर्ववर्ती महान् कवियों और लेखकों का अनुकरण तथा उनसे स्पर्धा। "हमें इस लक्ष्य को अपने मन में दृढ़तापूर्वक स्थिर रखना चाहिए क्योंकि अनेक लेखक दूसरों की उपलब्धि से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्राचीन प्रतिभाओं से एक प्रकार का ज्योति-प्रवाह निकल कर स्पर्धालुओं की आत्मा में प्रवेश कर जाता है और जिनमें अंतःप्रेरणा का अभाव-सा रहता है, उनमें भी पूर्वजों की भव्यता की दिव्य शक्ति भर कर उन्हें आविष्ट बना देता है।"

"यह भावापहरण (plagiarism) नहीं है, वल्कि सुंदर चित्रों, मूर्तियों या कलाकृतियों का प्रभाव-ग्रहण है। यदि प्लेटो ने प्राणपण से होमर से स्पर्धा न की होती तो उनके दार्शनिक सिद्धांतों में विकास की जो मनोहारी छटा दीखती है, वह न दीखती और न उनका विषय काव्यात्मक होता, न अभिव्यंजना-कौशल कलात्मक। कीर्ति और विजय की अभिलाषा से आरब्ध संघर्ष की आभा, पूर्वजों द्वारा पराभव के बाद भी, म्लान नहीं होती और न उससे लेखक के गौरव में आंच आती है।"

कुछ व्यावहारिक निर्देश

किसी विषय का वर्णन करते समय यदि हमें लगे कि इसमें विचार और अभिव्यंजना की गरिमा (औदात्त्य) अपेक्षित है तो मन ही मन यह सोचना चाहिए कि

(क) "होमर ने इसे कैसे कहा होता? प्लेटो, देमोस्थेनेस अथवा थुकिदिदेस ने इसमें गरिमा का सन्निवेश कैसे किया होता? हमारी प्रतिस्पर्धा की भावना इन महापुरुषों को कल्पना में साकार कर देगी और हमारे उत्साह को वढ़ाते हुए तथा मार्ग को आलोकित करते हुए ये हमें पूर्णता के अभीप्सित आदर्श तक पहुंचा देंगे।"

(ख) इससे भी अच्छा यह होगा कि हम अपने आपसे पूछें कि "होमर या देमोस्थेनेस यदि यहां उपस्थित होते तो हमारी उक्ति को सुनकर वे क्या कहते या हमारी उक्ति से वे कितना प्रभावित होते?" सचमुच यह परीक्षा वड़ी कठिन होगी यदि हम अपनी उक्तियों के मूल्यांकन के लिए ऐसे अतिमानव निर्णायक-मंडल की कल्पना करें!

(ग) यदि इसके साथ हम यह प्रश्न भी जोड़ लें तो और प्रेरणा मिलेगी—"ऐसे लेखन को भावी युग किस रूप में ग्रहण करेंगे? अगर कोई ऐसी बात कहने मात्र से घबराता है कि वह उसके जीवनकाल के बाद भी जीवित रहे तो उसके

विचार निश्चय ही अपूर्ण और धुंधले होंगे क्योंकि उसमें उस प्रौढ़ता की कमी होगी जो रचना को अक्षय कीर्ति प्रदान करती है।"

बिंब और कल्पना

"बहुत दूर तक गरिमा, भव्यता और अनुनयन-शक्ति की उत्पत्ति बिंबों से होती है। इन्हें ही कुछ लोग मानसचित्र भी कहते हैं। साधारणत: बिंब शब्द का प्रयोग किसी ऐसे विचार के लिए होता है जो, किसी भी रूप में उत्पन्न होकर, वाणी को स्फुरित करता है। इसका प्रयोग ऐसे संदर्भों के लिए भी होने लगा है जिनमें भाव की प्रबल प्रेरणा से हमें वर्णनीय वस्तु प्रत्यक्षवत् प्रतीत होती है और श्रोताओं को भी हम उसकी प्रत्यक्षवत् प्रतीति कराते हैं।"

"बिंबविधान का जो प्रयोजन कवि के लिए है, वही वक्ता के लिए नहीं। बिंब की सहायता से कवि मुख्यत: भाव को उद्दीप्त करता है और वक्ता वर्णन को सजीव बनाता है, हालांकि किसी न किसी तरह भाव का उद्दीपन दोनों का लक्ष्य होता है।"

यहां एस्खिलुस, सोफोक्लेस और एउरिपिदेस, जैसे दु:खांतककारों से उदाहरण दे-देकर लोंगिनुस अपने कथन का समर्थन करते हैं और निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि "कवियों के वर्णन में इतनी रोमानी अतिरंजना रहती है कि बहुत बार वह विश्वसनीयता की सीमा लांघ जाती है, जबकि वक्ता का बिंबविधान सदा वास्तविक तथा सत्य होता है। बात यह है कि भाषा की संरचना जब भी काव्यात्मक और कल्पनात्मक होती है तो वह असामान्यताओं में भटक जाती है और ऐसे भटकाव अप्राकृतिक तथा विचित्र लगने लगते हैं।"

"प्रश्न है कि तब भाषा में बिंब की आवश्यकता क्या है? उत्तर है कि और चीजों के साथ उससे भाषा में भाव और ऊर्जा का संचार होता है और तर्क से समन्वित हो जाने पर वह श्रोताओं का केवल अनुनयन ही नहीं करता बल्कि उन्हें सम्मोहित भी कर लेता है।"

निष्कर्ष कि विचार का औदात्त्य **सदाशयता, अनुकरण** और **बिंब** से प्रसूत होता है।

अलंकार

'पेरि हुप्सुस' के ४४ अध्यायों में १४ अध्याय (लगभग एक तिहाई) अलंकार पर हैं। प्रश्न, विपर्यय, सार, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों के उदाहरण देकर लोंगिनुस ने यह दिखाना चाहा है कि उदात्त की निष्पत्ति में अलंकारों का क्या योगदान है। इस प्रसंग में अलंकार-संबंधी उनके सामान्य मंतव्य अधिक उपादेय हैं।

(क) अलंकारों का **समुचित प्रयोग** औदात्त्य के प्रभाव में चार चांद लगा देता है।

(ख) अंतर्निहित चारुत्व के कारण अलंकार उदात्त को पुष्ट करते हैं और स्वयं

उनसे पुष्ट होते हैं ।

(ग) अलंकारों के अतिशय प्रयोग से दुराव या मिथ्यात्व का संदेह होने लगता है कि लेखक किसी त्रुटि को अलंकारों के आवरण में छिपाना तो नहीं चाह रहा है । अत: अलंकार पूर्णतः प्रभावी तब होते हैं जब यह पता भी न चले कि कोई अलंकार प्रयुक्त हुआ है ।

(घ) अलंकारों के अवांछित प्रयोग से उत्पन्न दुष्प्रभाव को प्रतिसंतुलित (counter-balance) करने का उपाय है कि उदात्त और भाव की अभिव्यंजना को सबल बनाया जाए । इनके प्रकाश में अलंकारों की कृत्रिम आभा वैसे ही छिप जाती है जैसे सूर्य के प्रखर प्रकाश में छोटे निस्तेज प्रकाश । उदात्त विचार और मार्मिक भाव हमारे हृदय के अधिक समीप होते हैं और अलंकारों की अपेक्षा जल्दी ध्यान आकृष्ट करते हैं । भाव भी वे ही चमत्कारी होते हैं जो पूर्वविचारित प्रतीत न होकर परिस्थिति-प्रसूत प्रतीत हों ।

(ङ) एक अलंकार के बदले अनेक अलंकारों का मिश्रण (संकर और संसृष्टि) बहुत प्रभावी होता है ।

(च) कला की पूर्णता इसमें है कि वह प्राकृतिक जान पड़े और प्रकृति की सुन्दरता इसमें है कि वह कला को छिपाए रखे ।

पदयोजना

उपयुक्त एवं मनोरम पदों का चयन श्रोताओं को कितना द्रवित या मोहित करता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है । ऐसे ही पदों का चयन सभी वक्ताओं और लेखकों का चरम लक्ष्य होता है, क्योंकि इसीसे शैली में गरिमा, रमणीयता, स्निग्धता, बल, शक्ति या अन्य भी अपेक्षित गुण आते हैं । सुप्रयुक्त शब्द विचारों के प्रकाशक होते हैं, पर स्मरण रखना चाहिए कि भव्य शैली का प्रयोग सदा उपयुक्त नहीं होता; तुच्छ वस्तुओं की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट और भव्य शब्दावली वैसे ही अनुपयुक्त होती है जैसे किसी छोटे बच्चे के मुंह पर रखा विशाल मुखौटा ।

ललित शब्दावली की तुलना में कभी-कभी परिचित (सहज) शब्दावली अधिक अभिव्यंजक होती है क्योंकि दैनिक जीवन से गृहीत होने के कारण वह तुरत पहचान में आ जाती है । जानी-पहचानी चीज अधिक विश्वसनीय होती है । (वर्ड्सवर्थ ने इसी मंतव्य को पल्लवित किया है ।)

रूपक के संबंध में अरस्तू का कहना था कि दो या अधिक से अधिक तीन रूपकों का प्रयोग करना चाहिए । लोंगिनुस अरस्तू से अपनी असहमति दिखाते हुए कहते हैं कि रूपकों के प्रयोग में संख्या का बंधन अनावश्यक है । प्रकरण की मांग के अनुसार रूपकों की संख्या कुछ भी हो सकती है । जब भाव निर्झर-वेग की तरह फूटते हैं तो अपने साथ रूपकों के समूह को बहा ले जाते हैं । (हिंदी में तुलसीदास के रूपक इसके प्रमाण हैं; बात की बात में रूपकों का अंबार लग जाता है और कौन किससे अधिक आबदार है, यह कहना कठिन है ।) आनंदवर्धन का भी कहना है कि रसाभिनिवेशी

कवि के सम्मुख अलंकार 'अहमहमिका' के साथ—यह कहते हुए कि 'पहले मेरा प्रयोग कीजिये, पहले मेरा प्रयोग कीजिये'—खड़े हो जाते हैं।

सदोष उदात्तता और अदोष मध्यमता (mediocrity)

प्रश्न है कि सदोष उदात्तता और अदोष मध्यमता में कौन श्रेष्ठ है? इसी प्रश्न का एक दूसरा रूप भी है कि गुणों का संख्याधिक्य वांछनीय है या उत्कर्षाधिक्य?

लोंगिनुस की मान्यता है कि "उत्तम प्रतिभा सर्वथा दोष-रहित नहीं होती क्योंकि पूर्ण शुद्धता का प्रयास तुच्छता में परिणत होता है। परम धनाढ्य व्यक्ति की संपत्ति की तरह भव्य शैली में कुछ-न-कुछ उपेक्षित हो ही जाता है; जिस प्रकार बहुत वैभवशाली एक-एक वस्तु की खोज-खबर नहीं रख सकता, उसी प्रकार बहुत प्रतिभाशाली भी एक-एक दोष के प्रति सतर्क नहीं रह सकता। संभव है कि सामान्य बुद्धि का व्यक्ति, जो ऊंचे चढ़ने का खतरा उठाना नहीं चाहता, दोषों से मुक्त रह जाए, पर महान् प्रतिभाएं अपनी क्षमता के कारण ही स्खलन से नहीं बच पातीं। एक प्रवृत्ति यह भी देखी जाती है कि मानवीय प्रयासों के श्लाघ्य पक्षों की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। दोषों की याद तो अमिट होती है किंतु गुणों की याद तुरत मिट जाती है।"

"होमर या अन्य चोटी के लेखकों में भी दोष पाये जाते हैं और वे प्रीतिकर नहीं होते परंतु यह भी सही है कि उनके दोष ज्ञानकृत नहीं हैं, बल्कि अनवधान के कारण यदाकदा घुस आते हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में गुणोत्कर्ष समान भाव से सर्वत्र नहीं दीखता तथापि उनका उच्चासन सदा सुरक्षित है क्योंकि वे महान् हैं। कुछ कवियों के छंदों में व्यवस्था की कमी खटकती है पर उनमें दिव्य प्रेरणा की ऐसी तरंगें उठती हैं कि उन्हें नियंत्रित करना कठिन होता है।"

"दोषाभाव केवल निंदा से बचाता है किंतु उदात्त बरबस श्लाघा अर्जित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि महान् लेखकों के सारे दोष उदात्त की एक कौंध में छिप जाते हैं। यदि होमर, देमोस्थेनेस, प्लेटो या अन्य शीर्षस्थ लेखकों के समस्त दोषों को संकलित किया जाए तो भी वे उनके प्रत्येक पृष्ठ पर जो विजय-रेखाएं खिची हैं, उनकी तुलना में नगण्य-से प्रतीत होंगे। यही कारण है कि सभी युगों ने उन्हें उस महिमा से मंडित किया है जो तब तक नष्ट नहीं होने को जब तक नदियां प्रवाहित होती रहेंगी।"

"अतिशयोक्ति के प्रयोग में बड़ी सतर्कता अपेक्षित है। लेखक को अतिशयोक्ति की मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा उसका अतिक्रमण होने पर प्रभाव जाता रहता है और दूर की कौड़ी लाने के प्रयास में वह सपाट हो जाती है।"

रचना की गरिमा

उदात्त का पंचम स्रोत है रचना की गरिमा, जिसका लक्षण है उचित क्रम में

शब्दों का विन्यास । इसका निरूपण लोंगिनुस नहीं करते क्योंकि इस पर वे दो स्वतंत्र ग्रंथ लिख चुके हैं । यहां इतना ही कहना काफी है कि ध्वनियों का सामंजस्यपूर्ण विन्यास केवल अनुनयन और प्रसादन का ही नैसर्गिक माध्यम नहीं है, वल्कि गरिमा और भावना का भी अद्‌भुत साधन है । क्या वंशी का स्वर श्रोताओं में भाव को उद्दीप्त कर उन्हें दिव्य उन्माद से नहीं भर देता ? उससे जो लयात्मक गति उत्पन्न होती है, वह श्रोताओं को अपने माधुर्य से तन्मय कर देती है और यदि वे संगीतप्रेमी न हों तो भी उनकी गति को इस लय के अनुकूल वना लेती है ।

"उदात्त के निर्माण में घटक तत्त्वों के समुचित संयोजन की वही भूमिका है जो शरीर के संदर्भ में अवयवों की । (भारतीय काव्यशास्त्र में भी पद-विन्यास की उपमा अंग-विन्यास से दी गयी है ।) एक-दूसरे से अलग होकर कोई भी अंग काम का नहीं रहता; परस्पर-संयोजित होकर ही सभी अंग पूर्णता प्राप्त करते हैं । इसी तरह उदात्त के तत्त्व भी एक-दूसरे से अलग होकर उसे छिन्न-भिन्न कर देते हैं । किंतु वे ही जव अंगांगिभाव संवंध से परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं और उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है तो उनमें जैव पूर्णता आ जाती है । जिनमें औदात्त्य की या भव्यता की क्षमता नहीं है और जो बहुधा विशिष्ट साहचर्यों से रहित सामान्य और लोकप्रिय शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, वे भी उचित क्रम में उन शब्दों का विन्यास तथा संयोजन कर सम्मान एवं गौरव प्राप्त कर लेते हैं और उनकी रचना में गरिमा की छटा भी आ जाती है ।" कहने का अभिप्राय यह कि प्रतिभा के अभाव में भी अध्ययन और अभ्यास से उदात्त की उपलब्धि संभव है ।

दंडी (७वीं शताब्दी ई०) भी प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास से सत्काव्य का निर्माण संभव वताते हैं ।[२]

खंडित अथवा उच्चावच लय से उदात्त आहत होता है । इसी प्रकार लय का अतिरेक भी उदात्त का बाधक है । उससे शब्दों का भाव संप्रेषित नहीं होता, केवल लय की गूंज संप्रेषित होती है ।

वे अनुच्छेद भी भव्यता से शून्य होते हैं जो वहुत संक्षिप्त और छोटे-छोटे वाक्य-खंडों या शब्दों में विभक्त होते हैं ।

जव तक दुर्निवार आवश्यकता न पड़े तव तक कुत्सित और जुगुप्सित शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए । शब्द ऐसे हों जो विषय की गरिमा के अनुरूप हों ।

वाग्मिता का ह्रास

पेरि हुप्सुस के अंतिम (४४वें) अध्याय में लोंगिनुस ने यूनान के अधःपतन पर क्षोभ व्यक्त किया है । अधःपतन के कारणों में दो का वे बहुत क्षोभ और आक्रोश

२. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबंधि प्रतिभानमद्‌भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।।
काव्यादर्श, १/१०४

से उल्लेख करते हैं—वे हैं धनलोलुपता और विलासप्रियता। इन्हीं दोनों ने यूनान को पंक के गर्त में निमग्न कर रखा है जिससे उसका सारा सारस्वत, सांस्कृतिक तथा कलात्मक उत्कर्ष समाप्त हो गया है और लोकोत्तर प्रतिभाओं का अभाव हो गया है। यूनान के संबंध में लोंगिनुस ने जो कहा है, वह आज के भारत पर कुछ कम चरितार्थ है ?

स्पष्टता के लिए लोंगिनुस के विचारों का एकत्र समाहार और सिंहावलोकन कर लेना अच्छा होगा।

१. उदात्त अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है। उसका कार्य सम्मोहन है और प्रभाव आकस्मिक होता है।
२. शब्दाडंबर, भावाडंबर और बालिशता उदात्त के विघातक हैं।
३. उदात्त के निष्पादक पांच तत्त्व हैं : (क) विचार की महत्ता; (ख) भाव की तीव्रता; (ग) अलंकार का समुचित प्रयोग; (घ) पद-योजना की भव्यता; (ङ) रचना की गरिमा।

(क) विचार की महत्ता

उदात्त के तत्त्वों में विचार की महत्ता का सबसे प्रमुख स्थान है। विचार की महत्ता तब तक संभव नहीं है, जब तक वक्ता या लेखक की आत्मा भी महान् न हो, कारण कि "औदात्त्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि" है। महान् आत्मा का अर्थ है कि व्यक्ति के चरित्र, आचार, व्यवहार सभी महान् हों। महान् आदर्शों का अनुकरण भी विचार की महत्ता को समृद्ध करता है। इसलिए प्राचीन, श्रेष्ठ रचनाओं का ज्ञान आवश्यक है। उत्तम आदर्शों के अनुकरण से अनुकर्ता का पथ प्रशस्त तथा आलोकित होता है और उसकी आत्मा का उन्नयन होता है। अनुकरण बाहरी नकलमात्र नहीं है, बल्कि पूर्वजों की दिव्य भव्यता को अपने में आहित करने का प्रयास है। प्राचीन प्रतिभाओं के चैतन्य से आविष्ट रचनाकार की अंतःप्रेरणा जाग उठती है। विचारों में सर्जकता का आधान कल्पना से होता है। विचार ऊंचे हों ही किंतु नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा (कल्पना) न हो तो सर्जन संभव नहीं होता। सर्जक़ता कल्पना से ही सक्रिय होती है। इन सब के साथ असाधारण स्थितियों (मार्मिक स्थलों) की पहचान और उनका समीचीन समूहन भी आवश्यक है क्योंकि क्षुद्र स्थितियों को जोड़कर उदात्त का प्रासाद नहीं खड़ा किया जा सकता।

(ख) भाव की तीव्रता

उदात्त के दूसरे तत्त्व (भाव की तीव्रता) के संबंध में लोंगिनुस के मंतव्य उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि ग्रंथ के खंडित अंशों में यह भी एक है। ग्रंथ के अंत में उनका संकेत है कि भाव पर वे एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखेंगे पर वह भी अप्राप्य है। 'पेरि हुप्सुस' के विभिन्न प्रसंगों में लोंगिनुस के कथनों से ज्ञात होता है कि उदात्त के लिए वे भाव की तीव्रता या प्रबलता को आवश्यक मानते हैं। भाव की तीव्रता के कारण ही वे

होमर के 'इलियद' को 'ओदिसी' से श्रेष्ठ बताते हैं। महान् विचारों के समान भव्य भावों का भी संबंध महान् आत्माओं से है। भाव की भव्यता में भाव की सत्यता भी अंतर्भूत है। इसलिए लोंगिनुस भाव के अतिरेक से बचने की राय देते हैं जिससे भाव अविश्वसनीय (असत्य) न हो जाए। किसी भी वस्तु के अतिरेक या अतिरंजना से अविश्वसनीयता उत्पन्न होती है और अविश्वसनीयता आह्लाद में बाधक बनती है। अतः आवश्यक है कि भाव की मात्रा संतुलित हो। ध्यान में रखने की दूसरी चीज यह है कि उसका प्रयोग उचित स्थल पर होना चाहिए; अस्थानस्थ भाव आह्लादक के बदले उद्वेजक होता है। तीसरी चीज यह कि लोंगिनुस उदात्त को क्षुद्र भावों से मुक्त रखने के आग्रही हैं। करुणा, भय आदि उनकी दृष्टि में क्षुद्र भाव हैं। इनसे उदात्त की निष्पत्ति नहीं हो सकती। इस विषय में अरस्तू से लोंगिनुस का मौलिक मतभेद है। अरस्तू के अनुसार करुणा और भय दुःखांतक के लिए अनिवार्य हैं, (उनका विरेचन-सिद्धांत भी इन्हीं पर आश्रित है) किंतु लोंगिनुस की दृष्टि में ये दोनों क्षुद्र भाव हैं और उदात्त के विरोधी हैं।

(ग) अलंकार का समुचित प्रयोग

उदात्त के लिए जो कलात्मक साधन अपेक्षित हैं उनमें अलंकार का प्रमुख स्थान है। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि लोंगिनुस ने विचार और भाव के बाद तीसरे स्थान पर अलंकार को ही रखा है। जैसा हम पहले भी देख चुके हैं, लोंगिनुस का अलंकार-निरूपण मुख्यतः भाषण-कला की दृष्टि से है जिसमें अलंकारों की सहायता से आनंद, विस्मय, औत्सुक्य आदि को जगाते हुए श्रोता की सहमति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है पर उनकी उपादेयता लेखन में भी कम नहीं है। भारत में तो अलंकार-निरूपण लेखन (काव्य) के प्रसंग में ही हुआ है।

लोंगिनुस के अनुसार अलंकारों के दो वर्ग हैं: विचारालंकार तथा शब्दालंकार। विचारालंकार से तात्पर्य अर्थालंकार से है। अलंकारों के प्रयोग में सबसे पहले यह याद रखना चाहिए कि वे साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य उदात्त है; अलंकार उसके प्रभाव को तीव्र बनाने के साधनमात्र हैं। अलंकार को साध्य मान लेने पर कथ्य बोझिल हो जाता है और उसका सौंदर्य दब जाता है। बहुत बार असमर्थ वक्ता या लेखक अलंकार की चमक-दमक में अपना भाव-दारिद्र्य छिपाने का प्रयास करते हैं। वस्तुतः अलंकार का प्रयोग सार्थक तब होता है जब यह पता ही न चले कि अलंकार है भी अर्थात् कथ्य से अलग उसकी प्रतीति होनी ही नहीं चाहिए। एक बात और। अलंकारों के अतिशय प्रयोग से बचना चाहिए। उनका प्रयोग तभी करना उचित है जब अभिव्यक्ति की मनोहारिता में उनका योगदान अपरिहार्य प्रतीत हो। तात्पर्य कि उदात्त के लिए अलंकार अपेक्षित तो हैं पर स्वाभाविक तथा मर्यादित रूप में ही।

ध्वनि-प्रतिष्ठापक आचार्य आनंदवर्धन के अलंकार-विषयक मंतव्य लोंगिनुस से बहुत मिलते हैं। उनका भी कहना है अलंकार का प्रयोग अंग (साधन) रूप में ही होना चाहिए, अंगी (साध्य) रूप में नहीं। दूसरी चीज यह कि अलंकार "अपृथग्-

यत्ननिर्वर्त्य" होना चाहिए अर्थात् यह न लगे कि अलंकार के लिए कोई पृथक् प्रयत्न हुआ है या उक्ति में वह अलग से जुड़ा हुआ है।

(घ) पद-योजना की भव्यता

औदात्य के लिए उपयुक्त और मनोहारी पद अपेक्षित हैं क्योंकि ऐसे ही पद श्रोताओं को आकृष्ट और आह्लादित कर सकते हैं और इन्हीं से शैली में गरिमा, रमणीयता, स्निग्धता, बलवत्ता, शक्ति या अन्य भी अपेक्षित गुण आते हैं। ललित पदावली की तुलना में बहुधा परिचित पदावली अधिक प्रभावशाली होती है क्योंकि जीवन से सीधा संबंध होने के कारण उसमें सजीवता रहती है।

शैली कोई स्थिर तथा निश्चित तत्त्व नहीं है। विचार एवं भाव के आरोह-अवरोह के साथ शैली में भी आरोह-अवरोह आवश्यक है। शैली की एकरसता प्रयोक्ता की निर्बलता और असमर्थता की द्योतक है। इसीलिए पद-चयन प्रकरण के अनुकूल होना चाहिए। यदि प्रकरण हलका हो तो उसके लिए वैसे ही पद काम में लाने चाहिए और यदि गुरु-गंभीर हो तो तदनुरूप पद ही प्रयुक्त होने चाहिए।

अरस्तू की तरह रूपक की संख्या का बंधन लोंगिनुस को अमान्य है। प्रसंग की अपेक्षा के अनुसार रूपकों की संख्या कितनी भी हो सकती है। लोंगिनुस के व्याख्याताओं ने इसे उनकी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का प्रमाण कहा है जिसमें नियमानुवर्तिता का विरोध परिलक्षित होता है। हमने देखा है कि लोंगिनुस की दृष्टि में नियम से अधिक महत्त्व रुचि का है।

(ङ) रचना की गरिमा

इस शीर्षक के अंतर्गत लोंगिनुस पदों के सम्यक् क्रमविन्यास पर बल देते हैं। चतुर्थ शीर्षक में पदों के **चयन** पर बल है; इसमें उनके समीचीन **विन्यास** पर। पद अच्छे-से-अच्छे हों ही पर उनका विन्यास ठीक न हो तो उनसे सौंदर्य व्यक्त नहीं हो सकता। इसलिए पद-चयन से कम महत्त्व पद-विन्यास का नहीं है। किंतु पंचम शीर्षक में केवल पद-विन्यास के कौशल का ही निरूपण नहीं है। इसमें उदात्त के निष्पादक शेष चार तत्त्वों—विचार, भाव, अलंकार और पद-चयन—के समंजस, संतुलित अंतर्ग्रथन का महत्त्व प्रतिपादित है। जब तक ये अंगांगिभाव से संयोजित नहीं होते तब तक उदात्त के साधक नहीं बन सकते। अंग अलग-अलग रहकर शोभाजनक नहीं होते, अपने-अपने स्थान पर आनुपातिक रूप में जुड़कर ही वे सौंदर्य की सृष्टि करते हैं। यही स्थिति उदात्त के निष्पादक तत्त्वों की भी है। कैसे विचार के साथ कैसे भाव का मिश्रण उचित होगा; उसमें कौन-से अलंकार उपयुक्त होंगे; किस तरह के पद, किस क्रम से विन्यस्त होकर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करेंगे; इन बातों का ठीक-ठीक आकलन किये बिना रचना में गरिमा नहीं आ सकती।

लोंगिनुस के अनुसार अभिव्यंजना के प्रकर्ष में लय की बहुत बड़ी भूमिका है। लय की स्थिति पद्य में ही नहीं, गद्य में भी होती है। लय का अभाव और लय का अतिरेक, दोनों अवांछनीय हैं।

मूल्यांकन

१. 'पेरि हुप्सुस' की रचना के मूल में लोंगिनुस का उद्देश्य है भाषणकला का शास्त्रीय विवेचन। भाषणशास्त्र अनुनयन (persuation) का शास्त्र है और यूनान के भाषणशास्त्रियों के सामने उसका यही प्रमुख उद्देश्य रहा है। स्वयं अरस्तू ने भाषणशास्त्र पर एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा जो आकार और विस्तार में काव्यशास्त्र की अपेक्षा कहीं बड़ा है। लोंगिनुस की विशेषता इसमें है कि उन्होंने भाषणशास्त्र का उद्देश्य अनुनयन नहीं, लोकोत्तर आह्लाद (transport) या सम्मोहन (enchantment) माना। उद्देश्य की यह तात्त्विक भिन्नता उन्हें अन्य भाषणशास्त्रियों से अलग ही नहीं करती, ऊपर भी उठा देती है। उस युग में कवि के उद्देश्य थे उपदेश तथा आनंद और भाषणकर्ता या गद्य-लेखक का उद्देश्य था अनुनयन। जैसा स्कॉट-जेम्स ने लिखा है, "**उपदेश, आनंद और अनुनयन**, तीन शब्दों के इस सूत्र में संसार के सभी अंतःप्रेरित कवियों, विदग्ध इतिहासकारों, ओजस्वी वक्ताओं तथा गंभीर दार्शनिकों के प्रयास अंतर्विष्ट थे।[3] किंतु वाणी की लोकोत्तरता, चमत्कारिता, सम्मोहकता को समेटने की शक्ति इनमें से किसी में नहीं थी। वाणी का वह मादक प्रभाव, जो सुनते ही श्रोता को आत्मविस्मृत या 'वेद्यांतरस्पर्शशून्य' बना देता है, न तो थोथा उपदेश है, न कोरा आनंद, न निरा अनुनयन। इन सबसे परे तन्मयीभाव की वह ऐसी दिव्य चेतना है जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद तिरोहित हो जाता है और केवल आह्लाद अवशिष्ट रह जाता है। इस अलौकिक अनुभूति को ही लोंगिनुस ने वाणी का चरम प्रकर्ष घोषित किया है और इसकी सिद्धि के साधन को 'उदात्त' की संज्ञा से अभिहित किया है। उदात्त और रस में कितना साम्य है?

२. लोंगिनुस के अध्ययन का क्षेत्र जितना विस्तीर्ण है, परिशंसन (appreciation) की क्षमता उतनी ही गहरी है। उनका अध्ययन चिंतन से पुष्ट है और परिशंसन विश्लेषण से समृद्ध। 'पेरि हुप्सुस' एक हजार वर्षों की दीर्घ अवधि में उत्पन्न लगभग पचास यूनानी-रोमी लेखकों की कृतियों के उद्धरणों का खजाना है। रीज़ रॉबर्ट्‌स ने लिखा है कि यदि दुर्दैव से यूनानी ललित साहित्य लुप्त हो जाए तो 'पेरि हुप्सुस' में उद्धृत संदर्भों की सहायता से उसके वैशिष्ट्य की बहुत कुछ झांकी मिल सकती है। लोंगिनुस द्वारा उद्धृत संदर्भ उद्धरण मात्र नहीं हैं, बल्कि लोंगिनुस की आलोचनात्मक टिप्पणियों के आलोक में उनकी रमणीयता तथा सार्थकता और भी निखर उठी है। लोंगिनुस की टिप्पणियों में उद्धरणों का विषयगत और शिल्पगत गुण-दोष-विवेचन ऐसा तलस्पर्शी है, जसा उस युग के किसी आलोचक में नहीं मिलता, अरस्तू में भी नहीं। काव्य के प्रकर्ष और अपकर्ष की उन्हें अद्भुत पहचान है और

३. To instruct, to delight, to persuade—all the efforts of all the inspired bards, of all the brilliant historians, eloquent orators, and profound philosophers of the world had been summed up in that formula of three words... There is something in the experience of literature which the formula has not allowed for.

The Making of Literature; p. 84-85.

उसे व्यक्त करने वाली समर्थ भाषा भी है।

उनकी दृष्टि उत्तमता को अनायास देख लेती है, उसकी तलाश में कभी नहीं चूकती। काल की दृष्टि से इतिहासकारों ने यूनानी-रोमी अभिजात साहित्य को तीन खंडों में बांटा है—यूनानी (पांचवीं-चौथी शताब्दी ई० पू०), सिकंदरियाई (Alexandrian) (तीसरी-दूसरी शताब्दी ई० पू०) और रोमी (पहली शताब्दी ई० पू० और पहली शताब्दी ईसवी)। यूनानी को हेलेनिक और सिकंदरियाई को हेलेनिस्टिक भी कहते हैं। यूनान के सर्जनात्मक वैभव के अस्त हो जाने पर निकट-वर्ती भूभागों में यूनानी प्रभाव की छाया में जो रचनाएं हुईं, उन्हें ही हेलेनिस्टिक कहा जाता है। तात्पर्य कि हेलेनिक का संबंध सीधा यूनान (ऐथेन्स) से था; हेलेनि-स्टिक का यूनान द्वारा प्रभावित भूभागों से। हेलेनिक का केंद्र एथेंस था; हेलेनिस्टिक का सिकंदरिया (मिस्र में)। हेलेनिक का अवसान चौथी शताब्दी ई० पू० के अंत में ही हो चुका था; अरस्तू उसके अंतिम कीर्तिस्तंभ हैं। उसके बाद दो सौ वर्षों तक हेलेनि-स्टिक प्रभाव उदग्र रहा। पहली शताब्दी ई० पू० में रोमी साम्राज्य के उदय के साथ वह भी समाप्त हो गया और रोम सारस्वत केंद्र बन गया। इनमें काल की दृष्टि से हेलेनिस्टिक (सिकंदरियाई साहित्य) लोंगिनुस के अधिक निकट पड़ता था किंतु यह देखकर कि वह मध्यम कोटि का साहित्य है, लोंगिनुस ने अपने उदाहरण यूनानी (हेलेनिक) साहित्य से ही लिए। उत्तम-मध्यम का भेद करने में उनको कभी संदेह या भ्रम नहीं हुआ और जो सच्चा अभिजात साहित्य (classics) था, उसी के उद्धरणों से उन्होंने उदात्त का स्वरूप स्पष्ट किया। यदि कहीं हेलेनिस्टिक साहित्य से उदाहरण दिए भी तो दोषों के स्पष्टीकरण के लिए। यों तो उनकी दृष्टि सर्वत्र उत्तम पर ही पड़ी है पर उसमें भी होमर शीर्षस्थ हैं, हालांकि दोष दिखाने में उन्होंने होमर को भी नहीं बख्शा है।

३. लोंगिनुस के अनुसार उदात्त का लक्षण है—'अभिव्यंजना का अनिवर्चनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य'। यह लक्षण अत्यंत व्यापक है और इसकी सीमा में भाषण भी आता है, लेखन भी; गद्य भी, पद्य भी। होमर के महाकाव्य, देमोस्थेनेस की वक्तृताएं, प्लेटो के संवाद, साफ़ो के प्रगीत, इब्रानी उत्पत्ति-ग्रंथ के आरंभ-वचन, सर्वत्र उदात्त की स्थिति संभव है। शर्त केवल एक है, अभिव्यंजना में आह्लाद की, सम्मोहन की शक्ति होनी चाहिए। उदात्त एक वाक्य में भी रह सकता है और लंबे संदर्भों में भी।

४. शास्त्रवादी आलोचकों—मुख्यतः प्लेटो, अरस्तू और होरेस—के साथ लोंगिनुस की तुलना उनके महत्त्व को समझने में सहायक होगी। यहां यह तुलना स्वभावतः विस्तृत न होकर संक्षिप्त ही होगी।

(क) प्लेटो और अरस्तू की अपेक्षा लोंगिनुस की भाषिक स्थिति अधिक व्यापक है। प्लेटो और अरस्तू को यूनानी भाषा के अतिरिक्त और किसी भाषा का साहित्य उपलब्ध नहीं था। इसलिए उन्होंने जो कुछ कहा, वह एक भाषा की सीमित दृष्टि से। अरस्तू के काव्यविषयक सिद्धांतों का आधार प्रधानतः एक प्रकार का साहित्य अर्थात् नाटक है; उसकी भी केवल एक उपविधा (दुःखांतक); वह भी केवल यूनानी।

इस सीमित सामग्री से उद्भूत काव्य-सिद्धांत भी सीमित हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

इसके विपरीत लोंगिनुस को तीन भाषाओं—यूनानी, इब्रानी और लैटिन—के विकसित साहित्य उपलब्ध थे। इसलिए उनकी दृष्टि में व्यापकता है। जहां अरस्तू के दुःखांतक-संबंधी सिद्धांत यूरोप के ही उत्तरवर्ती दुःखांतकों पर घटित नहीं होते वहां लोंगिनुस के उदात्तविषयक सिद्धांत प्रायः किसी देश के और किसी काल के साहित्य का निकष बनने में समर्थ हैं। उनमें एक प्रकार की सार्वभौमता तथा सार्वकालिकता है।

(ख) काव्य की आनंदप्रदता को प्लेटो ने भी स्वीकार किया था; वे काव्य के आनंद की स्थिति ग्रहीता में ही नहीं मानते थे बल्कि स्रष्टा में भी, जैसा 'इओन' में उनकी काव्य-सर्जन-संबंधी उक्तियों से स्पष्ट है। फिर भी, उन्होंने नैतिक और राजनीतिक आधारों पर काव्य को त्याज्य ठहराया। कहें तो यह एक प्रकार की नैतिक भीरुता थी, भले ही वह समसामयिक राजनीतिक कारणों से प्रेरित रही हो। अरस्तू ने, प्लेटो से थोड़ा आगे बढ़कर, किंतु दबी जबान से, आनंद की स्थिति स्वीकार की (काव्यशास्त्र में आनंद शब्द केवल दो बार आया है)। उनका बल 'विरेचन' पर रहा अर्थात् भावों के उद्रेक का नैतिक-मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत कर वे प्लेटो की आपत्ति का निराकरण करने में अर्थात् यह सिद्ध करने में अधिक उन्मुख रहे कि उद्रिक्त भाव अवांछनीय नहीं हैं। होरेस ने आनंद के साथ उपदेश को भी मिला दिया। तात्पर्य कि आनंद को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन मानने में सबको किसी न किसी तरह की हिचक रही। इस पृष्ठभूमि में लोंगिनुस ने साहसपूर्वक उच्च स्वर में घोषणा की कि आह्लाद और एकमात्र आह्लाद ही काव्य का—नहीं, नहीं, संपूर्ण वाग्विलास का—परम प्रयोजन है; उसके सामने उपदेश, अनुनयन आदि तुच्छ हैं।

(ग) प्लेटो ने काव्य को दार्शनिक की दृष्टि से देखा सही पर उनमें दार्शनिक की तटस्थता नहीं रही। उनके विवेचन में काव्यबाह्य तत्त्व (नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि) घुस आए। अरस्तू ने काव्य पर विचार करते समय तर्कशास्त्री की भंगिमा अपनायी—उसके स्वरूप या भेद-प्रभेद का तर्कसम्मत विवेचन किया। उनके विवेचन में गंभीरता तो है पर काव्य की चेतना लुप्त हो गयी है। होरेस में न तो गंभीरता है, न विश्लेषणात्मकता। उनका उद्देश्य नये लेखक का व्यावहारिक मार्गदर्शन कराना मात्र है। लोंगिनुस की दृष्टि इन तीनों से भिन्न है। वे काव्य को शुद्ध सौंदर्यशास्त्र के निकष पर देखना-परखना चाहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व यह निर्मल निकष केवल लोंगिनुस के पास मिलता है, और किसी के पास नहीं। इस तरह लगभग दो हजार वर्षों तक उनका अनाविल सौंदर्यशास्त्रीय भावबोध वाच्यार्थ में भी 'अद्वितीय' बना रहता है। सेन्ट्सबरी ने ठीक ही लिखा है कि "उनकी आलोचना का प्रकार शुद्ध सौंदर्यवादी है और उसमें भी सर्वोत्कृष्ट है।"[४]

(घ) प्लेटो के काव्यसंबंधी मंतव्य उनकी विभिन्न कृतियों में बिखरे पड़े हैं।

४. His criticism is of the pure aesthetic kind and of the best of that.
—A History of Criticism; p. 159.

जमकर उन्होंने कहीं भी काव्यालोचन के विविध पक्षों पर कुछ नहीं कहा है, जो कहा भी है, उसमें दृष्टि निषेधपरक ही रही है, और उसमें भी एकरूपता नहीं है, प्रसंगानुसार विचारों में परिवर्तन होता गया है। 'दि लॉज' तक आते-आते वे बहुत कुछ समझौतावादी हो गए हैं। जैसा हमने प्लेटो के विवेचन के प्रसंग में दिखाया है, तब तक संभवत: एथेन्स की पराजय का घाव बहुत कुछ भर चला था और काव्य का आकर्षण अपना प्रावतन प्रभाव जमाने लगा था। गंभीरता की प्लेटो में कमी नहीं थी; वैसे मौलिक विचारक यूरोप में गिने-चुने ही हुए हैं; पर उन्होंने काव्य को गंभीर विवेचन का विषय बनाया ही नहीं। (भारत में भी काव्यशास्त्र बहुत दिनों तक व्याकरण और दर्शन के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सका था।) अरस्तू ने अपने 'काव्यशास्त्र' में काव्य का सैद्धांतिक विवेचन अवश्य किया पर उनकी भंगी सहृदय भावक की नहीं, वस्तुवादी विश्लेषक की रही। उनकी स्थिति पुष्पित उद्यान में उस वनस्पतिशास्त्री की है जो फूलों के रूप-रंग या सुरभि-सौंदर्य से तटस्थ होकर पंखु-ड़ियों की गणना में या रेशों की संरचना के अध्ययन में लीन है। उसका संरचनात्मक अध्ययन तो ठीक होगा ही पर उसमें वह उमंग और उल्लास नहीं होगा जो उद्यान में जाने पर होना चाहिए। लोंगिनुस में न तो प्लेटो की दार्शनिक गंभीरता है और न अरस्तू की सैद्धांतिक विवेचकता। वे सुरुचि-संपन्न, प्रबुद्ध भावक हैं। वे काव्य के सौंदर्य का स्वयं आस्वादन कर सकते हैं और दूसरों को भी करा सकते हैं। यदि लोंगिनुस में अरस्तू की अंतर्भेदी बुद्धि नहीं है तो अरस्तू में भी लोंगिनुस की पैनी संवेदनशीलता नहीं है। और, यह संवेदनशीलता केवल आत्मानुभूति तक सीमित नहीं है बल्कि उस अनुभूति के संप्रेषण में भी समर्थ है।

(ङ) प्लेटो ने **अनुकरण** को अयथार्थ की नकल कहकर उपेक्षणीय सिद्ध कर दिया था। अरस्तू ने अनुकरण की व्याख्या कार्यव्यापार के परिप्रेक्ष्य में की। होरेस ने क्लासिकी ढांचों के तकनीकी अनुकरण में ही अनुकरण की सार्थकता देखी। लोंगिनुस ने इन तीनों से भिन्न दृष्टि का परिचय देते हुए कहा कि अनुकरण वह आंतरिक प्रकाश है जो पूर्ववर्ती प्रवीण कलाकारों की कृतियों के अवगाहन से उपलब्ध होता है और नवीन सौंदर्यसृष्टि का प्रेरक बनता है। अनुकरण को **सर्जक ऊर्जा** के रूप में देखने की यह दृष्टि मौलिक तो है ही, आधुनिक भी है। लोंगिनुस का कहना है कि प्लेटो की लेखनी का वैभव होमर के अनुकरण का ही परिणाम है। कालिदास ने भी अपने पहले के कवियों का ऋण मुक्तकंठ स्वीकार किया है :

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः।। रघुवंश, १/४

—पहले के मनीषियों ने वाणी का जो द्वार खोल दिया है, उसके कारण मेरी गति वैसी ही सरल हो गयी है जैसी छिद्रित मणि में धागे की।

तुलसीदास की चमत्कारी वाक्सिद्धि के पीछे भी साहित्य की लंबी, समृद्ध, प्रेरक परंपरा रही है जिसे 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्' वाले श्लोक में उन्होंने व्यक्त किया है। तात्पर्य कि प्राचीन महाकवियों के उपासक एक प्रकार के प्रेरक प्रभाव का

अनुभव करते हैं जो सर्जन में सहायक होता है।

(च) प्लेटो काव्य-सर्जन में अंतःप्रेरणा (inspiration) की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। उनका स्पष्ट कहना है कि जब तक काव्यदेवी का अनुग्रह नहीं होता और जब तक वह दिव्य उन्माद से कवि को आविष्ट नहीं करती तब तक काव्य की रचना संभव नहीं है। अरस्तू की तार्किक और वैज्ञानिक बुद्धि अंतःप्रेरणा को महत्त्व नहीं देती।

लोंगिनुस प्लेटो का अनुसरण करते दिखायी देते हैं। उदात्त की निष्पत्ति में वे अनेकविध अंतःप्रेरणा का उल्लेख करते हैं; जैसे, भाव को वे अंतःप्रेरित मानते हैं, पूर्ववर्ती कवियों का प्रेरक-योगदान स्वीकार करते हैं। कुल मिलाकर अरस्तू की तुलना में लोंगिनुस का प्लेटो से अधिक साम्य है। प्लेटो उनके आदर्श प्रतीत होते हैं; लोंगिनुस की अभिव्यंजना की उन्मुक्तता, भावात्मकता, कलात्मकता बहुत कुछ प्लेटो से मिलती है। प्लेटो से वे वैसे ही प्रभावित हैं, जैसे प्लेटो होमर से। अरस्तू से लोंगिनुस का साम्य कम, वैषम्य अधिक है। जैसा रीज़ रॉबर्ट्‌स ने कहा है : "लोंगिनुस वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ हैं; विश्लेषक नहीं, आनंदी हैं। परिपक्व संदेहवादियों को संतुष्ट करने की अपेक्षा नवयुवकों में उमंग जगाने की उनमें अधिक क्षमता है। वे 'आह्लाद' और 'अंतःप्रेरणा' की बात करते हैं, 'विरेचन' या 'सामान्य' की नहीं।"[५]

५. लोंगिनुस की समीक्षा-दृष्टि पर्याप्त व्यापक है। भाषणकला के संदर्भ में विचार करते हुए उन्होंने जो मंतव्य प्रस्तुत किये हैं, वे काव्यकला पर भी पूर्णतः घटित हो जाते हैं। उन्होंने विचार, भाव, अलंकार, पद, संरचना, लय, इन सबके समुचित समन्वय पर बल दिया है। इनमें से किसी तत्त्व के अतिरेक और अल्पता के वे विरोधी हैं। वस्तुतः यह औचित्य का ही प्रकारभेद है। उनका साध्य है आह्लादक प्रभाव; जो भी साधन उसकी सिद्धि में सहायक हो सकते हैं, वे सब उन्हें स्वीकार्य है।

डेविड डेचेज़ ने उदात्त को 'प्रथम भावात्मक साहित्य-सिद्धांत' (first affective theory of literature) कहा है। उन्हें यदि रस-सिद्धांत की जानकारी होती तो उदात्त के संदर्भ में वे 'प्रथम' शब्द का प्रयोग न करते। रस-सिद्धांत को छोड़ भी दें तो अरस्तू का विरेचन-सिद्धांत भी भावात्मक (affective) ही है। दुःखांतक की भावात्मकता के अतिरेक को लेकर ही प्लेटो ने उसे वर्जनीय कहा था। अरस्तू ने विरेचन के द्वारा उस अतिरेक के उपशम का हल निकाल कर प्लेटो की आपत्ति का निराकरण किया और भावों की संतुलित, आनंदप्रद विश्रांति को काव्य का प्रयोजन बताया। विरेचन और आनंद, दोनों का संबंध भाव से और भाव के प्रभाव से है। अत यहः कहना कि लोंगिनुस प्रथम भावात्मक साहित्य-सिद्धांत के उद्‌भावक हैं, वस्तु-स्थिति से समर्थित नहीं है।

५. He is subjective rather than objective. He is an enthusiast rather than an analyst. He is better fitted to fire the young than to convince the maturely sceptical. He speaks rather of 'transport' or 'inspiration' than of 'purgation' or 'the universal'. —Longinus on the Sublime; p. 30.

६. उदात्त का निकष इतना सूक्ष्मेक्षी है कि किसी कृति के लिए उस पर खरा उतरना बहुत कठिन है। लोंगिनुस कृतिकार से लेकर कृति तक प्रकर्ष की पराकाष्ठा के आग्रही हैं। एक तो कृतिकार में विचार की भव्यता के साथ भाव की उद्दामता चाहिए; दूसरे, कृतिकार की आत्मा महान् होनी चाहिए क्योंकि 'उदात्त महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।' क्षुद्र जीवन बिताने वाला वैसा चमत्कार उत्पन्न कर ही नहीं सकता जो अविनश्वर हो। ये तो कृतिकार की चारित्रिक विशेषताएं हुईं। कलाकार के रूप में उसे बिंबविधान, समानुभूति (empathy), अलंकार, भाषा और आंगिक संरचना में निपुण होना चाहिए। इन दोनों पक्षों के समीचीन संयोजन से ही उदात्त की निष्पत्ति हो सकती है। उदात्त की सफलता के भी कई मानदंड हैं :

(क) जो कृति आह्लादित नहीं करती, वह उदात्त नहीं है।

(ख) जो तत्काल आह्लादित नहीं करती, वह उदात्त नहीं है।

(ग) जो बार-बार की आवृत्ति के बाद भी आह्लादित नहीं करती, वह उदात्त नहीं है।

(घ) जो विभिन्न रुचियों और सुयोग्य निर्णायकों को समान भाव से आह्लादित नहीं करती, वह उदात्त नहीं है।

स्पष्ट है कि कृति में आह्लादकता का होना ही पर्याप्त नहीं; उस आह्लादकता में और भी कई गुण होने चाहिए; जैसे, उसमें तत्काल (सुनते-सुनते) आह्लादन की क्षमता होनी चाहिए; बार-बार सुनने पर भी उसका आकर्षण कम नहीं होना चाहिए; विभिन्न रुचियों के भावकों और समर्थ आलोचकों को समान भाव से संतुष्ट करने की उसमें शक्ति होनी चाहिए। उदात्त का यह लक्षण महाकवि माघ की उक्ति का स्मरण दिला देता है : "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"—सच्चा सौंदर्य वही है जो प्रति पल नया प्रतीत हो। ऐसा सौंदर्य कितना विरल है?

७. लोंगिनुस के पूर्व काव्य के स्वरूप और प्रयोजन का निरीक्षण-परीक्षण मुख्यतः कृति-निष्ठ था और गौणतः भावक-निष्ठ। अरस्तू ने दुःखांतक का स्वरूप-निर्धारण कृतियों को ही ध्यान में रखकर किया। स्वरूप-निर्धारण के अनंतर उन्होंने उसके प्रयोजन पर भी विचार किया और विरेचन का महत्त्व स्थापित किया। अन्य आलोचकों की भी यही स्थिति है। इस विवेचन में कृति है, प्रयोजन हैं, किंतु कृतिकार कहीं नहीं है। लोंगिनुस ने इस त्रुटि का निराकरण करते हुए कृतिकार को केंद्र में रखा और उसमें दो धर्मों—विचार की महत्ता और भाव की उद्दामता—की स्थिति आवश्यक मानी। यों, वह (कृतिकार) तीन शिल्पगत धर्मों का भी आश्रय है; अलंकार, भाषा तथा संरचना भी उसी की रुचि तथा शक्ति से नियंत्रित होती हैं, पर विचार और भाव तो उसके व्यक्तित्व के सहज अंग हैं। इनके संयोजन से निष्पन्न उदात्त की स्थिति कृति में है और आह्लाद की भावक में। इस प्रकार कृतिकार में विचार और भाव की, कृति में उदात्त की और भावक में आह्लाद की स्थिति दिखाकर लोंगिनुस ने काव्य को व्यापक आयाम दिया।

एब्रम्स ने कृतिकार के महत्त्व की स्वीकृति का श्रेय लोंगिनुस को देते हुए कहा

है कि जो काम उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, उसका पूर्वाभास लोंगिनुस ने लगभग दो हजार वर्ष पहले दे दिया था और शास्त्रवादी आलोचकों में यह बोध एकमात्र लोंगिनुस को ही हुआ।[६] अरस्तू या होरेस की विचार-परिधि के केंद्र में कृति थी, कृतिकार नहीं। लोंगिनुस ने कृतिकार को केंद्र में रखकर एक नयी दिशा का संकेत किया।

८. कृतिकार के महत्त्व की स्वीकृति में एक और अर्थ निहित है और वह है सर्जनात्मक प्रणोदन (creative urge) के महत्त्व का प्रतिपादन। लोंगिनुस के अनुसार कृतिकार में सर्वोपरि महान् और भव्य विचारों की उद्भावना की क्षमता होनी चाहिए। भव्य विचारों की उद्भावना कल्पना का कार्य है और कल्पना ही सर्जना की भूमि तैयार करती है। इस प्रकार भव्य विचारों की उद्भावना के द्वारा लोंगिनुस सर्जनात्मक प्रणोदन को निर्दिष्ट करते हैं।

फिर, अंतःप्रेरित और प्रबल भाव में अभिव्यंजनात्मक प्रणोदन (expressive urge) की स्पष्ट ध्वनि है। भाव की अंतःप्रेरणा और प्रबलता स्वभावतः अभिव्यंजना में पर्यवसित होती है। जब वर्ड्सवर्थ कहते हैं कि "काव्य प्रबल भावों का सहज उच्छलन है" तो यही सिद्ध करना चाहते हैं कि भावों का प्रबल वेग अनायास काव्य बन जाता है। भारतीय परंपरा में भी श्लोक (छंद अर्थात् काव्य) की उत्पत्ति भावावेग से ही मानी गयी है—"क्रौंचद्वंद्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"—क्रौंच पक्षियों के जोड़े में एक के वध से वाल्मीकि के मन में शोक का ऐसा वेग उमड़ा कि वह छंद बनकर फूट पड़ा। कहने का अभिप्राय यह कि भावावेग की प्रबलता में रोमांटिक कवियों ने जिस सर्जनात्मक अभिव्यंजना की प्रतिष्ठा की, वह लोंगिनुस में वर्तमान है और यहां भी उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धांत का पूर्वाभास दिया है।

प्लेटो ने आनंद के अतिरेक को 'दिव्य उन्माद' की संज्ञा देकर काव्य-सर्जन का प्रेरक माना था। लोंगिनुस ने आनंद के स्थान पर 'भाव' मात्र को रख कर उसे व्यापक और सर्जनात्मक प्रक्रिया का आधार बनाया। साथ ही उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि काव्य की उत्पत्ति ही भाव की प्रबलता से नहीं होती, उसकी परिणति भी भाव की प्रबलता में ही होती है। इसीलिए कवि की भावोच्छल अभिव्यंजना भावक को भी भाव-विभोर कर देती है। तात्पर्य कि लोंगिनुस ने सर्जक को ही उसका अर्हित महत्त्व नहीं दिया, बल्कि सर्जन-प्रक्रिया को भी रेखांकित किया। ये दोनों विशेषताएं उनकी मौलिकता को उजागर करती हैं और अन्य शास्त्रवादी आलोचकों से उन्हें ऊपर उठा देती हैं।

९. शास्त्रवादी (क्लासिकल) और स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक), दोनों ही वर्गों के आलोचकों ने लोंगिनुस को अपने-अपने खेमे में रखने का प्रयास किया है।

६. Something approaching the nineteenth century displacement of the audience by the author as the focal term of refercnce is to be found in one classical rhetorician, Longinus—the exemplar and source of many characteristic elements of romantic theory.

—The Mirror and the Lamp; p. 72.

स्वच्छंदतावादी खेमे के प्रबल पक्षधर हैं स्कॉट-जेम्स और एब्रम्स। स्कॉट-जेम्स ने तो लोंगिनुस को 'पहला स्वच्छंदतावादी आलोचक' (The first Romantic Critic) ही कह डाला है।[७]

लोंगिनुस को रोमांटिक आलोचक मानने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क हैं :

(क) उन्होंने कृतिकार के महत्त्व को प्रमुखता दी है।

(ख) काव्य-सर्जन में भाव की प्रेरणा और प्रबलता का योगदान माना है।

(ग) उन्होंने कृति के गुणों को देखने के बदले उसके सर्जन को कृतिकार की बौद्धिक शक्ति तथा भावावेग में देखने का प्रयास किया है।[८]

(घ) लोंगिनुस ने विश्लेषण के बदले आह्लाद को काव्य-प्रकर्ष का मानदंड स्वीकार किया है। यह निश्चय ही प्राचीन आलोचना की विश्लेषणात्मक तथा निर्णयात्मक पद्धति के स्थान पर रुचि (taste) तथा संवेदनशीलता (sensibility) के प्रतिष्ठापन (substitution) का पूर्वाभास है।[९] शास्त्रवादी आलोचना में कृति के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय विश्लेषण के आधार पर किया जाता है; स्वच्छंदतावादी आलोचना में आलोचक की रुचि तथा संवेदनशीलता के आधार पर।

(ङ) पूरी रचना के बदले खंडों में सौंदर्य और आह्लादकत्व की स्वीकृति भी लोंगिनुस की रोमांटिक प्रवृत्ति को सूचित करती है।

जो लोग लोंगिनुस को क्लासिकल (शास्त्रवादी) मानते हैं, उनके तर्क हैं :

(क) लोंगिनुस ने कहा है कि काव्य-समीक्षा परिपक्व अनुभव का चूड़ांत फल है। (स्वच्छंदतावादी आलोचक अनुभव की परिपक्वता में विश्वास नहीं करता; वह अपनी रुचि या प्रतिक्रिया को ही प्रमाण मानता है।)

(ख) लोंगिनुस ने प्राचीन कवियों से प्रेरणा ग्रहण करने का और उन्हें आदर्श मानने का सुझाव दिया है।

(ग) लोंगिनुस कृतिकार के लिए प्रेरणा की उन्मुक्तता जितनी आवश्यक मानते हैं, उतना ही नियम का अंकुश भी।

(घ) वे काव्य के निर्णय और मूल्यांकन के लिए सुयोग्य निर्णायक-मंडल के अभिमत को मान्यता देते हैं।

स्पष्ट है कि दोनों पक्षों के तर्क प्रायः समबल हैं। इसलिए निस्संदिग्ध रूप से

७. The Making of Literature; p. 80.

८. A conspicuous tendency of Longinus is to move from the quality of a work to its genesis in the powers and state of mind, the thought and emotions, of its author. —The Mirror and the Lamp; p. 73.

९. His reliance on ecstasy instead of analysis as the criterion of excellence anticipated the substitution of taste and sensibility for the analytic and judicial procedure of earlier criticism. —Ibid.

१०. For him, classicism was touched with romance, but not darkened. His romanticism was sane and bright by dint of contact with classic order. —The Making of Literature; p. 94.

लोंगिनुस को शास्त्रवादी या स्वच्छंदतावादी कहना कठिन है। संभवत: इसी उलझन के कारण स्कॉट-जेम्स ने लेख के उपसंहार में अपना अभिमत संशोधित करते हुए कहा है कि लोंगिनुस का "शास्त्रवाद स्वच्छंदतावाद से स्पष्ट तो था पर आच्छन्न नहीं। शास्त्रवाद के संपर्क ने उनके स्वच्छंदतावाद को स्वस्थ और दीप्त बना दिया था।"

१०. लोंगिनुस अलंकार-योजना और पद-योजना से पृथक् जब रचना की गरिमा की बात करते हैं तो यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि किसी कृति की रचना उसकी संरचना की समग्रता है, ऊपर से आरोपित तत्त्व या व्यवस्था (method) मात्र नहीं। उसका सौंदर्य अथवा प्रभाव सांगता में ही देखना चाहिए। काव्य की सांगता को पहले-पहल प्लेटो ने रेखांकित किया था। तब से आलोचना का वह प्राय: आवर्ती नियम रहा है।

११. लोंगिनुस ने लय की स्थिति कृति में—चाहे वह पद्य हो या गद्य—आद्यंत मानी है। रीज़ रॉबर्ट्स की दृष्टि में लय का यह अतिरेक अनावश्यक है। किंतु एलेन टेट ने इसे लोंगिनुस की आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि की उत्तमता के रूप में ग्रहण किया है और कहा है कि कॉलरिज के पूर्व किसी दूसरे आलोचक में यह उपलब्ध नहीं होती।[११] टेट का यह भी कहना है कि किसी भी प्राचीन आलोचक की तुलना में लोंगिनुस 'साहित्यिक रूप' के व्यापक सिद्धांत के अधिक निकट पहुंचे हैं।

१२. लोंगिनुस ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि **सदोष उत्तमता** और **निर्दोष मध्यमता** (faultless mediocrity) में कौन अधिक ग्राह्य है? और, उन्होंने पूर्ण विश्वास तथा श्लाघ्य साहस के साथ **सदोष उत्तमता** के पक्ष में अपना मत दिया है। उनका कहना है कि कमजोर आदमी इतना संभल-संभल कर, फूंक-फूंक कर चलता है कि वह न फिसले तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके प्रतिकूल जो सबल और ऊर्जस्वल है उसके पांव, उमंग और मस्ती में, कभी नीचे-ऊंचे भी पड़ते हैं पर इससे उसकी सबलता और ऊर्जस्वलता में कोई बट्टा नहीं लगता। वह चाहे जहां भी रहे, अपनी सप्राणता के कारण उद्ग्रीव तथा आकर्षक ही रहेगा। इसलिए सामान्यता की शुद्धि की अपेक्षा प्रतिभा का स्खलन भी कहीं अधिक वरेण्य है।

१३. जैसा स्वाभाविक है, लोंगिनुस की कुछ सीमाएं भी हैं। उदाहरणार्थ, उदात्त के स्वरूप-निर्धारण में अनवस्था दिखायी देती है—भव्य और उदात्त एक ही अर्थ के वाचक हैं; अत: भव्य की सहायता से उदात्त के अर्थ के स्पष्टीकरण में एक प्रकार की अनवस्था आ जाती है। लोंगिनुस में विषय की स्पष्ट प्रतिपादन-क्षमता की भी कमी है; उनकी भाषा प्राय: काव्यात्मक और चक्करदार हो जाती है जिसमें अभिप्राय छिप-सा जाता है। विषयांतर, अनपेक्षित विस्तार और प्राविधिक ग्रंथियों में वे अक्सर उलझ जाते हैं। आलोचना के उपयुक्त संक्षिप्त तथा सारगर्भ अभिव्यंजना

११. Longinus' location of rhythm in the total composition, as binding and bound up with it, is perhaps the best critical insight of its kind before Coleridge. —Lectures in Criticism; p. 67.

सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। रीज़ रॉबर्ट्स का कहना है कि उनकी शैली के कई दोष, जैसे विषयांतर या काव्यात्मकता, उस युग के दोष हैं, जिसमें लोंगिनुस लिख रहे थे।

अपने समय में उदात्त के ह्रास के कारणों पर विचार करते हुए लोंगिनुस का कहना है कि कुछ लोग लोकतंत्र के ह्रास को इसका कारण बताते हैं किंतु इसके लिए लोकतंत्र के ह्रास से बढ़कर समसामयिक धनलोलुपता और विलासप्रियता उत्तर-दायी हैं। सेंट्सबरी ने उदात्तविषयक ग्रंथ के इस उपसंहार को विलक्षण (curious) बताते हुए कहा है कि यह उपसंहार है ही नहीं; साथ ही यह हेतु नहीं, हेत्वाभास है। ऐसे कारणों से साहित्य के उत्थान-पतन का संबंध नहीं होता क्योंकि युग स्वतंत्रता का, दासता का, विलास का, सादगी का, विश्वास का, अविश्वास का, चाहे जैसा भी हो, सभी में उदात्त का सर्जन संभव है, बशर्ते व्यक्ति उपयुक्त हो, प्रतिभा-संपन्न हो। यदि प्रतिभा-संपन्न स्रष्टा नहीं है तो रचना उदात्त नहीं हो सकती।

१४. यद्यपि शैली की प्रांजलता सामान्यतः काम्य है, किंतु चूंकि उदात्त का संबंध विराट्ता तथा कुछ दूर तक रहस्यमयता से है, इसलिए प्रांजलता को उदात्त का नित्य धर्म नहीं माना जा सकता। उदात्त के पांच स्रोतों में लोंगिनुस ने पहला स्थान विचार की महत्ता या भव्यता को दिया है। उस महत्ता या भव्यता का भार उठाने में प्रांजल शैली सदा सफल नहीं भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में अभि-व्यंजना कुछ अस्पष्ट, कुछ धुंधली भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर एडमंड बर्क (१८२९-९७ ई०) ने कहा कि "स्पष्ट विचार तुच्छ विचार का पर्याय है" (a clear idea is another name for little idea)। बर्क के मत में अनिश्चितता, अस्पष्टता तथा अनंतता से उदात्त का निकट संबंध है।[१२]

१५. लोंगिनुस साहित्य को रूढ़ि या रूपमात्र नहीं मानते, बल्कि उसे राष्ट्रीय जीवन का प्रतिफलन मानते हैं। उनके मत से महान् शैली महान् परिवेश और महान् घटनाओं की उपज होती है। 'पेरि हुप्सुस' के अनेक संदर्भों (अध्याय ९, ३५, ४४) में वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय नैतिकता का दृढ़ आग्रह है और वे चाहते हैं कि वह नैतिकता साहित्य में भी हो। उनका अपना नैतिक बोध इतना उदग्र है कि उसका अभाव न तो वे साहित्य में देखने को प्रस्तुत हैं और न राष्ट्रीय जीवन में। इसीलिए धनलोलुपता और विलासप्रियता से उत्पन्न यूनान के नैतिक पतन पर वे अपना आंतरिक क्षोभ प्रकट करते हैं।

१६. लोंगिनुस प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं क्योंकि उनके सिद्धांतों की प्रासंगिकता आहत नहीं हुई है। वे नवीन ही नहीं, आधुनिक भी हैं। तुलनात्मक आलोचना, जिसका आरंभ प्रायः एक शताब्दी पूर्व हुआ, लोंगिनुस के समय में अकल्प-नीय थी। उनके पहले या उनके बाद डेढ़ हजार वर्षों से अधिक तक तुलनात्मक आलोचना का प्रश्न भी नहीं उठा। इस पृष्ठभूमि में लोंगिनुस की महत्ता प्रमाण

१२. A Philosophical Enquiry into the Origins of our Ideas of the Sublime and Beautiful.

की अपेक्षा नहीं रखती। इलियद और ओदेसी की अथवा देमोस्थेनेस और सिसेरो की तुलनाओं में विश्लेषण कम और काव्यात्मकता अधिक है; फिर भी, लोंगिनुस के निष्कर्ष बहुत कुछ सही हैं। इलियद और ओदेसी की तुलना एक भाषा (यूनानी) के परिप्रेक्ष्य में है तो देमोस्थेनेस और सिसेरो की तुलना दो भाषाओं—यूनानी और लैटिन—के परिप्रेक्ष्य में।

रुचि का मानदंड उनकी आधुनिकता का दूसरा पहलू है। 'पेरि हुप्सुस' के सातवें अध्याय में उन्होंने रुचि का जो मानदंड निर्धारित किया है, वह कठोर तो है पर निरपवाद भी है। उदात्त की पहचान बताते हुए वे कहते हैं कि उदात्त वह है जो सबको आह्लादित करे, सदा आह्लादित करे, बार-बार के आह्लादन के बाद भी फीका न पड़े, स्मृतिपटल पर स्थायी रूप से अंकित हो जाए और मन को चिंतन-मनन की प्रचुर सामग्री दे। यह रुचि काव्य के ग्रहीता की अनियंत्रित प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि उदात्त की सफलता एवं प्रभाविता का प्रमाण है। इसलिए आत्मनिष्ठ होते हुए भी वस्तुनिष्ठ है।

उनका शुद्धता-संबंधी मंतव्य भी शास्त्रवादी युग के लिए चुनौती है। दोषहीन किंतु घटिया काव्य की तुलना में सदोष किंतु उत्तम काव्य को श्रेष्ठ बताना केवल चौंकानेवाली चीज नहीं है, अपितु काव्योत्कर्ष की पहचान करने-कराने वाली सूक्ष्म अंतर्दृष्टि है, जिसमें कलापक्ष की अपेक्षा प्रतिभा के चमत्कार की स्वीकृति है।

१७. भारतीय काव्यसिद्धांतों में कुंतक का वक्रोक्तिवाद उदात्त का सर्वाधिक निकटवर्ती है। उदात्त के पांचों स्रोत कुंतक की सरणि में वर्तमान हैं। लोंगिनुस जिसे विचार कहते हैं, वह कुंतक की भाषा में अर्थ है। भाव दोनों के यहां है। भाव की प्रबलता या सांद्रता ही रस है। अलंकार भी उभयनिष्ठ है; हां, कुंतक में अलंकारों की संख्या लोंगिनुस से कुछ अधिक है। हमने पहले भी कहा है कि भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का प्रस्तार और विचार सूक्ष्म भी है और समृद्ध भी। लोंगिनुस का पद-चयन कुंतक की पद-वक्रता में गतार्थ हो जाता है और रचना की गरिमा कुंतक की वाक्य-वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबंध-वक्रता में।

व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से भी कुंतक स्पृहणीय हैं। संस्कृत के आलोचकों में काव्य के उत्कर्षापकर्ष का जैसा निरूपण उन्होंने किया है, वैसा किसी दूसरे ने नहीं। अन्य आचार्य उदाहरण देकर ही संतुष्ट हो गये। कुंतक ने उदाहरणों के गुण-दोषों का विश्लेषण कर कथ्य को विशद किया है। कुंतक की व्यावहारिक आलोचना लोंगिनुस की व्यावहारिक आलोचना के समान विस्तृत नहीं है पर तलस्पर्शी अवश्य है।

उदात्त के जैसा वक्रोक्तिसिद्धांत भी सभी प्रकार के काव्य पर घटित होने की क्षमता से संपन्न है।

उदात्त अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य है; वक्रोक्ति भी अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य (वैदग्ध्यभंगीभणिति) ही है। लोकोत्तर आह्लाद दोनों का साध्य है। यह संकेतमात्र है क्योंकि विस्तार का यहां अवकाश नहीं है।

रीज़ रॉबर्टस 'पेरि हुप्सुस' की विशेषताओं का समाहार करते हुए कहते हैं :-

"कुल मिलाकर, अरस्तू के बाद के किसी यूनानी लेखक द्वारा लिखित आलोचना की यह एकमात्र सर्वोत्कृष्ट कृति है। उदार स्वर; शैलीविषयक उपयुक्त नियम; प्रतिभा के दोष, रुचि के मानदंड, प्रकृति के साथ कला, और जीवन के साथ साहित्य के संबंध जैसे तात्त्विक प्रश्नों पर विवेकपूर्ण निर्णय; उद्धरणों के कोश के रूप में मूल्य; तुलनात्मक आलोचना का प्राचीनतम प्रबंध होने का ऐतिहासिक महत्त्व; प्रायः प्रत्येक यूरोपीय साहित्य को कुछ-न-कुछ प्रभावित करने वाला सौंदर्यशास्त्रीय ग्रंथ होने का गौरव;—ये ऐसी विशेषताएं हैं जो इस कृति को हमारे आदर और प्रशंसा का अधिकारी बनाती हैं।"[१३]

रीज़ रॉबर्ट्स का उपसंहार वाक्य है: "उन (लोंगिनुस) की गंभीर मानवता और व्यापक सहानुभूति ने…पुराकाल की चेतना को आधुनिक बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करने में उनकी सहायता की है और प्राचीन यूनान के अंतिम महान् आलोचक तथा (किन्हीं अर्थों में) बृहत्तर जगत् के प्रथम अंतर्राष्ट्रीय आलोचक के रूप में उन्हें साहित्य के इतिहास के अंतर्गत स्थायी स्थान दिया है।"[१४]

सेंट्सबरी के इतिहास के निम्नलिखित उद्धरण से मैं लोंगिनुस की आलोचना का उपसंहार करता हूं:

"हां, जैसा हमने कहा है, वे अकेले ही हैं। जब तक पंद्रह सौ वर्ष पार कर हम कोलरिज तक नहीं पहुंचते, तब तक उनकी श्रेणी का दूसरा आलोचक हमें नहीं मिलता।…अपने वर्ग की सभी कृतियों के बीच यह कृति शीर्षस्थ बनी रहती है। यह ऐसे आलोचक की कृति है जो पहले के सभी आलोचकों की भूलों से कुछ-न-कुछ सीखता है और अपनी सहज प्रतिभा से वैसी चीजों का संकेत करता है जो बाद की अनेक शताब्दियों तक देखने को नहीं मिलतीं।"[१५]

१३. Longinus on the Sublime; p. 36.

१४ His deep humanity and his broad sympathies have helped him...... to interpret the spirit of antiquity to the modern mind, and have given him a permanent place in the history of literature as the last great critic of Greece and (in some sense) the first international critic of a wider world.
—Ibid, p. 37.

१५. Yes, as we have said, he stands alone. We must skip fifteen hundred years and come to Coleridge before we meet any critic entirely of his class... And his work remains towering among all other works of the class, the work of a critic learning by the mistakes of all that had gone before, and presaging with instinctive genius, much that was not to come for centuries after.
—A History of Criticism; p. 174.

विलियम वर्ड्सवर्थ

[१७७०-१८५०]

विलियम वर्ड्सवर्थ (William Wordsworth) मूलतः कवि थे। समालोचना की न तो उनमें रुचि थी, न प्रवृत्ति और न क्षमता। प्राकृतिक परिवेश में पलने के कारण विकसित भी उनका सौंदर्यबोध ही हुआ जो कवित्व के अधिक अनुकूल था। समालोचक के जो अपेक्षित गुण हैं, वे वर्ड्सवर्थ में नहीं थे; फिर भी, परिस्थिति की बाध्यता से उन्हें समालोचक बनना पड़ा। समालोचक के रूप में वर्ड्सवर्थ का मूल्यांकन करते समय इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

वर्ड्सवर्थ ने बीस वर्ष की उम्र (१७९० ई०) में फ्रांस, इटली और आल्प्स पर्वत की पैदल यात्रा की। इस यात्रा का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। आल्प्स की प्राकृतिक सुषमा ने उनकी सौंदर्य-भावना को उद्दीप्त किया और फ्रांस की क्रांति ने विचार को। फ्रांस की क्रांति कुछ ही दिन पहले (१७८९ ई०) हुई थी। स्वभावतः उसकी गर्मी अभी वातावरण में मौजूद थी। यात्रा के दौरान वर्ड्सवर्थ फ्रांस में एक वर्ष रहे। इस प्रवास ने भावना और विचार, दोनों में उनको एक नया परिप्रेक्ष्य ही नहीं दिया बल्कि उनके भावी कवित्व की आधारभूमि भी प्रस्तुत की। उनकी समालोचना पर भी इस यात्रा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

१७९५ ई० में कोलरिज से वर्ड्सवर्थ की मुलाकात हुई जो बाद में मित्रता और आत्मीयता में परिणत हो गयी। दोनों जीवन के ही नहीं, काव्य-जगत् के भी सहपथिक बने। पारस्परिक विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप दोनों ने कुछ सामान्य मान्यताओं को सामने रखकर काव्य-रचना की योजना बनायी। 'लिरिकल बैलड्स' के नाम से उन कविताओं का प्रथम संस्करण १७९८ ई० में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण की संक्षिप्त भूमिका 'एडवरटिज़मेंट' शीर्षक से वर्ड्सवर्थ ने लिखी। 'लिरिकल बैलड्स' के प्रकाशन ने तत्कालीन काव्य-जगत् में हलचल मचा दी क्योंकि इसमें प्रचलित काव्य-प्रस्थानों से अलग हटकर नवीन मान्यताओं तथा सरणियों की स्थापना का उपक्रम था। फलतः इस संग्रह के काव्य-विषय और काव्य-भाषा, दोनों पर नव-आभिजात्यवादी (नियो-क्लासिकल) आलोचकों ने निर्मम आक्रमण किया। १८०० ई० में जब 'लिरिकल बैलड्स' का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ तो वर्ड्सवर्थ ने उसमें एक लंबी भूमिका सन्निविष्ट की जिसमें 'लिरिकल बैलड्स' पर आलोचकों द्वारा किये गये आक्षेपों के उत्तर थे। यह भूमिका कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसमें काव्य और काव्य-

भाषा पर वर्ड्सवर्थ जैसे उत्कृष्ट कवि की व्यक्तिगत मान्यताओं का प्रतिपादन है; दूसरे, स्वच्छंदतावादी आंदोलन का यह घोषणा-पत्र भी माना जाता है। इस भूमिका का एक ऐतिहासिक महत्त्व यह भी है कि इसने १७वीं-१८वीं शताब्दी की काव्य-संबंधी नव-आभिजात्यवादी मान्यताओं को उच्छिन्नप्राय कर दिया। १८०० ई० वाली यह भूमिका ही 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलड्स' के नाम से अंग्रेजी के आलोचना-साहित्य में प्रसिद्ध है। एक परिशिष्ट के साथ यह भूमिका १८०२ ई० के तृतीय संस्करण में भी आयी। ग्रंथ का चतुर्थ संस्करण १८१५ ई० में प्रकाशित हुआ। इस तरह 'लिरिकल बैलड्स' के चार संस्करण प्रकाशित हुए—१७९८ ई०, १८०० ई०, १८०२ ई० और १८१५ ई० में।

चूंकि वर्ड्सवर्थ और कोलरिज समान विचारों और मान्यताओं को लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे, अतः काव्य के विषय और भाषा के संबंध में भी उनमें बहुत कुछ विचार-साम्य था और वर्ड्सवर्थ ने जो भूमिका लिखी उसमें कोलरिज के विचार भी समाविष्ट थे। वस्तुतः यह भूमिका कोलरिज को ही लिखनी थी किंतु कोलरिज के जीवन और कार्य-पद्धति में व्यवस्था की बड़ी कमी थी जिसके फलस्वरूप वे भूमिका नहीं लिख सके। लाचार होकर यह भूमिका वर्ड्सवर्थ को ही लिखनी पड़ी। आगे चलकर भूमिका में अभिव्यक्त विचारों से कोलरिज सहमत नहीं रह पाये और उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' (१८१७ ई०) में बड़े जोरदार ढंग से वर्ड्सवर्थ के विचारों का खंडन किया। समसामयिक आलोचकों के आक्रमण और कोलरिज जैसे सहयोगी के खंडन के बावजूद वर्ड्सवर्थ के 'प्रिफेस' का अंग्रेजी आलोचना के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि रोमांटिक आंदोलन का सूत्रपात इसी से होता है।

इस भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने पहले काव्य-विषय और काव्य-भाषा पर विचार किया था किंतु तृतीय संस्करण (१८०२ ई०) में उन्होंने 'कवि किसे कहते हैं' इसकी भी चर्चा की। भूमिका के प्रत्येक संस्करण में संशोधन-परिवर्तन का क्रम चलता रहा।

वर्ड्सवर्थ की भूमिका में दार्शनिक या वैचारिक गंभीरता भले ही न हो किंतु ताजगी है और एक नयी दिशा का, एक नयी लीक का, संकेत है। वर्ड्सवर्थ की विवेचन-पद्धति की अवगति के लिए एक अनुच्छेद का प्रायः अविकल अनुवाद प्रस्तुत है :

"सामान्य रूप में विषय का विवेचन करते हुए मैं पूछना चाहता हूं कि 'कवि' शब्द का अर्थ क्या है? कवि किसे कहते हैं? वह किससे अपनी बात कहता है? और उससे कैसी भाषा की अपेक्षा की जाती है?—वह मनुष्य है जो मनुष्यों से बात कहता है। यह सच है कि वह ऐसा मनुष्य है जिसमें साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक जीवंत संवेदनशीलता, उमंग और कोमलता होती हैं; जिसे मानव प्रकृति का समधिक ज्ञान होता है; जिसकी आत्मा व्यापक होती है; जो अपने ही भावों और इच्छाओं से प्रसन्न रहता है और दूसरों की अपेक्षा आत्मगत जीवन-चेतना में अधिक रस लेता है; जो अपने भावों और इच्छाओं के समान

ही विश्व के व्यापारों में अभिव्यक्त भावों और इच्छाओं पर विचार कर उल्लसित होता है ओर जहां वह उन्हें नहीं पाता, वहां भी उनके सर्जन के लिए अभ्यासवश प्रेरित होता है। इन विशेषताओं के साथ उसमें यह मनोवृत्ति भी जुड़ी होती है कि अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अविद्यमान वस्तुओं से भी वह इस तरह प्रभावित हो मानो वे विद्यमान हैं; उसमें अपने भीतर ऐसे भावों के उन्मेष की भी योग्यता होती है जो वास्तविक घटनाओं द्वारा जनित भावों से पर्याप्त भिन्न होते हुए भी उन भावों के बहुत समान होते हैं (खासकर सामान्य सहानुभूति के उन अंशों में जो प्रीतिकर और रुचिकर हैं)। इन कारणों से और अभ्यास से वह अपने भीतर ऐसी शक्ति और तत्परता विकसित किये होता है कि वह जो कुछ सोचता और अनुभव करता है उसे वखूबी व्यक्त कर देता है, विशेषत: वैसे विचारों और अनुभवों को, जो बिना तात्कालिक वाह्य उत्तेजना के, उसकी अपनी रुचि या मन की संरचना से, उत्पन्न होते हैं।"

इस संदर्भ को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि आलोचक की अभिव्यंजना में जो कसावट होनी चाहिए, उसका इसमें अभाव है। बातें प्राय: ठीक ही हैं किंतु उनके कहने का ढंग शिथिल, अंशत: जटिल और अव्यवस्थित भी है। उद्धृत संदर्भ के कथ्य निम्नलिखित हैं :

(क) कवि की संवेदनशीलता और कोमलता साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होती है।

(ख) मानव और मानवेतर प्रकृति का उसे अधिक ज्ञान होता है और साधारण मनुष्यों की तुलना में उसकी चेतना वस्तुओं के निरीक्षण एवं ग्रहण में अधिक समर्थ होती है।

(ग) वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं से स्वयं तो आह्लादित होता ही है, दूसरों को भी आह्लादित करने में सक्षम होता है।

(घ) उसकी कल्पना इतनी सजग होती है कि प्रत्यक्ष से ही नहीं, बल्कि परोक्ष से भी वह प्रत्यक्षवत् प्रभावित होता है। वास्तविक घटनाओं के समान अवास्तविक घटनाओं की भी वह ऐसी सजीव कल्पना कर सकता है कि वे वास्तविक जैसी प्रतीत हों।

(ङ) उपर्युक्त नैसर्गिक गुणों के अतिरिक्त निरंतर अभ्यास से उसमें ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह अपने विचारों और अनुभवों को, किसी तात्कालिक बाह्य उत्तेजना के बिना भी, जब चाहे अपने भीतर उत्पन्न कर सकता है; साथ ही, अभिव्यक्त भी कर सकता है।

काव्य पर विचार करते समय वर्ड्सवर्थ ने काव्य की **परिभाषा, विषयवस्तु, प्रयोजन** और भाषा पर विचार किया है। इनमें काव्यभाषा का विचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार, "काव्य प्रबल भावों का सहज उच्छलन है।" यह परिभाषा स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है। इसके साथ कतिपय अन्य अवान्तर बातों की भी चर्चा वर्ड्सवर्थ ने की है जिनसे काव्य की परिभाषा पर उतना प्रकाश नहीं

पड़ता जितना काव्य-सर्जन की प्रक्रिया पर। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि वे मूलतः कवि हैं और कवि की हैसियत से काव्य-प्रक्रिया पर कुछ कहना उनके लिए आसान भी है और संगत भी। वर्ड्सवर्थ ने इस प्रसंग में जो कहा है[1] उसके विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

१. काव्य-प्रक्रिया का प्रथम चरण है—प्रबल भावों का अनायास उच्छलन या उत्प्रवाह (overflow)।

२. द्वितीय चरण है प्रशांत मनोदशा में उन भावों का अनुस्मरण। यह अनुस्मरण केवल स्मरण नहीं होता, बल्कि भावन भी होता है, जिसके फलस्वरूप प्रशांतता धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है और पुनः वैसी ही भावदीप्त मनोदशा उत्पन्न हो जाती है जैसी प्रारंभ में हुई थी।

३. इसी भावदीप्त मनोदशा में रचना का प्रायः आरंभ होता है और ऐसी ही मनोदशा में उसका क्रम चलता रहता है।

४. भाव चाहे जिन कारणों से उत्पन्न हों, जिस प्रकार के हों और जिस मात्रा में हों, वे नानाविध आनंदों से संवलित होते हैं और उनका वर्णन करने में, जो स्वेच्छया संपन्न होता है, मन आनंदानुभूति की स्थिति में रहता है।

काव्य को भावों का उच्छलन कहकर वर्ड्सवर्थ ने जहां विधिरूप में कवि की दृष्टि से रचना-प्रक्रिया की आरंभिक स्थिति को प्रकट किया है, वहां निषेधरूप में नव-आभिजात्यवादी सिद्धांत का खंडन भी किया है। नव-आभिजात्यवाद के अनुसार काव्य-रचना के लिए तर्क और नियम का अनुसरण आवश्यक है। स्वच्छंदतावाद ने इनके स्थान पर सहज स्फूर्त भाव को प्रतिष्ठित किया, वर्ड्सवर्थ जिसके समर्थ पक्षधर थे।

काव्य-प्रक्रिया के संदर्भ में वर्ड्सवर्थ ने आनंद को पर्याप्त रेखांकित किया है। उनका कहना है कि काव्य के उपादानभूत भावों में भी आनंद रहता है और उनका वर्णन करने में कवि को भी आनंद प्राप्त होता है। भावक के आनंद का निर्देश तो लगभग सभी आलोचकों ने किया है, किंतु कवि (स्रष्टा) के आनंद का निर्देश कुछ ही आलोचकों ने किया है। वर्ड्सवर्थ उनमें अन्यतम हैं। इस प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास का 'स्वांतःसुखाय' अनायास स्मरण हो आता है।

भावों के अनायास या सहज उच्छलन की बात कहकर वर्ड्सवर्थ ने शिल्प-पक्ष का खंडन किया हो, ऐसा नहीं है। अनायासता या सहजता का अर्थ कलाहीनता नहीं

१. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotion recollected in tranquillity; the emotion is contemplated till by a species of reaction, the tranquillity gradually disappears, and an emotion, kindred to that which was before the subject of contemplation, is gradually produced, and does itself actually exist in the mind. In this mood successful composition generally begins, and in a mood similar to this it is carried on; but the emotion of whatever kind and in whatever degree, from various causes, is qualified by various pleasures, so that in describing any passions, whatsoever, which are voluntarily described, the mind will upon the whole be in a state of enjoyment. —PREFACE.

है। जब तक शिल्प का योग नहीं होगा तब तक कोई भी उक्ति काव्य की संज्ञा नहीं धारण कर सकती। स्वयं वर्ड्सवर्थ भी अपनी कविता के परिष्करण-परिमार्जन में नितांत सचेत थे। उनका कहना था कि प्रथम-स्फूर्त विचार एवं शब्द की तुलना में परवर्ती चिंतन से परिष्कृत विचार एवं शब्द उत्कृष्टतर होते हैं।

वर्ड्सवर्थ के समय में काव्य और विज्ञान के सापेक्ष महत्त्व का विवाद चल रहा था। कवि होने के नाते वर्ड्सवर्थ स्वभावतः काव्य के महत्त्व के समर्थक थे। काव्य और विज्ञान पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि काव्य समस्त ज्ञान का प्राण है, उसकी सूक्ष्म आत्मा है; वह ऐसी भाव-दीप्त अभिव्यक्ति है जो विज्ञानमात्र का पोषक[२] है। वस्तुतः काव्य और विज्ञान को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक मानना चाहिए। विज्ञान के समान काव्य भी सत्याश्रित है। हां, उसका सत्य बाह्य ज्ञान पर ही नहीं, आंतरिक ज्ञान पर भी आधारित होता है।

विज्ञान का लक्ष्य काव्य के लक्ष्य से मूलतः भिन्न नहीं है। यदि वैज्ञानिक सत्य हमें केवल भौतिक लाभ पहुंचाता है, तो काव्यगत सत्य हमारे अस्तित्व से समवेत रहता है, कारण कि वह मनुष्य-मनुष्य के संबंधों तक ही सीमित नहीं होता, मनुष्य और जगत् के संबंधों को भी अपने में सन्निविष्ट किए होता है।

विज्ञान से केवल वैज्ञानिकों को आनंद होता है या कुछ वैसे लोगों को जो विज्ञान से परिचित हैं; बृहत्तर जन-समुदाय के लिए विज्ञान अबूझ पहेली है। इसके प्रतिकूल काव्य सर्वजनीन है; उससे सबों को आनंद प्राप्त होता है क्योंकि वह "समस्त ज्ञान का प्राण है"।

काव्य का एक और प्रयोजन है; वह लोक-मंगल का साधक है। काव्यरचना के पीछे वर्ड्सवर्थ का अन्यतम प्रयोजन आर्तों और विपन्नों को सांत्वना देना भी है।

काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए वर्ड्सवर्थ का कहना है कि काव्य केवल आत्माभिव्यक्ति नहीं है। काव्य को केवल आत्माभिव्यक्ति मानने वाले अन्य स्वच्छंदतावादी कवियों से इस अंश में वर्ड्सवर्थ का स्पष्ट भेद है। उनका कहना है कि काव्य के महत्त्व या अमहत्त्व का निर्धारण इससे होता है कि पाठक पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। आनंद तो उसका प्रमुख प्रयोजन है ही किंतु वह आनंद ऐसा होना चाहिए जिसका नैतिक पक्ष सौंदर्य-पक्ष की तुलना में कमजोर न पड़े। सौंदर्य-पक्ष की निष्पत्ति कवि की भणितिभंगी (उक्ति-वैचित्र्य) से होती है जिसमें छंद, लय, अलंकार आदि का योगदान रहता है पर नैतिक पक्ष का संबंध अंशतः भावों के परिष्करण से, अंशतः मनुष्य, प्रकृति और मानव-व्यापार के ज्ञान से तथा अंशतः उन सभी वस्तुओं से है जिनसे जीवन समृद्धतर एवं पूर्णतर बनता है। इसलिए नैतिक पक्ष की उपेक्षा करने वाला काव्य, काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।

ग्रामीण जीवन को काव्य का विषय बनाने के संबंध में वर्ड्सवर्थ ने अनेक कारण

२. Poetry is the breath and finer spirit of all knowledge; it is the impassioned expression which is in the countenance of all science. —PREFACE.

दिए हैं। उनका कहना है कि ग्रामीण जीवन में (क) मानव हृदय के भावों के उपचय की अनुकूल भूमि प्राप्त होती है; (ख) हमारे प्रारंभिक भावों की सह-अवस्थिति सरलतर रूप में पाई जाती है; (ग) प्रकृति के रमणीय तथा स्थायी रूपों के साथ मानवीय भावों का अधिक समंजन संभव होता है; (घ) आचार-व्यवहार ऐसे नैसर्गिक अनुभवों एवं पेशों या धंधों से उत्पन्न होते हैं जो आसानी से संवेद्य बन सकते हैं और स्थायी हो सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि ग्रामीण जीवन में मनुष्य के भाव सरल, निष्कपट और सच्चे होते हैं क्योंकि वे प्रकृति के साथ निरंतर संपर्क से उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनसे तादात्म्य सुगम होता है।

जैसा आरंभ में संकेत किया गया है, अपनी यूरोप-यात्रा के दौरान वर्ड्सवर्थ को फ्रांस में एक वर्ष रहने का मौका मिला। फ्रांस की क्रांति अभी-अभी घटित हुई थी जिसमें समाज का शोषित निम्नवर्ग सदियों का बंधन तोड़कर स्वतंत्रता, समता तथा बंधुता का आदर्श स्थापित करने में सफल हुआ था और अभिजातवर्ग का प्रभाव अस्त हो रहा था। फ्रांसीसी क्रांति ने जीवन की परंपरागत मान्यताओं को खंडित कर मानव अधिकारों की प्रतिष्ठा की थी—किसी विशिष्ट मानव की नहीं, बल्कि मानव-मात्र की। काव्य का विषय अब न तो राजा था और न अभिजातवर्ग। कविता का प्रयोजन भी कृत्रिम शालीनता या शिष्टाचार का प्रदर्शन नहीं रह गया था। नागरिक जीवन और दरबारी चमक-दमक हेय माने जाने लगे थे। इन भावनाओं ने वर्ड्सवर्थ के भावुक हृदय पर गहरी छाप छोड़ी थी, जिसके परिणामस्वरूप वे सामान्य ग्रामीण जीवन के चित्रण में उन्मुख हुए थे।

नव-आभिजात्यवादी आलोचक न तो वर्ड्सवर्थ की परंपरा-विरुद्ध काव्य-विषयक मान्यताओं से सहमत हो सके और न काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं से। उन्होंने जमकर दोनों का विरोध किया, खासकर काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं का। वर्ड्सवर्थ की संपूर्ण काव्य-साधना का केंद्र-बिंदु प्रकृति थी। उनकी प्रकृति निर्जीव-निःस्पंद न होकर सजीव-सक्रिय थी, साथ ही प्रेरक भी। इसलिए उन्होंने काव्य-विषय भी उसी से लिए और काव्य-भाषा का आदर्श भी। काव्य-भाषा के संबंध में वर्ड्सवर्थ की सर्वप्रमुख मान्यता यह थी कि वह ग्रामीणों की दैनिक बोल-चाल की भाषा होनी चाहिए क्योंकि उसमें जो सरलता, सच्चाई और भावों के संप्रेषण की शक्ति है, वह कृत्रिम भाषा में नहीं है।

वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं को ठीक से समझने के लिए उनकी पूर्ववर्ती परिस्थितियों की हलकी-सी चर्चा आवश्यक है। प्रसिद्ध इतालवी कवि दांते (१२६५-१३२१ ई०) ने कहा था कि काव्य में ग्राम्य भाषा का प्रयोग हेय है। उसके बाद से अनेक कवियों ने विभिन्न रूपों में इस बात का समर्थन किया। एक तरह से देखा जाय तो काव्य-भाषा के संबंध में दो तरह के विचार प्रायः समानांतर चलते रहे हैं—एक में बोलचाल की भाषा का आग्रह रहा है और दूसरे में विशिष्ट या असाधारण भाषा का। प्राचीन आलोचकों के सिद्धांत-विवेचन के क्रम में हम देख चुके

हैं कि यूरोपीय साहित्य में भाषा पर काव्य-शास्त्र और भाषा-शास्त्र दोनों की दृष्टियों से विचार हुआ है और दोनों एक-दूसरे के पूरक रहे हैं।

१८वीं शताब्दी अर्थात् नव-आभिजात्यवादी युग में भाषा के दो प्रमुख रूप प्रचलित थे—निम्न और उच्च। दैनिक जीवन में व्यवहृत होनेवाली भाषा को निम्न कहा जाता था और काव्य में उसका प्रयोग त्याज्य था क्योंकि अतिपरिचित होने से उसमें वह प्रभविष्णुता और तीव्रता नहीं थी जो रागात्मक भाषा में होनी चाहिए। इसके प्रतिकूल दैनिक व्यवहार से भिन्न, किंचित् अपरिचित अथवा अलंकृत भाषा काव्य के उपयुक्त मानी जाती थी। यह उच्च भाषा क्रमशः इतनी कृत्रिम, बोझिल और आडंबरपूर्ण हो गयी थी कि न तो वह बोधगम्य रह गयी थी और न भावोद्दीपन में समर्थ। जो भाषा बोधगम्य ही न होगी वह भावोद्दीपन क्या करेगी? इसीलिए वर्ड्सवर्थ ने इस भाषा के परित्याग और सरल भाषा के प्रयोग पर जोर दिया।

काव्य-भाषा के संबंध में वर्ड्सवर्थ ने निम्नलिखित तीन मान्यताएं प्रस्तुत कीं :

१. काव्य में ग्रामीणों की दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग होना चाहिए।
२. गद्य और काव्य की भाषा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।
३. प्राचीन कवियों का भावोद्बोध जितना सहज था, उनकी भाषा उतनी ही सरल थी। भाषा में कृत्रिमता और आडंबर बाद के कवियों की देन है।

इन मान्यताओं की व्याख्या अपेक्षित है।

(१) काव्य में दैनिक व्यवहार की भाषा के प्रयोग पर वर्ड्सवर्थ ने उसी कारण से बल दिया जिस कारण से ग्रामीण जीवन को काव्य का विषय बनाने पर। उनके पात्रों का जो स्रोत है वही उनकी काव्य-भाषा का भी है। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि 'लिरिकल बैलड्स' में ग्रामीणों की भाषा इसलिए अपनायी गयी है कि वे हर घड़ी प्रकृति की सर्वोत्तम वस्तुओं के संपर्क में रहते हैं और भाषा का उत्तमांश उनसे ही प्रसूत है। समाज में अपनी निम्न स्थिति के कारण, साथ ही पारस्परिक व्यवहार के सीमित क्षेत्र के कारण, सामाजिक गर्व से मुक्त ग्रामीण जन अपने भावों और विचारों को सरल तथा स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त करने के आदी हैं। वे बाहरी प्रभावों से अछूते हैं, इसलिए केवल अपने व्यक्तिगत अनुभवों को ही संप्रेषित करते हैं। उनकी वाणी में जो सचाई, जो ईमानदारी और जो स्वाभाविकता है वह कृत्रिम भाषा में असंभव है। जैसे उनके भाव सरल हैं, वैसे ही भाषा भी सरल है। विषय और अभिव्यक्ति का समन्वय आवश्यक भी है और वांछनीय भी। अतः उनकी भाषा काव्य-भाषा का आदर्श प्रस्तुत करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विशिष्ट और अलंकृत काव्य-भाषा के अनुरागी ऐसी काव्य-भाषा का समर्थन नहीं कर सकते।

(२) काव्य-भाषा के संबंध में वर्ड्सवर्थ ने जोर देकर कहा कि अच्छे गद्य में तथा छंदोबद्ध रचना में न तो कोई तात्त्विक भेद है और न हो सकता है।[३] इस

३. There neither is nor can be, any essential difference between the language of prose and metrical composition.—PREFACE.

मान्यता का प्रत्यक्ष और परंपरा से ही विरोध नहीं है, बल्कि स्वयं वर्ड्सवर्थ की अच्छी कविताएं भी इसका अपवाद हैं। वर्ड्सवर्थ का यह कहना कि गद्य और काव्य में अंतर केवल छंद के कारण होता है, अतिवादी दृष्टिकोण है। गद्य और काव्य का अंतर छंद के कारण ही नहीं, बल्कि शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास आदि के कारण भी होता है।

(३) प्राचीन कवियों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वर्ड्सवर्थ यह प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि यदि कवि के हृदय में भाव का प्रबल उन्मेष है और विषय का उचित चयन हुआ है तो उसकी भाषा अनायास भव्य, सजीव और चित्र-प्रधान होगी। उनका कहना है कि कृत्रिम भाषा उत्तरवर्ती अपकृष्ट कवियों की देन है। "सभी देशों के प्राचीन कवियों ने वास्तविक घटनाओं से उद्बुद्ध भावों का आधार लेकर काव्य-रचना की। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह साधारण मनुष्यों के रूप में और बिलकुल स्वाभाविक ढंग से। चूंकि उनकी अनुभूति और भाव प्रबल थे, इसलिए सहज ही उनकी भाषा प्रभावी और अलंकृत हो गयी। अतः उन कवियों में जहां भी अलंकृत भाषा मिलती है, वह उनके सच्चे भावावेश से प्रेरित है। किंतु बाद में कवि-यश:प्रार्थी लोगों ने, उस भाषा का प्रभाव देखकर, वैसे भाव से अनुप्राणित हुए बिना भी, वही प्रभाव उत्पन्न करना चाहा। फल यह हुआ कि उन अलंकारों का केवल यांत्रिक प्रयोग हो पाया; कभी प्रयोग उचित भी हुआ पर अधिकतर ऐसे भावों तथा विचारों के लिए उनका प्रयोग होने लगा जिनके साथ उनका कोई स्वाभाविक संबंध नहीं था। इस प्रकार अनजाने एक ऐसी भाषा उत्पन्न हो गयी जो किसी भी स्थिति में मनुष्यों की वास्तविक भाषा से तत्त्वतः भिन्न थी।" एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के हाथों में पड़ती हुई यह कृत्रिम काव्यभाषा क्रमशः जटिल और आडंबरपूर्ण होती गयी और अंत में आते-आते उसकी भावोद्दीपन-क्षमता बिलकुल समाप्त हो गयी। उसमें न तो सरसता रही, न सहजता। वह वागाडंबर उत्पन्न करने का साधनमात्र रह गयी। (हिंदी रीतिकाव्य इसका अच्छा उदाहरण है।) वर्ड्सवर्थ इस काव्यभाषा को त्याज्य बताकर उस काव्यभाषा को पुनर्जीवित करने का आग्रह करते हैं जो प्राचीन कवियों द्वारा अपनायी गयी थी।

वर्ड्सवर्थ की भाषा-संबंधी इन मान्यताओं का खंडन न केवल नव-आभिजात्यवादियों ने किया, बल्कि उनके अनन्य मित्र और सहयोगी कोलरिज ने भी किया, जो 'लिरिकल बैलड्स' के सहलेखक थे।

वर्ड्सवर्थ की काव्यविषयक सभी मान्यताएं, जिनमें काव्यभाषा-संबंधी विचारणा भी सम्मिलित है, उनके काव्य-सर्जन के प्रयोग से उद्भूत हैं और उनकी कविताएं उनके काव्य-सिद्धांतों के उदाहरण हैं। 'लिरिकल बैलड्स' के प्रथम संस्करण पर वर्ड्सवर्थ का कथन ध्यातव्य है। "यह संग्रह एक प्रयोग के रूप में प्रकाशित किया गया था। मैंने सोचा था कि इसका कुछ उपयोग यह पता लगाने में हो सकता है कि तीव्र अनुभूति की स्थिति में मनुष्यों की स्वाभाविक भाषा को छंद में ढालकर कहां तक वह आनंद, और उतनी ही मात्रा में, प्रदान किया जा सकता है जिसे कोई कवि

(समुचित रूप में) प्रदान करना चाहता है।"[४]

इस कथन के निम्नलिखित निष्कर्ष हैं :

१. 'लिरिकल बैलड्स' का प्रकाशन एक प्रयोग के रूप में था, निश्चित सिद्धांत के रूप में नहीं।

२. इस प्रयोग का उद्देश्य यह पता लगाना था कि ग्रामीणों की बोलचाल की भाषा को छंद में ढालकर उसके द्वारा तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति कहां तक संभव है।

३. और, यदि संभव है तो क्या उससे वही और उतना ही आनंद प्रदान किया जा सकता है जो कवि को अभीष्ट है।

इससे स्पष्ट है कि बोलचाल की ग्रामीण भाषा का प्रयोग वर्ड्सवर्थ का अपरिवर्तनीय सिद्धांत नहीं था और न सभी प्रकार की कविताओं में वे उसके व्यवहार के आग्रही थे। वे ग्रामीण भाषा की संप्रेषण-क्षमता की केवल परीक्षा करना चाहते थे और इसी दृष्टि से लिरिकल बैलड्स में संकलित कविताओं की उन्होंने रचना की थी।

वर्ड्सवर्थ ने बार-बार 'the real language of men'; 'in a selection of language really used by men'; 'the very language of men' आदि का प्रयोग किया है। इन संदर्भों में men का अर्थ ग्रामीण है। वे नागरिक की, या जन-साधारण की भी बात नहीं करते, केवल ग्रामीण की बात करते हैं। real, really, very का भी अभिप्राय यह है कि बिलकुल वह भाषा जिसे ग्रामीण दैनिक व्यवहार में लाते हैं।

काव्य-भाषा के विचार के प्रसंग में वर्ड्सवर्थ ने कहा कि "गद्य और छंदोबद्ध रचना के बीच न तो कोई तात्त्विक अंतर है और न हो सकता है।" यही कथन सबसे अधिक विवाद का विषय बना। वर्ड्सवर्थ की इस मान्यता का आधार लौकिक व्यवहार है जिसमें स्वाभाविक जीवन बितानेवाले ग्रामीण सहज संप्रेषण के लिए बोलचाल के गद्य का प्रयोग करते हैं और गद्य में ही अपनी सारी बातें, यहां तक कि तीव्र भाव और अनुभूतियां भी, बखूबी अभिव्यक्त करते हैं। इसका अर्थ है कि ग्रामीणों के सरल-अकृत्रिम गद्य में भी अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता वर्तमान है। फिर, उसका प्रयोग पद्य में क्यों नहीं हो सकता?

ध्यान में रखने की बात है कि वर्ड्सवर्थ ने इस प्रसंग में काव्य शब्द का नहीं, 'छंदोबद्ध रचना' अर्थात् पद्य का उल्लेख किया है। ग्रामीण भाषा में छंदोबद्ध रचना तो हो ही सकती है। रही बात काव्य की, तो वर्ड्सवर्थ का कहना है कि ग्रामीण भाषा काव्य के लिए भी उपयुक्त है, खासकर ऐसे काव्य के लिए जिसमें ग्रामीण जीवन का चित्रण हो।

४. If was published as an experiment, which I hoped might be of some use to ascertain how far, by fitting to metrical arrangement a selection of the real language of men in a state of vivid sensation, that sort of pleasure and that quantity of pleasure may be imparted which a poet may rationally endeavour to impart. —PREFACE.

वर्ड्सवर्थ के कथन का अभिप्राय यह है कि अभिव्यक्ति की क्षमता गद्य में भी वैसी ही है जैसी पद्य में; दोनों में अंतर इतना ही है कि पद्य में छंद आरोपित रहता है किंतु गद्य में नहीं। इसलिए दोनों में जो अंतर है, वह छंद का है, भाषा का नहीं। भाषा तो गद्य और पद्य की एक ही है।

वर्ड्सवर्थ की काव्यविषयक मान्यताओं से अधिक काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं की आलोचना हुई। आलोचकों में कोलरिज अग्रगण्य हैं। उन्होंने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के १७ से २० तक चार अध्यायों में वर्ड्सवर्थ की एक-एक मान्यता की जोरदार आलोचना की है।

१. जैसा पीछे कहा गया है, वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा-विषयक मान्यता एक तो प्रयोग के रूप में थी। दूसरे, एक खास तरह के काव्य (ग्रामीण जीवन से संबद्ध) के लिए। सभी प्रकार के काव्य के लिए उन्होंने ग्रामीण भाषा का न तो स्वयं व्यवहार किया है और न करने को कहा है। कोलरिज इस तथ्य को नजरअंदाज कर देते हैं। वे काव्यमात्र की भाषा का प्रश्न उठाते हैं जबकि वर्ड्सवर्थ ने एक विशेष प्रकार के काव्य के प्रसंग में ही ग्रामीण भाषा की वकालत की है। अत: कोलरिज की आलोचना प्रसंगापेत है।

कोलरिज का तर्क यह है कि काव्यभाषा के प्रसंग में प्रमुख विचारणीय प्रश्न यह नहीं है कि काव्यभाषा का स्वरूप क्या हो, बल्कि यह कि भावों और अनुभूतियों के संप्रेषण में वह कहां तक समर्थ है। वह ग्रामीणों की बोलचाल की भाषा है या उससे भिन्न, यह प्रश्न गौण है। देखना यह है कि वह कवि के भावों और अनुभूतियों के पूर्ण तथा समुचित संप्रेषण में सफल हुई है या नहीं। ग्रामीण भाषा में एक कठिनाई यह है कि उसकी शब्दावली इतनी अपर्याप्त और कामचलाऊ है कि उससे व्यापक, सूक्ष्म, अनेकविध अनुभूतियों का संप्रेषण संभव नहीं है। वह अधिक-से-अधिक कुछ परिमित वस्तुओं या कार्यों का ही वर्णन कर सकती है जो ग्रामीण मनुष्यों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित हैं। पर प्रकृति की इयत्ता तो है नहीं; उसके अनंत रूप हैं जिनकी अभिव्यक्ति ग्रामीण भाषा में संभव नहीं है।

यहां भी कोलरिज ने जाने-अनजाने वर्ड्सवर्थ के अभिप्राय से अलग हटकर आलोचना की है। वर्ड्सवर्थ भी भाव और भाषा के सामंजस्य के कम आग्रही नहीं हैं; उन्होंने 'प्रिफ़ेस' में इसकी कई बार चर्चा भी की है। ग्रामीण-भाषा-संबंधी उनकी उपर्युक्त मान्यता केवल 'लिरिकल बैलड्स' में संकलित कविताओं के संदर्भ में ही है। उन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा है कि कवि को सदा ग्रामीण भाषा का ही व्यवहार करना चाहिए। 'प्रिफेस' में अनेकत्र 'यथासंभव' कहकर उन्होंने ग्रामीण भाषा की सीमित उपादेयता को ही संकेतित किया है।

२. वर्ड्सवर्थ के 'मनुष्यों की वास्तविक भाषा के चयन' पर कोलरिज की आपत्ति है कि प्रत्येक मनुष्य की भाषा उसके ज्ञान के विस्तार, क्षमता की क्रियाशीलता एवं संवेदनाओं की क्षिप्रता या गंभीरता के अनुसार भिन्न हुआ करती है। शिक्षित मनुष्य की भाषा अशिक्षित ग्रामीण की भाषा से भिन्न होती है पर इसका

यह अर्थ कहां है कि उसकी भाषा अवास्तविक है ? शिक्षित के लिए उसकी भाषा उतनी ही वास्तविक है जितनी अशिक्षित ग्रामीण के लिए उसकी भाषा। आगे चलकर कोलरिज कहते हैं कि मनुष्य की भाषा तीन कारणों से नियंत्रित होती है; वे हैं : (क) मनुष्य की वैयक्तिक विशेषताएं; (ख) समाज या वर्ग की विशेषताएं; और (ग) शब्दों और मुहावरों की अंतर्निहित विशेषताएं। इन्हीं तीन कारणों से प्रत्येक मनुष्य की भाषा में भिन्नता आती है। कोलरिज का भाषा-संबंधी उपर्युक्त विवेचन सर्वथा संगत है किंतु स्मरण रखना चाहिए कि वर्ड्सवर्थ इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में, भाषा पर विचार कर ही नहीं रहे हैं। वे तो सीमित परिप्रेक्ष्य में, एक सीमित लक्ष्य को दृष्टि में रखकर अपनी बात कह रहे हैं। अतः उनका कथन एकांगी होते हुए भी असंगत नहीं है।

३. वर्ड्सवर्थ ने ग्रामीण भाषा का समर्थन करते हुए एक तर्क यह भी दिया है कि कवि उन दोषों को दूर करके ही ग्रामीण भाषा काम में लाएगा जो अरुचि या जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले हैं। काव्य में परिष्कृत और अलंकृत भाषा के प्रयोग के पक्षधर ग्रामीण भाषा को इसीलिए अनुपयुक्त मानते हैं कि उसमें ग्राम्यता आदि दोष रहते हैं जो अरुचि या जुगुप्सा उत्पन्न करते हैं। उनका निराकरण हो जाने के बाद ग्रामीण भाषा में आपत्ति की कोई बात रहेगी ही नहीं। इस पर कोलरिज का प्रत्युत्तर है कि जब दोषों का निराकरण हो ही गया तो वह भाषा ग्रामीण रही कहां ? ग्रामीण तो वह तभी तक है जब तक उसका परिष्कार नहीं हुआ है। क्षेत्रीयता, ग्राम्यता आदि दोषों के निराकरण के बाद तो वह काव्यभाषा ही बन गयी; फिर तो उसे ग्रामीण कहना ही अयुक्त है। वर्ड्सवर्थ शायद इसका यह समाधान करते कि उन्होंने केवल ग्रामीण शब्दों के चयन की बात कही है; यह तो कहीं नहीं कहा कि सदोष भी ग्रामीण भाषा काव्योपयोगी होती है। और, परिष्कार हो जाने पर भी शब्दावली तो ग्रामीण ही रहती है। इसलिए उनका कथन खंडित नहीं होता।

४. वर्ड्सवर्थ का 'तीव्र अनुभूति की दशा' वाला वाक्यखंड भी कोलरिज की आलोचना से नहीं बचा है। उनका कहना है कि इस वाक्यखंड को जोड़ देने से भी बात कुछ बनती नहीं। प्रबल भावों से अभिभूत भी मनुष्य नये शब्दों या वाक्यखंडों का आविष्कार नहीं करता बल्कि पहले से मन में संचित शब्दभंडार से ही काम लेता है। भाव का उद्दीपन केवल उस शब्दभंडार को अधिक गतिशील कर देता है। "भाव की ऊष्मा विचारों या बिंबों में चाहे जो भी अभिनव संबंध स्थापित करे या सत्य अथवा अनुभूति का जो भी साधारणीकरण करे, उसके संप्रेषक शब्द तो बोलचाल में पहले से ही विद्यमान रहते हैं; असाधारण उत्तेजना से वे केवल समुदित हो जाते हैं।" पर कोलरिज का यह प्रश्न और उत्तर, दोनों अस्थानस्थ हैं। वर्ड्सवर्थ ने यह कहा ही नहीं है कि भाव की उत्तेजना या तीव्र अनुभूति शब्दभंडार को प्रभावित करती है। उनका इतना ही कहना है कि अनुभूति की तीव्रता की दशा में प्रयुक्त शब्द इतने शक्तिशाली और इतने प्रभावकारी हो जाते हैं कि अनायास काव्यगुण से संपन्न हो जाते हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्द अलौकिक नहीं होते; वे उन्हीं शब्दों में से गृहीत होते

हैं जो सामान्य बोलचाल के काम में आते हैं, किंतु कवि के भाव की तीव्रता के संवहन की प्रक्रिया में वे कुछ ऐसे सबल, व्यंजक एवं विच्छित्तिविशिष्ट हो जाते हैं जो सामान्य स्थिति में संभव नहीं है।

५. वर्ड्सवर्थ के 'गद्य और पद्य की भाषा की अभिन्नता' के सिद्धांत पर कोलरिज ने काफी गंभीरता से विचार किया है। वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रयुक्त 'एसेंशल' शब्द का विश्लेषण करते हुए उन्होंने निष्कर्ष रूप में कहा है कि "मैं अपने प्रमाण में प्रत्येक देश और प्रत्येक युग के सर्वोत्कृष्ट कवियों के प्रयोगों की ओर (ध्यान) आकृष्ट करता हूं···कि अनिवार्य (एसेंशल) शब्द के प्रत्येक अर्थ में गद्य तथा छंदोबद्ध रचना की भाषा में सचमुच अनिवार्य भेद हो सकता है और होना चाहिए।"

कोलरिज अपने मत के समर्थन में आगे कहते हैं कि किसी रचना में शब्दों या शब्दक्रमों की उपयुक्तता के प्रश्न पर निरपेक्ष विचार असंगत होगा। कोई शब्द या शब्दक्रम गद्य में उपयुक्त हो सकता है, पद्य में नहीं; इसी प्रकार वह पद्य में उपयुक्त हो सकता है, गद्य में नहीं। हमें इस सामान्य और निरपेक्ष विचार से हटकर विशिष्ट संदर्भ में देखना चाहिए कि किसी शब्द या शब्दक्रम का प्रयोग कहां तक उचित हुआ है; और, तब हम पाएंगे कि गद्य में जो उचित है, वह पद्य में नहीं और पद्य में जो उचित है, वह गद्य में नहीं। इसलिए गद्य और पद्य की भाषा में अभेद मानना किसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है।

वर्ड्सवर्थ के भाषा-संबंधी विवेचन में यही तर्क सबसे कमजोर है और इसका समाधान सामान्यतः कठिन है। किंतु वर्ड्सवर्थ का समर्थक यहां भी कह सकता है कि जब वर्ड्सवर्थ ने गद्य-पद्य की भाषा के अभेद की बात कही तो उनकी दृष्टि केवल शब्दभंडार पर थी, भणितिभंगी या वाक्यविन्यास पर नहीं। जहां तक शब्दभंडार की बात है, उसमें गद्य-पद्य का तात्त्विक भेद कहां होता है? बहुत दूर तक वे ही शब्द गद्य और पद्य, दोनों में प्रयुक्त होते हैं; अंतर होता है केवल उनके प्रयोग की प्रणाली का। हां, पद्य में छंद और लय के बंधन के कारण शब्दविन्यास के क्रम में वह स्वच्छंदता नहीं रहती जो गद्य में रहती है।

जैसा ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, वर्ड्सवर्थ की मान्यताओं के खंडन में आलोचकों ने तथ्य से अधिक प्रौढ़ि-प्रदर्शन की तथा बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। जिन लोगों ने बाणभट्ट के गद्य का आस्वादन किया है, वे वर्ड्सवर्थ की इस मान्यता से असहमत नहीं हो सकते कि गद्य और छंदोबद्ध रचना की भाषा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। संस्कृत में एकमात्र कालिदास ही काव्योचित भाषा के प्रयोग में बाणभट्ट के गद्य का मुकाबला कर सकते हैं। इसीलिए संस्कृत में यह उक्ति चल पड़ी कि "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति"—गद्य कवियों की कसौटी है। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि वर्ड्सवर्थ ने केवल गद्य नहीं कहा है, बल्कि 'उत्तम गद्य' (गुड प्रोज़) कहा है। हिंदी में ही 'साधना' आदि गद्य-गीतों की भाषा काव्य की भाषा से किसी माने में भिन्न नहीं है।

बोलचाल की भाषा में भाव और अनुभूति के काव्यात्मक संप्रेषण की बात भी

यदि अतिवादी सीमा तक नहीं खींची जाए तो वड्सवर्थ की वह मान्यता भी आपत्ति-जनक नहीं है। उदाहरणार्थ निराला की 'भिक्षुक' शीर्षक कविता का यह छंद लें :

वह आता
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ मिलकर हैं दोनों एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को
मुंह फटी-पुरानी झोली का फैलाता।

इसमें एक भी शब्द ऐसा नहीं जो काव्यात्मक वैशिष्ट्य से समन्वित कहा जा सके बल्कि टूक, लकुटिया, मुट्ठी, दाना, झोली आदि शब्द ग्रामीण ही हैं पर इस कविता में ये कितने व्यंजक हैं? इनके बदले गुरु-गंभीर तत्सम शब्द कविता का सारा सौंदर्य समाप्त कर देंगे। वस्तुतः शब्द का अपना कोई खास महत्त्व नहीं होता; वक्ता, श्रोता, विषय, प्रकरण आदि से उसमें अर्थवत्ता आती है और उसकी छाया निखरती है। इसलिए कृत्रिम, अलंकृत, क्लिष्ट भाषा को ही काव्यभाषा मानना ठीक नहीं। वड्सवर्थ के कहने का तात्पर्य इतना ही है।

वड्सवर्थ की तीसरी मान्यता भी गलत नहीं है। काव्य के प्रारंभिक युग में कवि के भाव भी सरल-स्वाभाविक होते थे और अभिव्यक्ति भी अव्याजमनोहर। भारत में आदिकवि वाल्मीकि की भाषा कितनी सरल, स्वच्छ और प्रसन्न है! कालिदास की भी भाषा कितनी पारदर्शी है! वही स्थिति यूनानी महाकवि होमर की है। काव्यभाषा में क्रमशः अलंकरण और कृत्रिमता बढ़ती गयी है और जो कवि जितना प्रतिभा-दरिद्र हुआ है, उसकी भाषा सहजता से उतनी ही दूर हटी है। उसने भाव के खोखलेपन को भाषा के आडंबर से वैसे ही भरने की चेष्टा की है जैसे कोई नारी सौंदर्य की कमी को अलंकारों के आवरण में छिपाने की कोशिश करे।

छंद काव्यानंद को बढ़ाने का साधन है किंतु जब वड्सवर्थ उसे 'अध्यारोपित चारुत्व' (superadded charm) कहते हैं तो उसका महत्त्व कुछ कम होता दीखता है। ऐसा संभवतः वे इसलिए कहते हैं कि छंद शब्दचयन या वाक्यविन्यास जैसी अन्य कृत्रिम विशेषताओं का पथ प्रशस्त करता है। चूंकि वड्सवर्थ स्वाभाविकता के आग्रही हैं, इसलिए जहां भी उन्हें कृत्रिमता की थोड़ी-सी भी संभावना दिखायी पड़ती है वहां उससे बचने की कोशिश करने लगते हैं। छंद के अनुरोध से किसी शब्द के अनेक पर्यायों में से किसी स्थल-विशेष पर कोई एक ही शब्द ठीक बैठता है; वह पर्याय सरल नहीं भी हो सकता है पर उसे न रखें तो छंदोभंग हो जाएगा। इसलिए सरलता की दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं होने पर भी उसका प्रयोग करना पड़ता है। यह स्थिति वड्सवर्थ को अभिमत नहीं है; हालांकि वे यह मानते हैं कि छंद मन को चेतना के एक नये स्तर पर उठाता है और भावों का प्रघनन तथा नियंत्रण भी करता है।

पर वे इस धारणा से भी मुक्त नहीं हो पाते कि "छंद, कुछ अंश तक, भाषा की असलियत से उसे अलग कर पूरी रचना को अवास्तविक सत्ता की अर्ध-चेतना से आवृत कर देता है।" इसलिए काव्य के पाठक को निरंतर यह अस्पष्ट बोध होता रहता है कि जो भाषा उसके सामने है वह जीवन के निकट होते हुए भी, छंद के कारण, जीवन से काफी दूर है।

वस्तुतः छंद के महत्त्व को वर्ड्सवर्थ उन्मुक्त भाव से स्वीकार कर नहीं पाये हैं। परंपरा और व्यक्तिगत धारणा का द्वंद्व न तो उन्हें खुलकर छंद की उपादेयता स्वीकार करने देता है और न अस्वीकार। इसीलिए कहीं-कहीं विवेचन में विसंगतियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ, भूमिका में एक स्थल पर वे कहते हैं कि "काव्य का आनंद बहुत थोड़ी मात्रा में ही छंद पर निर्भर करता है। इसलिए छंद में तब तक लिखना समीचीन नहीं है जब तक छंद की सामान्यतः सहवर्ती अन्य कृत्रिम विशेषताएं भी उसके साथ शैली में न हों।"[५]

पर थोड़ा ही आगे चलकर कहते हैं कि "भावों, आचारों अथवा चरित्रों के वर्णन यदि गद्य और पद्य में एक जैसे सफल-सुंदर बन पड़े हैं तो दोनों में जहां गद्य वाला एक बार पढ़ा जाएगा वहां पद्य वाला एक सौ बार।"[६] ये दोनों कथन परस्पर-विरोधी हैं। आखिर पद्य वाला वर्णन एक सौ बार क्यों पढ़ा जाएगा? छंद ही के कारण तो। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'काव्य का आनंद बहुत थोड़ी मात्रा में ही छंद पर निर्भर करता है', वदतोव्याघात हो जाता है।

मूल्यांकन

१. वर्ड्सवर्थ न तो आलोचक थे और न आलोचना के लिए उन्होंने आलोचना लिखी। उनके और कोलरिज के संयुक्त लेखकत्व में 'लिरिकल बैलड्स' में संगृहीत रचनाएं उद्देश्य-विशेष को ध्यान में रखकर—एक अभिनव प्रयोग की दृष्टि से—लिखी गयी थीं। प्रथम (१७९८ ई०) संस्करण की भूमिका अत्यंत संक्षिप्त थी किंतु 'बैलड्स' के प्रकाशन के बाद समीक्षकों-आलोचकों के आक्रमण के निराकरण के लिए तथा अपने दृष्टिकोण के विशदन के लिए वर्ड्सवर्थ को आलोचना लिखनी पड़ी जो 'बैलड्स' के द्वितीय (१८०० ई०) संस्करण के साथ प्रकाशित हुई। इसमें मुख्यतः तीन विषयों का समावेश था :

(क) १८वीं शती की रूढ़, कृत्रिम, अलंकृत काव्य-भाषा का खंडन;

(ख) गद्य और पद्य की भाषा का अभेद;

५. A very small part of the pleasure given by poetry depends upon the metre, and that it is injudicious to write in metre unless it be accompanied with the other artificial distinctions of style with which metre is usually accompanied.—PREFACE.

६. Of two descriptions, either of passions, manners, or characters, each of them equally well executed, the one in prose and the other in verse, the verse will be read a hundred times where the prose is read once.
—PREFACE.

(ग) काव्य-भाषा और सामान्य ग्रामीण भाषा (अर्थात् समाज के निम्न-मध्य वर्ग की भाषा) की एकात्मता।

प्रकारांतर से ये तीनों विषय प्रकृतिवाद (naturalism) के ही रूप-भेद हैं। वर्ड्सवर्थ कृत्रिमता के विरोधी और नैसर्गिकता के परिशंसक थे; बाह्य प्रकृति की सुषमा भी उन्हें इसीलिए प्रीतिकर थी। ये तीनों चीजें १८वीं शताब्दी के नव-आभिजात्यवाद या नव-शास्त्रवाद (Neo-classicism) के विरोध के रूप में उभरी थीं।

काव्य में बोलचाल की अर्थात् सामान्य व्यवहार की भाषा के प्रयोग को लेकर कवियों और आलोचकों में प्रायः मतभेद पाया जाता है। जॉन डॉन (१५७१-१६३१), जॉन ड्राइडेन (१६३१-१७००) और बीसवीं शताब्दी में इलियट (१८८८-१९६५) और एज़रा पाउंड (१८८५-१९७२) काव्य में बोलचाल की भाषा के ही समर्थक रहे हैं। काव्य-भाषा-विषयक यह मतभेद रुचि-भेद के कारण रहा है और इसका कोई अंतिम समाधान संभव भी नहीं है। वर्ड्सवर्थ का कथन एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रतिक्रिया थी। अपनी पूर्ववर्ती काव्यभाषा को उन्होंने दूषित (vicious), विकृत (distorted), सत्याभासी (glossy), भावहीन (unfeeling) आदि कहा और अपनी भाषा को 'स्वाभाविक'। यह उस ऐतिहासिक चक्र का आवर्तन है जिसमें स्वाभाविकता और कृत्रिमता का, अलंकरण और अनलंकरण का क्रम सदा चलता रहता है। यों, स्वयं वर्ड्सवर्थ की मान्यताओं में उत्तरोत्तर पर्याप्त परिवर्तन हुए और आगे चलकर सामान्य भाषा के प्रयोग का आग्रह एक प्रकार से उन्होंने छोड़ ही दिया। किंतु विडंबना यह रही कि उनकी मूल घोषणा को तो लोगों ने पकड़े रखा और बाद के परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया। जैसा हमने देखा है, बोलचाल की भाषा की बात उन्होंने केवल एक प्रयोग के रूप में उठायी थी; बाद में उन्होंने स्वयं अनुभव किया कि 'बैलड्स' की अधिकतर रचनाओं में उनका कथन अंशतः ही चरितार्थ है।

काव्य-भाषा के संबंध में उनका एक स्पष्ट प्रस्ताव यह भी था कि उसमें 'जीवंत संवेदन की स्थिति' (state of vivid sensation) होनी चाहिए।

२. नव-आभिजात्यवादी मान्यता के प्रतिकूल वर्ड्सवर्थ ने एक और मान्यता उपस्थापित की। नव-आभिजात्यवाद काव्य को सचेत तथा आयाससिद्ध व्यापार मानता था। वर्ड्सवर्थ ने काव्य को 'प्रबल भावों का सहज उच्छलन' कहकर उसकी अनायासता प्रतिपादित की। जहां तक सचेतता का प्रश्न है, उसका खंडन वर्ड्सवर्थ ने नहीं किया। यह इस बात से भी प्रमाणित है कि वे अपनी रचनाओं को बार-बार दुहराते और उनमें संशोधन-परिमार्जन करते रहते। उनका कहना था कि "अपनी प्रथम अभिव्यंजना को मैं प्रायः घृणास्पद मानता हूं; अधिकतर यही सत्य है कि द्वितीय विचारों के समान द्वितीय शब्द ही उत्तम होते हैं।"[७] उनके 'सहज उच्छलन' का तात्पर्य

७. My first expression I often find detestable; and it is frequently true of second words as of second thoughts, that they are best. —PREFACE.

इतना ही है कि कृत्रिम और अत्यलंकृत काव्य हेय है।

३. वर्ड्सवर्थ काव्य की सोद्देश्यता के पक्षधर हैं। उनके अनुसार, काव्य मनुष्य के मानसिक-नैतिक स्वास्थ्य तथा सुख का साधन है। काव्य का दूसरा उद्देश्य है 'मनुष्यों को झटका देकर रागात्मक उदासीनता से जगाना और संसार की वास्तविकता तथा रहस्य की ओर उन्मुख करना; समीचीन भाव एवं बोध को उद्दीप्त करना।' "कवि को भाव और ज्ञान के द्वारा मानव समाज के विराट् साम्राज्य को एक बंधन में बांधना चाहिए।...पाठकों में विनम्रता तथा मानवीयता का संचार करना चाहिए जिससे वे शुद्ध एवं परिष्कृत हो सकें।" यह विरेचन-सिद्धांत की ही एक अभिनव व्याख्या है। अरस्तू ने दुःखांतक के द्वारा करुणा और भय के विरेचन की बात कही थी; वर्ड्सवर्थ ने काव्य के द्वारा कृत्रिम और दूषित भाव के विरेचन की बात कही। "मनुष्य कृत्रिम संस्कार तथा सामाजिक दंभ की संकीर्णताओं से, घृणा तथा द्वेष से ग्रस्त है। काव्य इन संकीर्णताओं को दूर कर मानवीय संवेदन का विस्तार करता है और इस प्रकार मनुष्य के आनंद, गौरव एवं कल्याण का पथ प्रशस्त करता है।"

४. आरंभ में वर्ड्सवर्थ ने काव्य का महत्त्व भाव की दृष्टि से आंका था किंतु बाद में उपदेश का महत्त्व भी स्वीकार किया। उन्होंने यहां तक कहा कि "प्रत्येक महान् कवि शिक्षक होता है। मैं चाहता हूं कि या तो मैं शिक्षक समझा जाऊं या कुछ नहीं।"[८] "काव्य का उपयोग मनुष्य के अस्तित्व के ढांचे में सुधार के लिए होना चाहिए।" वे काव्य में आनंद के साथ नैतिकता का समन्वय आवश्यक मानते हैं।

५. कुछ आलोचकों के अनुसार, वर्ड्सवर्थ की 'भूमिका' अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। वर्ड्सवर्थ को जो सुधार अभिमत थे, उनमें इससे प्रचुर सहायता मिली। काव्य के स्वरूप, विषय, प्रयोजन तथा काव्य-प्रक्रिया के संबंध में 'भूमिका' ने बहुमूल्य एवं नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सबके ऊपर इसकी गंभीरता तथा आंतरिक अनुभूति की पकड़ ने ऐसी चर्चाओं का द्वार खोला।

ऊपर की समीक्षा से स्पष्ट है कि यद्यपि वर्ड्सवर्थ की आलोचना आकार में बड़ी नहीं है ('भूमिका' कुल ३० पृष्ठों की है); काव्य के अधिकतर पक्षों का उसमें निरूपण तो दूर, निर्देश तक नहीं है; विवेचन की सूक्ष्मता की भी कमी है; फिर भी, उसमें जो संकेत हैं, अथवा एक महाकवि की जो व्यक्तिगत अंतर्दृष्टियां हैं, उनके कारण उसका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है।

८. Every great poet is a teacher. I wish either to be considered as a teacher or as nothing. —PREFACE.

सैमुअल टेलर कोलरिज

[१७७२-१८३४ ई०]

स्वच्छंदतावादी (romantic) आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में वर्ड्सवर्थ और कोलरिज (Samual Taylor Coleridge) का युग्म प्रसिद्ध है। 'लिरिकल बैलड्स' उनके सख्य और सहलेखन का परिणाम है। वर्ड्सवर्थ केवल कवि थे किंतु कोलरिज कवि के साथ बहुज्ञ विद्वान् भी थे। उनका अध्ययन व्यापक ही नहीं, गंभीर भी था। दर्शन एवं मनोविज्ञान उनके प्रिय विषय थे[1] पर सामान्यत: वाङ्मयमात्र में उनकी रुचि और पैठ थी। कांट (१७२४-१८०४), फिश्टे (१७६२-१८१४), आउगुस्ट श्लेगेल (१७६७-१८४५), शेलिंग (१७७५-१८५४) जैसे जर्मन दार्शनिकों का उन्होंने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। इसलिए उनके लेखन में विषय के साथ प्रतिपादन का भी गांभीर्य है, जो प्राय: दुरूहता की सीमा छूने लगता है। दुरूहता का एक कारण और है। कोलरिज में व्यवस्था की बड़ी कमी थी। किसी काम को सुश्रृंखल ढंग से करना उनकी प्रकृति में था ही नहीं। बाद में अफीम का व्यसन हो जाने पर यह दोष और भी बढ़ गया। इसलिए न तो उनकी कारयित्री प्रतिभा का पूरा उपयोग हो पाया और न भावयित्री प्रतिभा का। उनकी कृतियों में बिजली की कौंध की तरह प्रतिभा की कौंध तो है पर प्रकाश की स्थिरता नहीं है।

कोलरिज की आलोचनात्मक कृतियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' (Biographia Literaria) है जिसका अर्थ है 'साहित्यिक जीवनी' किंतु न तो वह पूर्णत: साहित्यिक है, न पूर्णत: जीवनी। उसमें जीवनी, धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र, राजनीति, आलोचना आदि का ऐसा मिश्रण है कि उसमें से काम की चीजें निकालना आसान नहीं है। कोलरिज की दुरूहता की कल्पना इसी से की जा सकती है कि रिचर्ड्स के जैसे दुरूह लेखक को भी वह खटकती है।[2] फिर भी, विषय के अपेक्षित-अनपेक्षित जटिल विस्तार में छिपी संक्षिप्त उक्तियां इतनी सारगर्भ हैं कि उनसे प्रभावित न होना असंभव है।

कोलरिज की आलोचना के महत्त्व के संबंध में विद्वानों के विचार इतने परस्पर-

१. Metaphysics and psychology have long been my hobbyhorse.

२. But first a process of disentanglement must be gone through, for the disorder and complication of Coleridge's thought truly deserve their fame. Richards, I, A.; Coleridge on Imagination. —PREFACE, p. xii.

भिन्न, या यों कहें कि परस्पर-विरोधी हैं कि उनमें सामंजस्य-स्थापन कठिन है। एक ओर सेंटस्बरी सरीखे समादृत इतिहासकार यूरोपीय समालोचकों की दीर्घ परंपरा में अरस्तू और लोंगिनुस के बाद तीसरा स्थान कोलरिज को[३] ही देते हैं तो दूसरी ओर रेने वेलेक का कहना है कि कोलरिज के सिद्धांतों में जो कुछ भी रोचक या गंभीर है, वह जर्मन दार्शनिकों से उधार लिया हुआ है। "कोलरिज को कांट, शेलिंग, आउगुस्ट श्लेगेल के ऋण से मुक्त नहीं किया जा सकता, जिनसे उन्होंने वाक्यों का ढांचा ही नहीं, शब्दावली तक हूबहू ली है। कोलरिज को उन विचारों के लिए श्रेय देना असंभव प्रतीत होता है जिन्हें उन्होंने शब्दशः उद्धृत किया है।"[४] जर्मन दार्शनिकों का ऋण कोलरिज पर है अवश्य, पर उनमें मौलिकता का अभाव है, यह कहना अयुक्त है। दूसरों के विचारों को लेता कौन नहीं है पर लेने-लेने में फर्क है। एक लेना स्थूल, अनगढ़ होता है जो दूर से ही पुकार कर कह देता है कि "मैं दूसरे का हूं।" दूसरा लेना ग्रहीता की प्रतिभा से भावित होता है, उसके व्यक्तित्व के सांचे में ढला हुआ। उसमें परकीयत्व की प्रतीति होती ही नहीं। कोलरिज ने जो लिया है उसे बुद्धि की आंच में गलाकर अपना बना लिया है; और, अंग्रेजी साहित्य के संदर्भ में उसका विनियोग तो कोलरिज का निजस्व है ही। इसीलिए आर्थर साइमन्स ने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' को अंग्रेजी आलोचना की महत्तम कृति कहा है।

कोलरिज के अध्ययन की अनेक दिशाओं का रिचर्ड्स ने निर्देश किया है। "कोलरिज कवि, दार्शनिक, उपदेशक, राजनीतिशास्त्री तथा समालोचक थे।...वे प्रतिभा के निदर्शन थे, साथ ही रोगविज्ञान के उदाहरण भी; रीतिविधानी (methodologist) थे तो परम अव्यवस्थित भी। एक ओर ईश्वर के नशे में झूमने वाले, दूसरी ओर नशे की लत से लाचार। एक ओर अर्थविज्ञान में निष्णात तो दूसरी ओर शब्दाडंबर के शिकार। मानवीय विरोधाभास और जीवनी-लेखकों के लिए पहेली के रूप में उनपर काफी कुछ लिखा गया है। लोगों ने उनपर तरस खाया है, उनको ऊपर उठाया है, उनकी निंदा की है, उनका समर्थन किया है।"[५]

कोलरिज के इन अनेक रूपों में केवल एक रूप पर हमें यहां विचार करना है और वह है आलोचक का। सेन्ट्सबरी ने दो हजार वर्षों की लंबी अवधि में अरस्तू और

३. So, then, there abide these three, Aristotle, Longinus and Coleridge. —Saintsbury, G. E. B ; A History of English Criticism.—p. 340.

४. A residue of indebtedness cannot be eliminated. Coleridge used Kant, Schelling and A. W. Schlegel, reproducing the very pattern of sentences and the exact vocabulary. It seems impossible to give Coleridge credit for ideas simply quoted literally. —Rene' Wellek; A History of Modern Criticism : The Romantic Age. —p. 152.

५. That he was a poet, a philosopher, a preacher, and a political theorist as well as a critic...a genius and a pathological specimen; a methodologist and a muddler; a God-intoxicated man and a drug addict; a semasiologist and a victim of verbalism...He has been treated sufficiently often as a human contradiction and as a biographers' puzzle. He has been pitied and patronised, condemned and defended enough. Coleridge on Imagination; —PREFACE, p. xi.

लोंगिनुस के बाद कोलरिज को जो स्थान दिया है, वह बहुत दूर तक उचित है। वस्तुतः कोलरिज में प्रतिभा और ज्ञान का प्रभावी समन्वय है। इसलिए उनकी आलोचना में व्यवस्था का अभाव होने पर भी जो मौलिक, सूक्ष्म और गूढ़ संकेत हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके आलोचना-संबंधी सिद्धांतों का सांगोपांग, व्यवस्थित ढांचा तैयार करने के लिए 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के साथ उनके भाषण, स्फुट लेख, पत्र, टिप्पणियां आदि भी उपयोगी हैं।

कोलरिज प्रचलित अर्थ में न तो सैद्धांतिक आलोचक हैं और न व्यावहारिक। ऐसे उन्होंने शेक्सपियर और वर्ड्सवर्थ के काव्यगत उत्कर्षापकर्ष का जो विवेचन किया है उसे व्यावहारिक आलोचना का उत्तम मानक कहा जा सकता है किंतु कोलरिज का वह लक्ष्य नहीं है। शेक्सपियर की आलोचना भाषण के लिए लिखी गयी थी और वर्ड्सवर्थ की आलोचना कुछ तो उनका काव्य-सौंदर्य उद्घाटित करने के लिए और कुछ उनकी काव्य-संबंधी मान्यताओं से अपने व्यक्तिगत भेदों को स्पष्ट करने के लिए जो 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका में उभर कर सामने आयी थीं। सैद्धांतिक आलोचक कोलरिज को इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने आलोचना के न तो सिद्धांत निरूपित किये और न नियम बनाये, बल्कि सिद्धांत-निरूपण का खंडन ही किया। उनके अनुसार, "आलोचना का चरम उद्देश्य दूसरों की रचनाओं के मूल्यांकन के नियम-निर्धारण से कहीं अधिक लेखन (सर्जन) के सिद्धांतों का व्यवस्थापन है"[६]; हालांकि वे यह भी मानते हैं कि मूल्यांकन और सर्जन को एक-दूसरे से अलग करना संभव नहीं है। कोलरिज का मत है कि किसी काव्य को ठीक से समझने के लिए उसकी सर्जन-प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। आलोचक में काव्यात्मक अनुभूति को यथावत् हृदयंगम करने की क्षमता होनी चाहिए तभी वह सहानुभूतिपूर्वक उसका सम्यक् विश्लेषण कर सकेगा। जो स्वयं कवि नहीं है अर्थात् काव्य की सर्जन-प्रक्रिया से परिचित नहीं है, वह सफल आलोचक नहीं हो सकता क्योंकि उसकी पहुंच काव्य के बहिरंग तक ही संभव है। आलोचक के लिए सर्जन-प्रक्रिया के ज्ञान की बात कहकर कोलरिज ने एक ऐसा प्रश्न उठाया है जो मतभेद से रहित नहीं है। सर्जन-प्रक्रिया का ज्ञान आलोचक के लिए अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। उसके बिना भी आलोचक में काव्यात्मक अनुभूति को ग्रहण करने की क्षमता हो सकती है, होती है। वह क्षमता आलोचक में ही क्यों, सहृदय पाठक में भी होती है; तभी तो उसे काव्य से आनंद (रस) की अनुभूति होती है। अतः आलोचक या पाठक के लिए आवश्यक है सहृदयता, संवेदनशीलता, न कि सर्जन-प्रक्रिया का ज्ञान। यदि वह भी हो तो बहुत अच्छा, पर वह अनिवार्य नहीं है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र ने प्रमाता की सहृदयता पर बल दिया है।

जैववादी सिद्धांत (organic theory) कोलरिज की काव्य-संबंधी धारणा का एक

६. The ultimate end of criticism is much more to establish the principles of writing than to furnish rules how to pass judgement on what has been written by others. —B. L., p. 207.

प्रमुख आधार है। कोलरिज के पूर्व लॉक (१६३२-१७०४), हार्ट्ली (१७०५-१७५७) आदि दार्शनिकों ने मानसिक प्रक्रिया की व्याख्या साहचर्यवादी सिद्धांत (associationist theory) के द्वारा की थी, जिसमें यांत्रिकतावादी सिद्धांत (mechanistic theory) भी समवेत है। कोलरिज ने इनका खंडन कर **जैववादी** सिद्धांत (organic theory) की स्थापना की। यांत्रिक और जैव (आंगिक) सिद्धांत में मूल भेद यह है कि **यांत्रिकतावादी सिद्धांत** खंडों के योग से पूर्ण की रचना सिद्ध करता है; जैसे, घड़ी या कार के पुर्जे पहले अलग-अलग बना लिये जाते हैं; फिर, कोई यांत्रिक (mechanic) उन्हें जोड़कर घड़ी या कार तैयार कर देता है, जिसमें बिना चेतना के भी काम करने की क्षमता होती है। इसी तरह मनुष्य का मन यांत्रिक रूप में संवेदनाओं का ग्रहण और संचय कर स्मृतियों तथा बिंबों के योग से काव्य की रचना करने में समर्थ होता है। चूंकि कोलरिज प्रत्ययवादी (idealist) हैं, इसीलिए अचेतन यांत्रिकता के बदले चेतना की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी प्रधान कल्पना (primary imagintion) और गौण कल्पना (secondary imagination), दोनों चेतनामूलक हैं और काव्य-सृष्टि के लिए अनिवार्य हैं। **जैववाद** में खंड और योग के बदले वस्तुओं का अंगांगिभाव संबंध होता है अर्थात् अंगी तथा अंगी की साथ-साथ उत्पत्ति होती है, साथ-साथ विकास होता है, साथ-साथ पोषण होता है। मनुष्य या वृक्ष का उदाहरण ले लें तो बात स्पष्ट हो जाएगी। ऐसा नहीं होता कि मनुष्य के हाथ, पैर, पीठ, पेट, आंख, कान आदि अंग पहले अलग-अलग गढ़ लिए जाएं और बाद में उन्हें घड़ी या कार के पुर्जों की तरह जोड़कर मनुष्य का निर्माण किया जाए। हाथ-पैर आदि (अंग) मनुष्य (अंगी) के साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही बढ़ते हैं और साथ ही पोषण को आत्मसात् करते हैं। यही हाल वृक्ष का भी है। बीज से तना, टहनियां, पत्ते साथ निकलते हैं, साथ बढ़ते हैं, साथ रसग्रहण करते हैं। काव्य की सृष्टि इसी ढांचे पर होती है। उसमें भाव, शब्द, अर्थ, बिंब, अलंकार, छंद आदि अलग से या आगे-पीछे नहीं जुड़ते। उनके सहभाव से ही काव्य की सृष्टि होती है। ऐसा नहीं कि किसी कवि ने पहले शब्द-अर्थ जोड़ लिए और बाद में उन पर बिंब का मुलम्मा चढ़ा दिया या अलंकार छींट दिए। काव्य के सभी उपादान जैव रूप में सहवर्ती हैं, यांत्रिक नहीं। कुंतक जब कहते हैं कि "अवयव-रहित संपूर्ण की ही काव्यता है; तात्पर्य कि अलंकारयुक्त ही काव्य है, काव्य में (अलग से) अलंकार का योग नहीं होता,"[७] तो वह जैववादी सिद्धांत का ही पूर्वाभास है। क्रोचे ने अंतःप्रज्ञा (intuition) और अभिव्यंजना (expression) का अभेद बताकर प्रकारांतर से यही बात कही है। भारतीय काव्यशास्त्र में कुछ आचार्यों ने शरीर के रूपक द्वारा काव्य को स्पष्ट करने के प्रयास में कटक-कुंडलादि[८] से साम्य बताकर अलंकार का जो बाह्यत्व प्रतिपादित

७. 'सकलस्य निरस्तावयवस्य काव्यता, तेन अलङ्कृतस्य काव्यत्वम् इति स्थितिः, न पुनः काव्यस्य अलङ्कार-योगः।' —कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, प्रथमोन्मेष, कारिका ६ की वृत्ति।
८. 'अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्।' —कविराज विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

किया, उससे अलंकार आरोपित धर्म माना जाने लगा परंतु वस्तुतः वह काव्य का उतना ही आंतरिक और अविच्छेद्य धर्म है जितना गुण।

कोलरिज के अनुसार काव्य की या कलामात्र की उत्पत्ति भाव की तीव्रता से होती है किंतु भाव अकेले ही पर्याप्त नहीं है; वह संवेदनों के साथ मिलकर काम करता है। संवेदन का अर्थ है अनुभूतियों को ग्रहण करने की क्षमता। इस प्रकार अनुभूति, संवेदन और भाव का त्रैत कला का जनक है। भाव में तीव्रता या उत्तेजना कैसे आती है, इसका कोई संतोषप्रद समाधान नहीं है। कलाकार के मन में किन्हीं अज्ञात कारणों से भाव उद्दीप्त या आंदोलित हो उठता है और अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ़ता है। अभिव्यक्ति के मार्ग-भेद से ही कलाओं का भेद होता है, जैसे किसी की भावाभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है, किसी की तूलिका के माध्यम से, किसी की स्वरों के माध्यम से जिसे क्रमशः काव्य, चित्र या संगीत कहते हैं। कलाओं के भेद का आधार तो माध्यम है परंतु उनके अभेद का आधार भाव है अर्थात् भाव सब में अंतर्निहित रहता है और वही उनमें कलात्मकता लाता है। भाव की उद्दीप्ति के अनिर्वचनीय कारण को ही अंतःप्रेरणा (inspiration) की संज्ञा दी गयी है। अंतः-प्रेरणा की स्थिति में सर्जक (कलाकार) को अपने व्यक्तित्व के पार्थक्य का बोध नहीं रह जाता और कल्पना के द्वारा कला की विषय-वस्तु, रूप और माध्यम से उसका तादात्म्य हो जाता है। अंतःप्रेरणा का सिद्धांत कला की आत्मिक (spiritual) विशेषता की ही व्याख्या नहीं करता बल्कि यह भी प्रकट करता है कि कला के द्वारा संप्रेष्य आनंद या आह्लाद भी आत्मिक अनुभूति है।

काव्य की सर्जन-प्रक्रिया चेतन व्यापार नहीं है। "प्रतिभा में ही अचेतन प्रक्रिया रहती है; नहीं, प्रतिभाशाली मनुष्य की वही प्रतिभा है।"[१] किंतु रचना के उपक्रम के लिए प्रयोजन की कुछ धारणा आवश्यक है। वह धारणा चरितार्थ हो भी सकती है और नहीं भी, क्योंकि काव्य-रचना के क्रम में प्रतिभा को आत्मचेतना नहीं रहती; उस समय वह निर्माण करने वाली कल्पना-शक्ति के अधिकार में रहती है। काव्य की विषयवस्तु के संबंध में कोलरिज की निस्संदिग्ध मान्यता है कि वह सर्वथा अवैयक्तिक होनी चाहिए; कवि की व्यक्तिगत अभिरुचियों तथा परिस्थितियों से दूरवर्ती विषय का चयन प्रतिभा की पहचान है। "व्यक्तिगत जीवन जीवनी-लेखक के लिए उपयोगी है, कवि के लिए नहीं।" अवैयक्तिकता सर्जन-कला का एक विशिष्ट अंग है क्योंकि उसीसे काव्य में सर्वजनीनता आती है अन्यथा काव्य बिलकुल व्यक्ति-सापेक्ष वस्तु बनकर रह जाएगा और उसका साधारणीकरण नहीं हो सकेगा। साधारणीकरण के लिए आवश्यक है कि काव्य का विषय अवैयक्तिक हो। चूंकि सर्वजनीन भावों की अर्थात् सामान्य (universal) की अभिव्यक्ति किसी माध्यम से संभव नहीं है, इसीलिए काव्य में प्रतीक-योजना और व्यंजना वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। प्रतीक सामान्य (universal) को विशेष (particular) में ढालकर

१. There is in genius itself an unconscious activity, nay, this is the genius in a man of genius.—B. L.

अनुभव-गम्य बनाता है और व्यंजना भाषा की नैसर्गिक अक्षमता को दूर कर अनंत, रमणीय अर्थवत्ता के द्वार खोल देती है। कोलरिज की व्यंजना (suggestion)-संबंधी धारणा और भारतीय काव्यशास्त्र की व्यंजना-संबंधी धारणा के साम्य को देखकर आश्चर्य होता है। अंतर यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र की धारणा अधिक व्यापक और सूक्ष्म है। कोलरिज का कहना है कि व्यंजना की महिमा के कारण ही कोई उत्तम काव्य बार-बार पढ़ने पर भी नीरस नहीं लगता क्योंकि उससे हर बार नयी छटा की, नये सौंदर्य की प्रतीति होती रहती है।

कोलरिज कला के अंतर्निहित मूल्य (intrinsic value) के समर्थक हैं। उनका कहना है कि कला जिस सौंदर्य को रूपायित करती है उसमें उपयोगिता और शिवत्व ढूंढ़ना बेमानी है। सौंदर्य-भावना अंत:प्रेरित या आंत:प्रज्ञ (intuitive) होती है और उसका काम है आनंद प्रदान करना, जो (आनंद) लौकिक लाभ से पृथक्, रहित और बहुत बार विपरीत भी हो सकता है। तात्पर्य कि किसी कलाकृति का मूल्य उसकी कलात्मकता में ही है, उसके बाहर नहीं। 'कला कला के लिए' सिद्धांत का इसे पूर्वरूप कह सकते हैं। कोलरिज के अनुसार, कविता की परिभाषा :

"कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका **तात्कालिक** प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं; और रचना के अन्य सभी प्रकारों से उसका अंतर यह है कि **संपूर्ण** से वही आनंद प्राप्त होना चाहिए जो उसके प्रत्येक घटक खंड (अवयव) से प्राप्त होने वाली स्पष्ट संतुष्टि के अनुरूप हो।"[१०]

कविता की इस परिभाषा में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं : एक तो यह कि कविता का मूल प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं। सत्य का समर्थन करने वाली पहले से चली आती हुई परंपरा का खंडन कर आनंद को परम प्रयोजन बताना कोलरिज की उस प्रवृत्ति का प्रतिफलन है जो स्वच्छंदतावादी (romantic) आंदोलन का जनक है। पर साथ ही ध्यान देने की बात यह भी है कि काव्य के प्रयोजन का प्रश्न उठाकर कोलरिज नव-आभिजात्यवादी (neo-classic) आलोचकों की पंक्ति में आ जाते हैं और काव्य-रचना को भावों का सहज उच्छलन (spontaneous overflow) मानने के बदले सुविचारित कला (deliberate art) प्रतिपादित करते हैं।[११] इस परिभाषा में उस जैव सिद्धांत का भी सन्निवेश है जिसे कोलरिज बार-बार दुहराते हैं। उनका कहना है कि संपूर्ण कविता से मिलने वाला आनंद उसके प्रत्येक खंड या अवयव से भी मिलना चाहिए। यह स्थापना कविता को उपन्यास, नाटक आदि अन्य विधाओं

१०. A poem is that species of composition, which is opposed to works of science, by proposing for its **immediate** object pleasure, not truth; and from all other species it is discriminated by proposing to itself such delight from the **whole** as is compatible with a distinct gratification from each component part.—B. L ; p. 164.

११. By defining a poem as a means to an 'object', 'purpose' or 'end', (terms which he employs as synonyms), Coleridge quite in the tradition of neo-classic criticism, establishes the making of poems to be a deliberate art, rather than the spontaneous overflow of feeling.

—Abrams, M. H.; The Mirror and the Lamp; p. 117.

से अलग कर देती है। उपन्यास से शब्द क्या, एक अनुच्छेद भी हटा दें तो कोई हानि नहीं होगी, पर उत्तम काव्य में तो शब्द का स्थान तक नहीं बदला जा सकता। कविता-विषयक यह धारणा कोलरिज के स्कूल के शिक्षक जेम्स बोयर ने छुटपन में ही उनके मन पर अंकित कर दी थी जिसे कोलरिज ने सोल्लास बायोग्राफिया में उद्धृत किया है। बोयर का कहना था कि जो "वस्तुतः महान् कवि हैं उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द ही नहीं, बल्कि उसका स्थान भी सकारण हुआ करता है।"[१२] गुरुप्रदत्त यह पाठ कोलरिज में संस्कार बन गया और आश्चर्य नहीं कि काव्य-विषयक उनका जैव सिद्धांत इसीसे प्रस्फुटित हुआ हो या कम से कम पुष्ट हुआ हो। कोलरिज ने बहुत ही आदर और आभार के साथ बायोग्राफिया के प्रथम अध्याय में अपने बचपन के साहित्य-गुरु को स्मरण किया है और कहा है कि उन्होंने मेरी रुचि गढ़ी है। भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित व्यंजना-वृत्ति से परिचित पाठक कोलरिज की शब्द-संबंधी उपर्युक्त स्थापना के **स्वारस्य** से सहमत होंगे।

कोलरिज के अनुसार, काव्य क्या है, यह प्रश्न बहुत कुछ इस प्रश्न से अभिन्न है कि "कवि कौन है?" क्योंकि एक का उत्तर दूसरे के उत्तर में निहित है और उसका संबंध कवि-प्रतिमा से है क्योंकि प्रतिभा ही कवि के मन के भावों, विचारों और बिंबों को पुष्ट एवं रूपांतरित करती है। मौलिक कवि-प्रतिभा के निम्नलिखित लक्षण हैं :

१. प्रतिभा का पहला लक्षण है, काव्य-बंध का **उत्कृष्ट माधुर्य**। "जिस मनुष्य की आत्मा में संगीत नहीं है, वह कभी सच्चा कवि नहीं हो सकता।" जिसमें प्रज्ञा (talent) या अध्ययन है, वह सतत प्रयत्न द्वारा प्रकृति अथवा पुस्तकों से बिंबविधान का शिल्प तो सीख सकता है पर वह साधन को ही साध्य समझने की भूल करता रहेगा। कविगत सांगीतिक आनंद की चेतना, जो पाठक में भी अपने को जागृत करने में समर्थ हो, कल्पना की देन है। इसमें परिष्कार या सुधार तो लाया जा सकता है किंतु इसे सीखा कभी नहीं जा सकता। इसलिए कहावत है कि "कवि उत्पन्न होते हैं, निर्मित नहीं होते।"

२. प्रतिभा का दूसरा लक्षण है लेखक की निजी रुचियों तथा परिस्थितियों से सर्वथा दूरवर्ती विषयों का चयन। तात्पर्य कि कवि जिन भावों का चित्रण कर रहा हो वे उसके अपने भावों से पूर्णतः पृथक् हों। जहां विषय लेखक के तात्कालिक व्यक्तिगत संवेदनों तथा अनुभूतियों से लिया जाता है, वहां काव्योत्कर्ष बाधित होता है। इलियट का अवैयक्तिकता का सिद्धांत कोलरिज के इस विचार से तुलनीय है।

३. सुंदर से सुंदर बिंब अपने-आपमें कवि का वैशिष्ट्य नहीं सूचित करते। वे मौलिक प्रतिभा के प्रमाण तभी बनते हैं जब भाव की तीव्रता से उद्दीप्त होते हैं। भावोद्दीप्त बिंब ही कल्पना को जगाकर संबद्ध विचारों और बिंबों में एकात्मता लाते हैं। उदाहरणार्थ, पद्माकर के निम्नलिखित दोहे में सांग रूपक के आधार पर बिंबों

१२. In the truly great poets···there is a reason assignable not only for every word but for the position of every word.—B. L.; p. 4.

का जमघट लगा है, पर भाव का अभाव होने से सारे बिंब निष्प्राण लगते हैं :

चख झख, बाल सेवार, मुख सरसिज, गमन मराल।
छवि तरंग, पानिप सलिल, बाल मानसर ताल ॥

—यह बाला (नायिका) मानसरोवर है, जिसमें चक्षु मीन (झख), बाल सेवार, मुख कमल, गमन हंस (मराल), सौंदर्य लहर तथा क़ांति जल है। इस प्रकार नायिका और मानसरोवर में बिंबों की सहायता से कवि ने अभेद तो प्रतिपादित कर दिया है पर सौंदर्य की कोई अनुभूति भी हो रही है ? रूढ़ उपमानों को इकट्ठा कर देना ही कवि-कर्म नहीं है; उनमें व्यंजकता भी होनी चाहिए। इस दोहे में तो प्रधान आरोप ही (बाला में मानसर का) अयुक्त है। उपमेय और उपमान में कुछ तो साम्य होना चाहिए। नायिका और मानसरोवर में न तो रूपगत साम्य है, न धर्मगत और न प्रभावगत। जहां साम्य भी नहीं, वहां अभेद की बात कहां उठती है ? इसलिए कोलरिज का कथन कि भाव-संवलित बिंब ही काव्य में उपयोगी हैं, सर्वथा संगत है।

४. प्रतिभा का अंतिम लक्षण है विचार की गंभीरता तथा **ऊर्जस्विता** (energy)। कोई भी व्यक्ति बिना गंभीर दार्शनिक हुए महान् कवि नहीं हुआ क्योंकि काव्य समस्त मानव ज्ञान, विचार, भाव, मनोवेग और भाषा का पुष्प और सौरभ है। उदाहरणार्थ, "शेक्सपियर में सर्जनात्मक शक्ति और बौद्धिक ऊर्जा द्वन्द्वयुद्ध में निरत-सी प्रतीत होती हैं और लगता है कि वे अपने बलातिरेक से एक-दूसरी को मिटा देंगी। ऐसा इसलिए नहीं कि शेक्सपियर प्रेरणा के कोई निष्क्रिय माध्यम हों अथवा किसी अलौकिक शक्ति से अनुप्राणित हों, बल्कि इसलिए कि उन्होंने तब तक धैर्य से अध्ययन किया, गंभीरता से मनन किया, सूक्ष्मता से अवगम किया, जब तक ज्ञान उनके अभ्यास और अंतःप्रज्ञा (intuition) का अंग न बन गया।" स्पष्ट है कि कोलरिज प्रतिभा के साथ अध्ययन, मनन, अवगम (बोध) और अभ्यास का महत्त्व स्वीकार करते हैं, जो भारतीय काव्यशास्त्र के हेतुत्रितय—प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास—से समरूप हैं। अध्ययन, मनन और अवगम, ये तीनों व्युत्पत्ति में अंतर्भुक्त हैं।

प्रतिभा (genius) और प्रज्ञा (talent) में कोलरिज के अनुसार निम्निलिखित अंतर हैं :

(क) प्रतिभा **सहज** अर्थात् जन्मजात होती है; प्रज्ञा **अर्जित**।

(ख) प्रतिभा का **कल्पना** (imagination) से अभेद है और प्रज्ञा का **रम्य-कल्पना** (fancy) से; तात्पर्य कि प्रतिभा के साथ कल्पना का संबंध है और प्रज्ञा के साथ रम्यकल्पना का।

(ग) प्रतिभा में **सर्जनशीलता** है, अर्थात् नवनिर्माण की क्षमता है; प्रज्ञा में **संयोजनशीलता** है, अर्थात् स्वतंत्र, निरपेक्ष वस्तुओं को केवल एकसाथ प्रस्तुत करने की क्षमता है।

(घ) प्रतिभा **आत्म-निर्भर** होती है; निर्माण के लिए उसे किसी की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती, परंतु प्रज्ञा दूसरों के ज्ञान को अपनाकर उसका उपयोग करती है। दूसरे शब्दों में कहें कि प्रतिभा **मौलिक** होती है और

प्रज्ञा पराश्रित। कोलरिज द्वारा निरूपित प्रतिभा भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित प्रतिभा से प्रायः एकरूप है और प्रज्ञा व्युत्पत्ति (निपुणता) से।

कोलरिज का कहना है कि "काव्य सबसे अधिक आनंद तभी देता है जब वह केवल सामान्यतः समझ में आए, पूर्णतः नहीं।"[१३] काव्य कुछ-कुछ समझ में आए तो अधिक आनंद और पूरी तरह समझ में आए तो कम आनंद! बात कुछ अजीब-सी लगती है, पर शायद है संगत। काव्य पढ़ते समय पाठक की अनुभूति उसे जिस मनः-स्थिति में पहुंचा देती है वह बहुत कुछ अनिर्वचनीय होती है। कोलरिज का कहना है कि कवि काव्य की सृष्टि नहीं करता, स्वयं काव्य बन जाता है।[१४] ऐसी स्थिति में कवि की अनुभूति के साथ पाठक की अनुभूति का तादात्म्य क्या समग्रतः संभव है? दो व्यक्तियों के संस्कार, परिवेश, संवेदनशीलता आदि में भेद के कारण उनकी अनुभूति का स्तर एक हो ही नहीं सकता। अतः जितने अंश में अनुभूति का तादात्म्य होगा, आनंद उतना ही प्राप्त होगा। दूसरे, कवि के लिए अपनी अनुभूति का पूर्ण संप्रेषण भी अशक्य है चूंकि भाषा में इतनी शक्ति नहीं है कि वह अनुभूति को यथावत् अभिव्यक्त कर दे। तात्पर्य कि कवि, पाठक और संप्रेषण, तीनों ही अनुभूति के तादात्म्य में बाधक हैं। एक बात और। सौंदर्य का आकर्षण कुछ तो उसके प्रकट होने में है और कुछ प्रच्छन्न होने में। इसीलिए चांदनी अधिक लुभावनी होती है; उसमें न तो दिन के प्रकाश की प्रखरता (अनावरणशीलता) है और न रात्रि के अंधकार की निविड़ता (निगूहनशीलता)। कोलरिज की इस धारणा का समर्थन संस्कृत काव्यशास्त्र में भी मिलता है। व्यंग्य अर्थ की अस्फुटता (अस्पष्टता) जितनी अवांछनीय है, उतनी ही स्फुटता (स्पष्टता) भी। स्पष्टता-अस्पष्टता के धूपछांही या झीने आवरण में ही काव्य की रमणीयता खिलती है। एक कवि ने बड़े ही काव्यात्मक ढंग से इसका वर्णन किया है: काव्यार्थ न तो आंध्र रमणियों के पयोधरों के समान पूरा खुला शोभता है और न गुर्जर रमणियों के पयोधरों के समान पूरा ढका। वह तो महाराष्ट्र-रमणियों के पयोधरों के समान कुछ खुला और कुछ ढका हो तभी सुंदर लगता है।[१५]

"लंबी कविता समग्र रूप में न तो काव्य हो सकती है और न होनी चाहिए।"[१६] कोलरिज की यह उक्ति उस रोमांटिक प्रवृत्ति का उद्गार है जिसमें प्रगीत (लिरिक) का प्राधान्य होता है। लगभग तीस वर्ष बाद अमेरिकी कवि एडगर एलेन पो ने (जो काव्य और समालोचना दोनों में कोलरिज से प्रभावित थे) एक कदम आगे बढ़कर कहा कि "लंबी कविता होती ही नहीं।"[१७] यह कथन अंशतः ठीक भी है और गलत

१३. Poetry gives most pleasure when only, generally understood and not perfectly. —B. L.; p 333.

१४. A poet does not create but becomes. —B. L.

१५. नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशः नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्ट—वधूकुचाभः॥

१६. A poem of any length neither can be, nor ought to be, all poetry. —B. L.; p. 165.

१७. A long poem does not exist. —Poe, E.A.

भी। भाव के उच्छलन को काव्य मानने वाले कवि-वर्ग की दृष्टि से यह कथन ठीक है क्योंकि उच्छलन स्थायी नहीं होता; अतः वह दीर्घव्यापी भी नहीं होगा। जैसे-जैसे भाव का वेग क्षीण होगा वैसे-वैसे काव्यत्व भी क्षीण होता जाएगा। इसलिए स्वच्छंदतावाद के अनुसार काव्यत्व की सत्ता प्रगीत (छोटी कविता) में ही उपपन्न होती है। किंतु प्रश्न है कि प्रगीत का आकार क्या माना जाए? प्रगीत चार पंक्तियों का भी हो सकता है और चार सौ पंक्तियों का भी और सभी पंक्तियों में समान काव्यत्व अर्थात् चमत्कार हो, यह असंभव है क्योंकि भाव-दीप्ति की मात्रा, जिससे कविता कविता कहलाती है, लंबी रचना में आरंभ से अंत तक कायम नहीं रखी जा सकती। सच तो यह है कि उत्कृष्टतम प्रगीत की भी सभी पंक्तियां एक-सी रमणीय नहीं होतीं। तो जैसे उनमें काव्यत्व स्वीकार करते हैं, वैसे प्रबंध (लंबी कविता) में भी कर सकते हैं। वस्तुतः काव्यत्व का संबंध कविता के आकार से उतना नहीं है जितना कवि की प्रतिभा से। प्रगीतकार भी यदि प्रतिभाहीन है तो उसकी रचना में कोई सौंदर्य नहीं होगा और प्रबंधकार भी यदि प्रतिभासंपन्न है तो उसमें सौंदर्य की कमी नहीं होगी। कौन कहेगा कि किसी भी प्रगीत से रामचरितमानस या कामायनी का काव्यत्व कम है? पो ने कोलरिज की सामान्य उक्ति को अतिवादी सीमा तक पहुंचा दिया है। कोलरिज लंबी कविता के विरोधी नहीं हैं; उन्होंने स्वयं मिल्टन के महाकाव्य 'पैरडाइज़ लॉस्ट' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कविता के विस्तार का प्रश्न उठाकर वे केवल यह कहना चाहते हैं कि उत्तेजना की जो शक्ति छोटी कविता में है, वह बड़ी कविता में कष्टसाध्य है।

काव्य की शैली के संबंध में कोलरिज का यह कथन विशेष ध्यातव्य है: "अपने सारे अध्ययन और मनन के फलस्वरूप मैंने दो आलोचनात्मक सूत्र तैयार किये हैं जिनमें काव्यशैली की विशेषताएं और मानदंड गतार्थ हो जाते हैं। एक तो यह कि वही कविता वास्तविक शक्ति से संपन्न और अनिवार्य काव्य की संज्ञा से अभिहित होने के योग्य है जिसे हमने केवल पढ़ा-भर नहीं है बल्कि जिसे हम अधिकतम आनंद के साथ फिर पढ़ना चाहते हैं। दूसरा यह कि जो पंक्तियां अर्थ, साहचर्य अथवा उपयुक्त भाव की सार्थकता में बिना कोई कमी लाये, उसी भाषा के दूसरे शब्दों में अनूदित (अभिव्यक्त) हो सकती हैं, वे उतनी मात्रा में शब्द-चयन की दृष्टि से सदोष हैं।"[१८] कोलरिज ने अपनी चक्करदार शैली में जो दो सूत्र प्रस्तुत किये हैं उनका सीधा-सादा तात्पर्य यह है कि (१) उत्तम काव्य वह है जो कभी पुराना नहीं पड़ता, जिसे हम बार-बार पढ़ना चाहते हैं; और (२) काव्य में वैसे शब्दों का प्रयोग

१८. As the result of all my reading and meditation, I abstracted two critical aphorisms, deeming them to comprise the conditions and criteria of poetic style;—first, that not the poem which we have read, but that to which we return, with the greatest pleasure, possesses the genuine power, and claims the name of essential poetry;—secondly, that whatever lines can be translated into other words of the same language, without diminution of their significance, either in sense or association, or in any worthy feeling, are so far vicious in their diction.
—B. L.

सदोष मानना चाहिए जिन्हें अर्थ में परिवर्तन किये बिना परिवर्तित किया जा सके। सत्कवि की पहचान यह है कि वह काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो अभीष्ट अर्थ की अभिव्यंजना के लिए अनिवार्य हों; तात्पर्य कि वह अर्थ किसी अन्य पर्याय से अभिव्यक्त हो ही नहीं सके। कोलरिज के शब्दप्रयोग-संबंधी दूसरे सूत्र में उनके गुरु की शिक्षा की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है जिसे हम ऊपर देख आये हैं। आचार्य कुंतक का भी कहना है कि किसी भी अर्थ का वाचक कोई एक ही शब्द होता है; कवि को उसकी तलाश करनी चाहिए। पर्याय वस्तुतः सतही तौर पर ही एकार्थक होते हैं, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनका अर्थगत पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। जो इस तथ्य को नहीं समझते वे किसी भी पर्याय का प्रयोग कर संतुष्ट हो जाते हैं।

भाषा के संबंध में कोलरिज ने एक बड़ी अच्छी बात कही है। "भाषा मानव-मन का शस्त्रागार है, जिसमें उसके अतीत के विजय-स्मारक और भावी विजय के शस्त्र एक साथ रहते हैं"; अर्थात् अतीत के प्रयोगों के आधार पर भाषा की भंगिमाओं, छटाओं, क्षमताओं तथा स्वारस्यों का ज्ञान होता है और उस ज्ञान से संपन्न प्रयोक्ता अपने सार्थक, समीचीन, विशिष्ट प्रयोगों से भावी भाषा को समृद्ध कर यशोभागी बनता है।

काव्य में छंद की उपादेयता के संबंध में वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि वह अनिवार्य नहीं है और इसे उन्होंने अतिवादी छोर तक पहुंचा दिया जब कहा कि "गद्य और छंदोबद्ध रचना में न तो कोई अनिवार्य भेद है और न हो सकता है।"[१९] वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा-संबंधी मान्यताओं का जैसे कोलरिज ने विस्तृत खंडन किया है वैसे ही छंदसंबंधी मान्यताओं का भी, और उपसंहार करते हुए वर्ड्सवर्थ के समान ही जोरदार ढंग से कहा है कि "गद्य और छंदोबद्ध रचना में अनिवार्य भेद हो सकता है, है और होना चाहिए।"[२०]

छंद की अनिवार्यता का समर्थन करते हुए कोलरिज ने मुख्यतः छंद की उत्पत्ति तथा छंद के प्रभाव का निरूपण किया है। छंद की उत्पत्ति वे मानसिक संतुलन से मानते हैं। उनका कहना है कि "भाव के उद्वेलन को नियंत्रण में रखने के लिए सहज प्रयास द्वारा जो मानसिक संतुलन आता है उसी से छंद की उत्पत्ति होती है।"[२१] किंतु कुछ ही आगे चलकर वे छंद का अस्तित्व बढ़ी हुई उत्तेजना की अवस्था से जोड़ते हैं।[२२] ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं। संतुलन और उत्तेजना का अंतर्निहित विरोध कोलरिज को खुद खटकता है और वे समाधान का प्रयास भी करते हैं किंतु

१९. There neither is nor can be any essential difference between the language of prose and metrical composition. —B. L.; p. 192.

२०. There may be, is and ought to be an essential difference between the language of prose and metrical composition. —B. L.; p. 201.

२१. First origin of metre, This I would trace to the balance in the mind effected by that spontaneous effort which strives to hold in check the workings of passion. —B. L.; p. 196.

२२. The elements of metre owe their existence to a state of increased excitement. —B. L.; p. 196.

समाधान संतोषप्रद हुआ है नहीं। छंद के प्रभाव की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि छंद "सामान्य भावों के साथ अवधान की जीवंतता एवं संवेदनशीलता को बढ़ाने का साधन है।"[२३] यह प्रभाव विस्मय की सतत उत्तेजना के साथ उत्सुकता की निवृत्ति एवं जागृति की आशुभावी पारस्परिकता से उत्पन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह कि छंद विस्मय को लगातार उत्तेजित किए रहता है और बारी-बारी से उत्सुकता को शांत और जागृत करता रहता है। इसीलिए गद्य की तुलना में छंदोबद्ध रचना ध्यान को एकाग्र तथा भाव को दीप्त रखने में अधिक समर्थ है।

कल्पित कथानक से आनंद-प्राप्ति कैसे होती है, इस प्रश्न का समाधान कोलरिज ने यह कहकर किया है कि उतनी देर के लिए पाठक या प्रेक्षक के मन में 'अविश्वास' का स्थगन' (suspension of disbelief) हो जाता है। कल्पित कथानक वाले उपन्यास को पढ़ते या नाटक को देखते समय पाठक/प्रेक्षक को यह ज्ञात रहता है कि वह जो पढ़ या देख रहा है, वह मिथ्या है, और मिथ्यात्व की प्रतीति से रस (आनंद) के बदले विरसता उत्पन्न होनी चाहिए; फिर भी उसमें आनंद आता है। ऐसा कैसे होता है? कोलरिज का कहना है कि मनुष्य जितनी देर उपन्यास पढ़ता है या नाटक देखता है उतनी देर के लिए उसके 'अविश्वास का स्थगन' हो जाता है और इस प्रकार वह कल्पित को भी यथार्थ, मिथ्या को भी सत्य मानकर उससे आनंद उठाता है। कोलरिज के अनुसार यह 'काव्य-सत्य' है। पर 'अविश्वास का स्थगन' होता ही कैसे है, इस पर कोलरिज ने कुछ नहीं कहा। 'अविश्वास का स्थगन' साधारणीकरण का ही एक पहलू है जिसका भारतीय काव्यशास्त्र में विशद विवेचन हुआ है।

काव्य-विधा के संबंध में कोलरिज का कहना है कि किसी विधा का निर्धारण अर्थात् रचनाकार किस विधा में लिखे, यह अनेक बातों पर निर्भर करता है; जैसे, रचनाकार की प्रकृति, इच्छा, रुचि, शक्ति आदि; अथवा रचना का देश, काल, परिस्थिति, प्रयोजन आदि। मैथिलीशरण गुप्त ने न उपन्यास की रचना की और न प्रेमचंद ने महाकाव्य की। एक बात और ध्यान देने की है कि कोई रचना सामान्य रूप से ही किसी विधा के अंतर्गत आती है, अन्यथा उसका अपना पृथक् वैशिष्ट्य हुआ करता है। प्रत्येक रचना का अपना 'व्यक्तित्व' होता है और वह अपने ही नियमों से निर्देशित होती है। प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी, तीनों महाकाव्य हैं पर महाकाव्य की सामान्य संज्ञा के अतिरिक्त इनमें और क्या साम्य है? कहने को चंद्रकांता, गोदान और शेखर, तीनों उपन्यास हैं पर एक-दूसरे से कितने भिन्न? आलोचक का काम उसी भिन्नता या विशिष्टता को उजागर करना है; केवल विधा का नाम ले लेना काफी नहीं है। विधा का निर्धारण काव्य-वस्तु से भी होता है। "काव्य सदा भाव-प्रेरित होता है। भाव का अर्थ है अनुभूति या मानसिक ऊर्जा की उत्तेजित अवस्था और चूंकि प्रत्येक भाव का अपना उचित स्पंदन होता है, इसलिए उसकी

२३. It tends to increase the vivacity and susceptibility both of the general feelings and of the attention.
—B. L., p. 197.

अभिव्यक्ति की पद्धति भी विशिष्ट होगी।"[२४] काव्य-वस्तु विधा का ही नहीं, छंद आदि का भी निर्धारण करती है। जो विषय-वस्तु मुक्तक या प्रगीत के योग्य है (जैसे पंत का 'नौकाविहार') उस पर महाकाव्य नहीं रचा जा सकता और रामचरितमानस या कामायनी की वस्तु का समाहार मुक्तक में नहीं हो सकता। छंद का चयन भी विषय-वस्तु के अनुसार करना पड़ता है। जो छंद श्रृंगार या वीर रस की व्यंजना के उपयुक्त होगा, वह करुणा की व्यंजना के नहीं।

कोलरिज के पूर्ववर्ती अनेक विचारकों ने, जिनमें हार्ट्ली प्रमुख हैं, कहा था कि मानसिक क्रियाएं संवेदन (sensation) मात्र हैं और स्नायु-केंद्रों में होने वाले आणविक कंपनों (atomic vibrations) के परिणाम हैं। जब मनुष्य की किसी ज्ञानेंद्रिय (जैसे चक्षु) का किसी बाह्य वस्तु (मकान, पेड़ आदि) से सन्निकर्ष होता है तो मन के स्नायु-केंद्रों के अणुओं में कंपन होता है जिससे वे परस्पर संपर्क में आकर ऐंद्रिय संवेदन को संभव बनाते हैं अर्थात् यह बोध होता है कि हमने अमुक वस्तु को देखा। यह प्रक्रिया प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय से उत्पन्न होनेवाले संवेदन के साथ होती है; श्रोत्र से ध्वनि का, घ्राण से गंध का, रसना से रस का, त्वचा से स्पर्श का संयोग होने पर अणुओं के कंपन से तत्तत् इंद्रियों का संवेदन होता है। इन सक्रिय संवेदनों को परस्पर मिलाकर बिंबों में परिणत करने का काम कल्पना का है। चूंकि मन अचेतन है, इसलिए यह पूरी प्रक्रिया यांत्रिक रूप में चलती रहती है। जिसे ज्ञान कहते हैं वह स्मृति तथा तर्क की सहायता से सहचारी प्रत्ययों (associate ideas या concepts) का संघटन-मात्र है। आणविक कंपनों तथा उनसे उत्पन्न प्रत्ययों के साहचर्य (association) का सिद्धांत प्रस्तुत करने के कारण इन विचारकों को साहचर्यवादी (associationist) तथा यांत्रिक रूप में संवेदनों की उत्पत्ति सिद्ध करने के कारण यांत्रिकतावादी (mechanistic) भी कहते हैं। ये तीनों संज्ञाएं प्रकरण-भेद से इनके लिए प्रयुक्त होती हैं। इनके अनुसार असंबद्ध संवेदनों में संबंध-स्थापन कल्पना द्वारा संपन्न होता है और वही बिंब का रूप धारण करता है। कल्पना के इस साहचर्यवादी या यांत्रिकतावादी दृष्टिकोण के विरोध में कोलरिज ने अपना मत उपस्थापित किया और कांट, शेलिंग आदि प्रत्ययवादी (idealist) दार्शनिकों से प्रभावित होकर कल्पना को चेतन शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया। कोलरिज का श्रेय दो बातों में है: एक तो **कल्पना के स्वरूप-निर्धारण में;** और दूसरे, **रम्यकल्पना (fancy) से कल्पना (imagination) के भेद-निरूपण में।**

जैसा हमने पहले देखा है, कोलरिज की समालोचना का केंद्र-बिंदु सर्जन-प्रक्रिया है। उन्होंने बल देकर कहा कि परिनिष्ठित रचना के विवेचन की अपेक्षा उसकी सर्जन-प्रक्रिया का विवेचन समालोचना का प्रमुख प्रयोजन होना चाहिए। इसे ही ध्यान में रखकर उन्होंने काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, प्रतिभा आदि पर विचार किया है।

२४. Poetry does always imply passion which word must be understood here in a most general sense, as an excited state of the feelings and faculties. And as every passion has its pulse, so will it likewise have its characteristic modes of expression. —B. L.; p. 201.

चूंकि काव्य-सर्जन का मूलाधार कल्पना है, इसलिए कोलरिज ने कल्पना की भी विशद मीमांसा की है जो उनकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन मानी जाती है। कोलरिज को कल्पना के विवेचन की प्रेरणा वर्ड्सवर्थ के काव्यपाठ से मिली। उन पर उस काव्यपाठ का ऐसा गहरा, स्थायी और मोहक प्रभाव पड़ा कि वे उसकी विशेषताओं का मुहुर्मुहुः विवेचन-विश्लेषण करते रहे और अंत में कल्पना का वह स्वरूप उपस्थापित करने में सफल हुए जिसने शताब्दियों के विवाद को समाप्त-प्राय कर दिया। अठारहवीं शताब्दी तक imagination और fancy इन दो शब्दों के अर्थ में काफी अस्पष्टता और अनिश्चितता रही। कभी दोनों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ; कभी fancy को श्रेष्ठ पद मिला तो कभी imagination को। इस अव्यवस्था को दूर करने का श्रेय कोलरिज को है।

'फैन्सी' शब्द ग्रीक के 'फांतासिया' (phantasia) शब्द से व्युत्पन्न है और 'इमैजिनेशन' लैटिन के 'इमाजिनातियो' (imaginatio) से। पहले fantasia से fantasy बना और फिर उसका संक्षिप्त रूप हुआ 'फैंसी'। 'इमैजिनेशन' का हिंदी रूपांतर 'कल्पना' प्रचलित है और 'फैंसी' के लिए 'रम्यकल्पना' या 'ललित कल्पना' शब्द का प्रयोग हो रहा है। 'फैंसी' के दोनों हिंदी पर्याय बहुत सटीक नहीं हैं किंतु जब तक इनसे अच्छे पर्याय सामने नहीं आते तब तक इनसे काम लिया जा सकता है।

ग्रीक में 'फांतासिया' का लगभग वही अर्थ है जो लैटिन में 'इमाजिनातियो' का। इसलिए दोनों से व्युत्पन्न अंग्रेजी शब्दों (फैंसी और इमैजिनेशन) में यदि अर्थ-सांकर्य रहा तो कोई आश्चर्य नहीं। पर समालोचनाशास्त्र के अंतर्गत जब पारिभाषिक रूप में इनका प्रयोग होने लगा तो अर्थ का विनिश्चय आवश्यक हो गया और यह काम कोलरिज ने किया। वर्ड्सवर्थ का काव्य-पाठ सुनने पर कोलरिज के मन में जो सुखद प्रतिक्रिया हुई उसकी मीमांसा के क्रम में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि **कल्पना** और **रम्यकल्पना** सर्वथा दो भिन्न शक्तियां हैं और वह भिन्नता इन दोनों शक्तियों के **लक्षणों, व्यापारों** तथा **परिणामों** में विद्यमान है। इसलिए ये दोनों शब्द न तो एक अर्थ के बोधक हैं और न एक ही शक्ति के उच्चतर एवं निम्नतर रूप हैं। इस निष्कर्ष के समर्थन में कोलरिज ने अनेक युक्तियां दीं। उदाहरणार्थ, बायोग्राफिया के सप्तम अध्याय में वे कहते हैं: "स्पष्ट ही दो शक्तियां काम करती हैं जो परस्पर सापेक्ष रूप में सक्रिय और निष्क्रिय हुआ करती हैं; और यह तब तक संभव नहीं है जब तक कोई मध्यवर्ती शक्ति न हो जो एक साथ सक्रिय भी हो और निष्क्रिय भी। दार्शनिक भाषा में, इस मध्यवर्ती शक्ति के सभी अंशों और अवधारणों के लिए हम इसे **कल्पना** का नाम देंगे। किंतु सामान्य भाषा में, खासकर काव्य के संदर्भ में, हम इस नाम का प्रयोग उस शक्ति के श्रेष्ठ अंश के लिए उपयुक्त मानेंगे।"[२५]

२५. There are evidentaly two powers at work, which relatively to each other are active and passive; and this is not possible without an intermediate faculty, which is at once both active and passive. In philosophical language, we must denominate this intermediate faculty in all its degrees and determinations, the IMAGINATION. But, in common language, and

कल्पना तथा रम्यकल्पना पर कोलरिज के सबसे महत्त्वपूर्ण विचार सूत्रशैली में बायोग्राफिया के तेरहवें अध्याय के अंत में उपन्यस्त हैं। इस संदर्भ की वही स्थिति है जो भरत के प्रसिद्ध रससूत्र की। संक्षिप्तता और अभिव्यंजना की जटिलता के कारण ये दो अनुच्छेद पर्याप्त दुरूह हैं। नीचे अनुवाद और मूल दोनों दिये जा रहे हैं :

"तो मेरे विचार से कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण। मुख्य कल्पना को मैं संपूर्ण मानवज्ञान की सजीव शक्ति तथा प्रमुख साधन, साथ ही ससीम मन में असीम सत्ता की शाश्वत सर्जन-शक्ति की आवृत्ति मानता हूं। गौण कल्पना को मैं मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि समझता हूं जिसका चेतन सत्ता के साथ सह-अस्तित्व है, फिर भी साधनता के प्रकार में वह मुख्य कल्पना से अभिन्न पर मात्रा और कार्य-पद्धति में उससे भिन्न, होती है। पुनःसर्जन के लिए उसका विलयन, विघटन, विसरण होता है अथवा जहां यह प्रक्रिया संभव नहीं है वहां भी वह आदर्शीकरण तथा एकीकरण के लिए संघर्ष करती है। वह अनिवार्यतः जीवंत होती है जबकि सभी वस्तुएं (वस्तुरूप में) स्थिर तथा निर्जीव होती हैं।

इसके प्रतिकूल स्थिरता एवं सुनिश्चितता के अतिरिक्त रम्यकल्पना का कोई दूसरा क्रीड़ा-साधन नहीं होता। रम्यकल्पना वस्तुतः देश और काल के बंधन से मुक्त स्मृति का ही एक प्रकार है; वह इच्छा-शक्ति की आनुभविक क्रिया से मिश्रित तथा रूपांतरित होती है जिसे हम चयन शब्द से व्यक्त करते हैं। किंतु रम्यकल्पना अपनी सारी सामग्री, जो पहले से तैयार रहती है, साहचर्यनियम के द्वारा ग्रहण करती है।"[२६]

इन अनुच्छेदों की दुरूहता के संबंध में टिप्पणी अनपेक्षित है। कोलरिज इसी ढंग से लिखने के आदी हैं। अतः स्पष्ट, संगत अर्थ निकालना आसान नहीं होता।

प्रथम अनुच्छेद में कल्पना का, उसके दो भेदों का तथा कार्यों का निरूपण है और दूसरे अनुच्छेद में रम्यकल्पना का निरूपण है। निरूपण में ही उनका अंतर भी निहित है।

especially on the subject of poetry, we appropriate the name to a superior degree of the faculty, joined to a superior voluntary control over it.

२६. The Imagination then I consider either as primary, or secondary. The primary Imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perception, and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I AM. The secondary Imagination I consider as an echo of the former, co-existing with the conscious will, yet still as identical with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree, and in the mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to recreate: or where this process is rendered impossible, yet still at all events it struggles to idealize and to unify. it is essentially vital, even as all objects (as objects) are essentially fixed and dead.

FANCY, on the contrary, has no other counters to play with, but fixities and definites. The fancy is indeed no other than a mode of memory emancipated from the order of time and space; while it is blended with, and modified by that empirical phenomenon of the will, which we express by the word Choice. But equally with the ordinary memory the Fancy must receive all its materials ready made from the law of association.

—B. L.; p. 160.

कोलरिज कल्पना के दो भेद करते हैं : (१) **मुख्य** और (२) **गौण**। मुख्य कल्पना वह शक्ति है जिसकी सहायता से दृश्य जगत् का स्पष्ट, व्यवस्थित ज्ञान होता है। हमारी आंखों के सामने न जाने कितनी वस्तुएं लगातार आती रहती हैं—मकान, सड़क, पेड़, पहाड़, नदी, मैदान, पशु, पक्षी आदि। इसी तरह लगातार कानों में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें पड़ती रहती हैं। प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय अपने-अपने विषय का ग्रहण करने में सदा लगी हुई है। एक साथ दर्जनों मकानों पर दृष्टि पड़ती है; उद्यान में बीसों प्रकार के पेड़-पौधे एक साथ दिखायी देते हैं; पहाड़ पर पत्थर, झरने, झुरमुट, पशु-पक्षी साथ दृष्टिगोचर होते हैं। अगर ये सारी वस्तुएं बिना भेद-भाव के एक साथ मन में प्रतिबिंबित हों तो मन की क्या हालत होगी और इन अनंत वस्तुओं के ज्ञान का क्या रूप होगा ? सब कुछ अव्यवस्थित, अस्तव्यस्त, मिलाजुला, गड्डमड्ड। न किसी वस्तु का स्पष्ट, ठीक ज्ञान होगा न उसके अभाव में कोई व्यवहार संभव होगा। समस्त जागतिक प्रपंच को व्यवस्थित रूप में ग्रहण करानेवाली शक्ति को ही कोलरिज **मुख्य कल्पना** कहते हैं। मुख्य कल्पना वस्तु-जगत् की एक-एक वस्तु को ठीक-ठिकाने ढंग से मन में अंकित करती है; यदि वह वैसा न करे तो लौकिक कार्य-कलाप ठप पड़ जाए। सजीवता एवं क्रियाशीलता में **गौण कल्पना** मुख्य कल्पना के समान ही होती है; वह भी ऐंद्रिय संवेदनों की अस्तव्यस्तता को दूर कर उनमें व्यवस्था लाती है किंतु दोनों में अंतर यह है कि जहां **मुख्य कल्पना** का काम सहज भाव से, **अनजाने** ढंग से चलता रहता है वहां **गौण कल्पना** का काम **ज्ञानपूर्वक**, इच्छापूर्वक होता है। इंद्रियग्राह्य वस्तुओं के आकार-प्रकार का यथार्थ तथा विशिष्ट चित्र मन में अंकित हो, इसके लिए हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यह प्रक्रिया बिना हमारे जाने-बूझे, या यों कहें कि अनचाहे, निरंतर चालू रहती है। इसका श्रेय मुख्य कल्पना को है। परंतु जब कलाकार कोई कलाकृति (कविता, चित्र आदि) तैयार करना चाहता है तो उसे भी कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। यह **कला-विधायिनी कल्पना** ही **गौण कल्पना** के नाम से पुकारी जाती है। गौण कल्पना बाह्य जगत् से प्राप्त ऐंद्रिय संवेदनों को नये रूप में ढालकर उन्हें नयी आकृति प्रदान करती है और रमणीयता का आवरण चढ़ाकर उसे मोहक बना देती है। गौण कल्पना मुख्य कल्पना की तरह अनजाने, अनचाहे काम नहीं करती बल्कि उसका सारा व्यापार इच्छा और ज्ञान से परिचालित होता है। दूसरी चीज यह कि मुख्य कल्पना केवल प्रत्यक्षाश्रित है किंतु गौण कल्पना आत्मा, बुद्धि, ज्ञानेंद्रिय-पंचक, इच्छा, भाव सबकी सहायता लेती हुई कला-सर्जन में प्रवृत्त होती है। मुख्य कल्पना के द्वारा जो भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है उसे गौण कल्पना गला, घुला, मिलाकर बिलकुल नया घोल तैयार करती है और कलाकार की रुचि तथा इच्छा के अनुसार उसे नया रूप प्रदान करती है। जैसे सुनार सोने को गलाकर उसे विविध आभूषणों में रूपांतरित कर देता है वैसे ही गौण कल्पना मुख्य कल्पना द्वारा प्रस्तुत उपादानों को नूतन रूप में ढालकर अभीष्ट कलाकृति में परिणत कर देती है। तात्पर्य कि दृश्य जगत् की सामान्य वस्तुएं ही गौण कल्पना के योग से विशिष्ट और रमणीय बन जाती हैं। इसके लिए गौण कल्पना को

संश्लेषण की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। उदाहरण के लिए कामायनी का पहला छंद लें :

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

हिमगिरि, पुरुष, जल-प्रवाह—दृश्य-जगत् की ये वस्तुएं—परस्पर स्वतंत्र तथा असंवद्ध हैं। इन तीनों का ज्ञान कवि को मुख्य कल्पना की सहायता से पृथक्-पृथक् हो चुका है। अब वह तीनों को संश्लिष्ट कर (मिलाकर) एक नया चित्र प्रस्तुत कर रहा है जिसमें उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती, उनकी असंबद्धता मिट जाती है और वे एक ही चित्र के सापेक्ष, संबद्ध अंग बन जाते हैं। जो शब्द-चित्र प्रसाद ने अंकित किया है उसके आधार पर कोई चित्रकार तूलिका और रंगों की सहायता से एक सुंदर, सजीव चित्र तैयार कर सकता है जिसमें हिमालय, उसका शिखर, शिला की छांह, आंसुओं से गीले नयनोंवाला एक पुरुष और नीचे निस्सीम जल-प्रवाह देखे जा सकते हैं। इस बिंब-समुदाय को संश्लिष्ट बनाने में दो क्रियाएं सहायक हैं—'बैठ' और 'देख रहा था'। इनकी सहायता ये बिंबों की असंबद्धता संबद्धता में बदल गयी है। कल्पना की आंच में गलकर परिचित, भौतिक वस्तुएं अपना पृथक् अस्तित्व खो देती हैं और शब्दों तथा रंगों की सहायता से समवेत, संश्लिष्ट रूप ग्रहण कर एकाकार हो जाती हैं।[२७] एब्रम्स के अनुसार कोलरिज यहां तीन समानांतर प्रतिरूप प्रस्तुत करते हैं :

(१) **ऐंद्रिय जगत्**—जो ईश्वरीय सृष्टि की शाश्वत क्रिया का लौकिक प्रतिभास है।

(२) **मनोजगत्**—जो **मुख्य कल्पना** की सहायता से ऐंद्रिय संवेदनों को व्यवस्थित कर एक प्रकार की आंतरिक (मानसिक) सृष्टि करता है।

(३) **कला-जगत्**—जो **गौण कल्पना** का आश्रय लेकर ऐंद्रिय जगत् तथा मनोजगत् के घात-प्रतिघात से कलात्मक सृष्टि में समर्थ होता है।

सर्जनशीलता तीनों में है; प्रथम ईश्वरीय है, शेष दोनों मानवीय हैं। मनोजगत् और कला-जगत् में जो अंतर है वह मुख्य कल्पना तथा गौण कल्पना का है। मनोजगत् में मुख्य कल्पना के द्वारा ईश्वरीय सृष्टि के व्यामिश्र प्रपंचजाल को व्यवस्थित करने का प्रयास होता है और कला-जगत् में गौण कल्पना द्वारा ऐंद्रिय जगत् और मनोजगत के समन्वय से कला-सर्जन का प्रयास। जिस प्रकार ईश्वर ऐंद्रिय अर्थात् वस्तु-जगत् में प्रच्छन्न भाव से सर्वत्र वर्तमान रहता है, उसी प्रकार कलाकार भी अपनी प्रत्येक कृति में प्रच्छन्न भाव से सर्वत्र वर्तमान रहता है। कला-जगत् का वह वैसा ही स्रष्टा है, जैसा वस्तु-जगत् का ईश्वर। यही बात संस्कृत के एक आलोचक ने कही है :

२७. The Mirror and the Lamp; Abrams, M.S.

अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

—असीम काव्य-जगत् में कवि ही प्रजापति (स्रष्टा, विधाता) है; जैसी उसकी रुचि होती है, वैसा ही यह विश्व परिवर्तित हो जाता है अर्थात् वह अपनी रुचि के अनुरूप इसे निर्मित कर लेता है।

मुख्य कल्पना और **गौण कल्पना** के निम्नलिखित भेद ध्यातव्य है :

१. मुख्य कल्पना के अस्तित्व पर ही गौण कल्पना आश्रित है अर्थात् मुख्य कल्पना द्वारा संचित सामग्री का ही गौण कल्पना काव्य-सृष्टि के लिए उपयोग करती है। अतः **गौण कल्पना** को **काव्यात्मक कल्पना** भी कहते हैं। पौर्वापर्य की दृष्टि से मुख्य कल्पना पूर्ववर्ती है और गौण कल्पना पश्चाद्वर्ती। यह कोलरिज के इस कथन से स्पष्ट है कि गौण कल्पना मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि (echo) है। जब तक ध्वनि नहीं, तब तक प्रतिध्वनि कैसे संभव है ?

२. मुख्य कल्पना **अचेतन** (unconscious) और **अनैच्छिक** (involuntary) है; गौण कल्पना **चेतन** (conscious) और **ऐच्छिक** (voluntary) है। तात्पर्य कि मुख्य कल्पना हमारे बिना चाहे और बिना जाने भी अपना काम करती रहती है किंतु गौण कल्पना हमारी जानकारी में और हमारे चाहने पर ही काम करती है। कवि की इच्छा और ज्ञान के बिना काव्य-रचना नहीं हो सकती।

३. मुख्य कल्पना केवल **निर्माण** या **संघटन** करती है। इसके प्रतिकूल गौण कल्पना **विघटन** और **संघटन**, **विनाश** और **निर्माण** दोनों करती है। बाह्य (ऐंद्रिय) जगत् की वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों उपयोग काव्य में नहीं होता; कवि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन करता है; कुछ जोड़ता है, कुछ घटाता है। मुख्य कल्पना में ऐसा नहीं होता; वह इंद्रियगोचर वस्तुओं को केवल संघटित करती है, जोड़ती है; उनमें अपनी तरफ से कुछ भी हेरफेर नहीं करती।

कल्पना में एक प्रकार की "संश्लेषात्मक (synthetic) तथा जादुई (magical) शक्ति होती है जो विरोधी या विसंवादी (discordent) धर्मों में संतुलन स्थापित करती है।" कोलरिज ने ऐसे धर्मों की एक सूची दी है। विमसैट तथा क्लीन्थ ब्रुक्स ने विरोधी धर्मों के युग्मों को तालिकाबद्ध करके निम्नलिखित रूप में रखा है जो समझने में सरल है :

कल्पना निम्नलिखित विरोधी धर्मों (क-ख) के बीच सामंजस्य (संतुलन या संगति) स्थापित करती है :

क	ख
१. साम्य (sameness)	वैषम्य (difference)
२. सामान्य (general)	विशेष (concrete)
३. प्रत्यय (idea)	बिंब (image)
४. प्रातिनिधिक (representative)	वैयक्तिक (individual)

५. प्राचीन और परिचित पदार्थ (old and familiar objects)	नवीनता और ताजगी (novelty and freshness)
६. संयम (order)	भावावेश (emotion)
७. विवेक (judgment)	उमंग (enthusiasm)
८. कृत्रिम (artificial)	प्राकृतिक (natural)

कल्पना निम्नांकित ख-वर्ग की तुलना में क-वर्ग को गौणता प्रदान करती है :

क	ख
१. कला (art)	प्रकृति (nature)
२. रूप/रीति (manner)	वस्तु (matter)
३. कवि के प्रति समादर (admiration of the poet)	काव्य के प्रति सहानुभूति (sympathy with the poetry)

विरोधी धर्मों की ये सूचियां न तो संपूर्ण हैं और न सांकर्य से मुक्त। उदाहरणार्थ, पहली सूची के ८-संख्यक और दूसरी सूची के १-संख्यक तत्त्वों का सांकर्य स्पष्ट ही है। अतः इस सूची को संकेत के रूप में ही ग्रहण करना समीचीन होगा। निर्दिष्ट उदाहरणों की सहायता से कोलरिज ने यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार कल्पना विरोधी वस्तुओं में भी समन्वय और संगति ला देती है। इसीलिए उन्होंने कल्पना को एकीकरण (unification) या रूपांतरण (transmutation) की शक्ति कहा है। काव्य में बाह्य-जगत् की जितनी वस्तुओं का वर्णन होता है, उनमें यदि समन्वय या सामंजस्य स्थापित न किया जाए तो वे असंबद्ध खंडचित्र-सी प्रतीत होती रहेंगी और उनका कोई संश्लिष्ट या समुदित प्रभाव मन पर नहीं पड़ेगा; परिणामतः भावोद्दीपन बाधित होगा। इसलिए कल्पना को विरोधी धर्मों में भी समन्वय लाना पड़ता है। कल्पना यह कैसे करती है, यह कहना कठिन है; उस 'अनिर्वचनीयता' को व्यक्त करने के लिए ही कोलरिज ने उसे 'जादुई शक्ति' (magical power) कहा है अर्थात् कल्पना का परिणाम तो दिखायी देता है पर प्रक्रिया दिखायी नहीं देती।

रम्यकल्पना की निम्नलिखित विशेषताएं हैं: (१) रम्यकल्पना देश-काल के बंधन से मुक्त एक प्रकार की स्मृति-मात्र है। (२) वह इच्छा-शक्ति से संचालित एवं रूपांतरित होती है। (३) वह अपने उपयोग की सामग्री साहचर्य-नियम से ग्रहण करती है। (४) उसकी उपयोज्य सामग्री स्थिर तथा सुनिश्चित होती है।

इनका किंचित् स्पष्टीकरण अपेक्षित है :

१. रम्यकल्पना को कोलरिज स्मृति का प्रतिरूप मानते हैं पर सामान्य स्मृति और रम्यकल्पना में भेद यह है कि जहां स्मृति देश-काल के बंधन में रहती है, वहां रम्यकल्पना देश-काल के बंधन से मुक्त हुआ करती है। मान लीजिये कि कवि ने कहीं कोई दृश्य देखा जो उसके मन पर अंकित हो गया। उस दृश्य की स्मृति एक विशेष देश (स्थान) और काल से संबद्ध है। कुछ समय के बाद (अवधि वर्षों की भी हो सकती

है) कोई कविता रचते समय वह दृश्य उसके मानस-पटल पर एकाएक उभर आता है और वह उसे बिंब के रूप में प्रयुक्त करता है तो उस समय वह स्मृति देश-काल के बंधन से मुक्त हो जाती है। वह दृश्य कहां का है, कब का है, यह प्रश्न नितांत गौण बन जाता है; मुख्य होता है उसका एक नवीन बिंब के रूप में प्रयोग जो उक्ति में चमत्कार लाता है। जैसे बिहारी का यह दोहा :

चममचात चंचल नयन बिच घूंघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता बिमल जल उछरत जुग मीन।।

बिहारी ने निर्मल जल में कभी मछलियों को उछलते देखा होगा। स्मृति में संचित वह दृश्य प्रस्तुत दोहे में घूंघट-पट के भीतर नायिका की चमचमाती चंचल आंखों की शोभा को मूर्त रूप देने के लिए प्रयुक्त हुआ है। बिहारी ने जल में उछलती मछलियों को कब देखा, कहां देखा, यह प्रश्न अनपेक्षित है पर कहीं का, कभी का, देखा-दृश्य यहां बिंब के रूप में प्रयुक्त है। यही देश-काल के बंधन से स्मृति की मुक्ति है।

२. रम्यकल्पना का उपयोग, कल्पना के समान ही, ऐच्छिक और ज्ञानपूर्वक होता है। काव्य-रचना के समय कवि जब, जहां, जैसे चाहता है, उससे काम लेता है।

३. रम्यकल्पना की आधारभूत सामग्री साहचर्य-नियम से प्राप्त होती है अर्थात् उसमें संश्लिष्टता या संबद्धता नहीं होती बल्कि सभी वस्तुएं परस्पर विश्लिष्ट और असंबद्ध होती हैं; केवल संयोग से इकट्ठी हो गयी होती हैं। उनमें साहचर्यमात्र होता है, कोई अंतरंग संबंध नहीं होता। बिहारी के उद्धृत दोहे के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दोनों के चित्र असंबद्ध हैं; कहां घूंघट के भीतर चंचल आंखें और कहां गंगा-जल में उछलती मछलियां! दोनों में क्या संबंध है? किंतु कवि ने उन्हें चमत्कार उत्पन्न करने के लिए एक साथ निबद्ध कर दिया है।

४. कल्पना जिस तरह वस्तुओं को रूपांतरित कर उनमें तादात्म्य ला देती है, उस तरह की कोई बात रम्यकल्पना में नहीं होती। उसकी आधारभूत वस्तुएं स्थिर और सुनिश्चित होती हैं; वे परस्पर इकट्ठी भी होती हैं तो उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता; उनकी आकृति-प्रकृति पूर्ववत् बनी रहती है, जैसे ऊपर उद्धृत दोहे में। इसी-

The poet, described in ideal perfection, brings the whole soul of man into activity, with the subordination of its faculties to each other according to their relative worth and dignity. He diffuses a tone and spirit of unity, that blends, and (as it were) fuses, each into each, by that synthetic and magical power, to which I would exclusively appropriate the name of Imagination. This power, first put in action by the will and understanding, and retained under their irremissive, though gentle and unnoticed, control, laxis effertur habenis, reveals itself in the balance or reconcilement of opposite or discordant qualities: of sameness, with difference; of the general with the concrete; the idea with the image; the individual with the representative; the sense of novelty and freshness with old and familiar objects; a more than usual state of emotion with more than usual order; judgment ever awake and steady self-possession with enthusiasm and feeling profound or vehement; and while it blends and harmonizes the natural and the artificial, still subordinates art to nature; the manner to the matter; and our admiration of the poet to our sympathy with the poetry.

—B. L.; p. 166.

लिए कोलरिज इसे योजक (yoking) शक्ति कहते हैं।

उद्धृत दोहे में इन चारों विशेषताओं की संगति है। जिस बिंब का बिहारी ने प्रयोग किया है, वह देश-काल के बंधन से मुक्त है; कवि ने उसका प्रयोग इच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक किया है; बिंबों की सत्ता संश्लिष्ट नहीं, विश्लिष्ट है; जल में उछलनेवाली मछलियों का दृश्य पूर्ववत् स्थिर है, उसमें कवि ने कोई परिवर्तन नहीं किया है। अतः इसे रम्यकल्पना का उदाहरण कहेंगे।

कुछ आलोचकों (जैसे इलियट) ने यह प्रश्न उठाया है कि स्मृति रम्यकल्पना में ही नहीं, कल्पना में भी सक्रिय रहती है। इसलिए कल्पना के विवेचन में भी उसकी चर्चा होनी चाहिए। इसका समाधान यह है कि कल्पना के विवेचन में स्मृति का निर्देश न होने से यह कहां सिद्ध होता है कि उसमें स्मृति की स्थिति कोलरिज को अनभिमत थी? स्मृति की उपादेयता दोनों में है; रम्यकल्पना के निरूपण में केवल बल देने के लिए कोलरिज ने उसका उल्लेख कर दिया है।

कल्पना और रम्यकल्पना में अंतर

१. मुख्य कल्पना और गौण कल्पना का अंतर गुणात्मक नहीं, केवल मात्रात्मक है और भेद उनकी कार्य-पद्धति में है। इसके विपरीत कल्पना और रम्यकल्पना का अंतर **मात्रात्मक** ही नहीं, **गुणात्मक** भी है। रम्यकल्पना बिंबों को केवल पास-पास रख देती है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं करती, किंतु कल्पना उन्हें विघटित, विगलित कर बिलकुल नये रूप में ढाल देती है, पूर्णतः रूपांतरित कर देती है।

२. कल्पना भावोद्दीपन को केंद्र में रखकर बिंबों में आंतरिक सामंजस्य स्थापित करती है, उनमें **एकरूपता** लाती है; किंतु रम्यकल्पना केवल स्थिर और निश्चित वस्तुओं तथा विचारों को काम में लाती है और साहचर्य के नियम के अनुसार उन्हें केवल **एकत्र** कर देती है।

३. कल्पना **अंतःप्रेरणा** (inspiration), **प्रत्यक्ष** (perception) आदि अनेक स्रोतों से सामग्री ग्रहण करती है किंतु रम्यकल्पना प्रधानतः **स्मृति** पर निर्भर करती है और उसीसे अपनी सामग्री ग्रहण करती है।

४. **कल्पना** की कार्यपद्धति **जैव** है; अतः उसमें जीवंतता और पूर्णता है किंतु **रम्यकल्पना** की कार्यपद्धति **यांत्रिक** है, अतः वह निर्जीव तथा असंहत है।

५. कल्पना **प्रतिभा** (genius) की उपज है; रम्यकल्पना **प्रज्ञा** (talent) की।

मूल्यांकन

१. कोलरिज की दृष्टि में काव्य की सर्जन-प्रक्रिया का विचार काव्य के गुण-दोष-विवेचन से अधिक उपयोगी और आवश्यक है। इस कथन के पीछे कवि के रूप में उनका व्यक्तिगत सर्जनात्मक अनुभव, अनेक भाषाओं के काव्यों का सारग्राही अध्ययन, दर्शन-मनोविज्ञान आदि शास्त्रों का विशद ज्ञान और गूढ़ चिंतन-मनन हैं।

२. कोलरिज की आलोचना का प्रस्थान-बिंदु तो भाव (emotion) और अनुभूति

(feeling) है पर उसकी परिणति होती है बोध (understandings) में। उनके काव्य-सिद्धांत, चाहे वे सर्जन-प्रक्रिया से संबद्ध हों, चाहे आस्वादन से, चाहे बोध से, भाव और बोध के द्वैत पर आधारित हैं; वर्ड्सवर्थ के समान केवल भाव के अद्वैत पर नहीं।

३. अंग्रेजी आलोचना को दृढ़ दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम व्यक्ति कोलरिज हैं। उनके पहले की आलोचना या तो परंपरागत नियमों का यांत्रिक विनियोग थी या व्यक्तिगत रागद्वेष अथवा पूर्वग्रह का प्रक्षेप। कोलरिज ने रूढ़ि और यदृच्छा के स्थान पर नवीनता और सैद्धांतिकता की प्रतिष्ठा की।

४. आलोचना में मनोविज्ञान शब्द का प्रयोग और उपयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति कोलरिज हैं। उनके समय तक दर्शन से मनोविज्ञान का क्षेत्र स्पष्टतः विभक्त भी नहीं हुआ था। मनोविज्ञान का उपयोग कर उन्होंने उसकी स्वायत्तता स्थापित की। प्रतिभा, कल्पना, रम्यकल्पना, काव्य-सर्जन-प्रक्रिया आदि का विशद निरूपण इसका उदाहरण है।

५. कल्पना को कोलरिज केवल काव्य-सर्जन के लिए ही नहीं, बल्कि उत्कृष्ट आलोचना के लिए भी अनिवार्य मानते हैं।

६. उन्होंने जिस सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और विवेचकता से शेक्सपियर और वर्ड्सवर्थ की आलोचना की है, वह व्यावहारिक आलोचना का मानक रूप प्रस्तुत करती है।

७. कोलरिज के काव्य-सिद्धांत का अन्यतम महत्त्व यह है कि उन्होंने कवि, कवि-शक्ति, काव्य तथा काव्य-प्रभाव में समन्वय की पद्धति प्रस्तुत की।

८. कोलरिज की समालोचना बीजीय (seminal) है अर्थात् उन्होंने उद्भावना तो अनेक धारणाओं की की किंतु उन्हें बीज या संकेत रूप में ही छोड़ दिया, किसी का सम्यक् विकास नहीं किया। विकास का काम बाद के अनेक आलोचकों ने किया। उदाहरणार्थ, कोलरिज के मनोवैज्ञानिक पक्ष को हर्बर्ट रीड ने आगे बढ़ाया। उन्होंने तो अस्तित्ववाद तथा मनोविश्लेषण सिद्धांत का भी पूर्वाभास कोलरिज में सिद्ध करने का प्रयास किया है। सर्जन-प्रक्रिया और अवैयक्तिकता के संकेतों का विस्तार इलियट में पाया जाता है। रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत, शाब्दिक विश्लेषण (verbal analysis) और छंद-विवेचन पर कोलरिज का गहरा प्रभाव है। रिचर्ड्स ने कोलरिज को प्रथम अर्थविज्ञानी (semasiologist) कहा है और अर्थविज्ञान के क्षेत्र में उनकी देन को भौतिकविज्ञान के क्षेत्र में गैलीलियो की देन के समान महत्त्वपूर्ण बताया है। बहुसंख्यक आधुनिक अमेरिकी आलोचक कोलरिज तथा अरस्तू के अतिरिक्त और किसी प्राचीन आलोचक की शायद ही कभी चर्चा करते हों। कोलरिज की आलोचना के अनेक तत्त्व, जैसे विरोधी-समन्वय (reconciliation of opposites), कल्पना की परिभाषा, काव्य-विषयक जैव समग्रता की धारणा, प्रतीक और अन्योक्ति (allegory) या प्रतिभा (genius) और प्रज्ञा (talent) का भेद-प्रतिपादन आदि सतत चर्चा के विषय हैं जो उनकी मौलिकता, शक्तिमत्ता तथा प्राणवत्ता के ऐतिहासिक विजय-स्तंभ हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड

[१८२२-१८८८]

मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) को महान् आधुनिक आलोचक कहा गया है क्योंकि आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का आरंभ मैथ्यू आर्नल्ड से होता है। आर्नल्ड स्वयं कवि थे और १८५७ ई० में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऑक्सफोर्ड में अंग्रेजी का प्रोफेसर होना बड़े सम्मान और गौरव की बात है। इस पद का लाभ आर्नल्ड को दो प्रकार से हुआ—एक तो उन्हें आलोचना-संबंधी अपने विचारों को एक अत्यंत प्रबुद्ध वर्ग के सामने प्रस्तुत करने का अवसर मिला; दूसरे, पदमूलक गौरव के कारण उन विचारों के प्रसार की अनुकूल भूमि भी प्राप्त हुई। आर्नल्ड ने आलोचना का काम पेशे के रूप में किया। जो विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्यापक होते हैं उन्हें आलोचक बनना ही पड़ता है, चाहे वे दूसरों के सिद्धांतों का उपयोग करें या अपने मनन-चिंतन के आधार पर कुछ मौलिक योगदान करें। जैसा इलियट ने कहा है, प्रत्येक कवि अनिवार्यतः आलोचक भी हुआ करता है। जो अच्छा आलोचक नहीं होता वह अच्छा कवि भी नहीं हो सकता क्योंकि रचना के क्रम में, विषय के चयन से लेकर उसके विकास, विस्तार, अभिव्यंजना की भंगियों और उपयुक्त शब्द-प्रयोगों तक में विश्लेषणात्मक क्षमता की आवश्यकता पड़ती है। कवि आलोचना लिखे या न लिखे, यदि उसके काव्य में उत्कर्ष है तो सिद्ध है कि उसमें उत्कृष्ट आलोचना के भी गुण हैं। स्वयं कवि होने के कारण आर्नल्ड को काव्य की अंतर्निहित विशेषताओं की पहचान थी जिनकी सहायता से वे अपनी काव्य-विषयक धारणाएं प्रस्तुत ही नहीं, संशोधित-परिमार्जित भी कर सकते थे। इस तरह कवि के साथ काव्य का अध्यापक होना आलोचक आर्नल्ड के निर्माण में लाभकर सिद्ध हुआ।

कहा जाता है कि लेखक या कलाकार देश, काल और परिस्थिति की उपज ही नहीं होता, वह इनसे नियंत्रित और निर्देशित भी हुआ करता है। आर्नल्ड भी इसके अपवाद नहीं थे। उनकी आलोचना पर विचार करते समय उनके पहले की परिस्थितियों पर ध्यान देना उपयोगी होगा।

औद्योगिक क्रांति[1] की जो लहर इंग्लैंड में उठी उसने एक ओर विज्ञान को अकल्पनीय महत्त्व प्रदान किया; दूसरी ओर धर्म तथा काव्य पर आघात किया। धर्म को लोग अंधविश्वास समझने लगे और विज्ञान से जीवन-पद्धति में ऐसा परिवर्तन आने लगा जिससे भावुकता कुंठित होने लगी। परिणामत: काव्य के प्रति आकर्षण कम होने लगा। चारों ओर कोलाहल जैसा सुनाई पड़ने लगा कि काव्य का युग समाप्त हो गया; अब तो विज्ञान का युग है। टॉमस लव्ह पीकॉक ने काव्य की निष्प्रयोजनता प्रमाणित करने के लिए एक पुस्तिका ही लिख डाली जिसमें उन्होंने कहा कि ज्ञान और तर्क के युग में काव्य केवल बर्बरता का अवशेष है। इसके उत्तर में प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शेली को 'दि डिफेंस ऑफ पोइट्री' नामक प्रसिद्ध निबंध लिखना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही इंग्लैंड में काव्य और विज्ञान के आपेक्षिक महत्त्व का विवाद चल पड़ा था और दोनों खेमों ने अपने-अपने पक्ष की स्थापना के लिए युक्तियां प्रस्तुत करनी प्रारंभ कर दी थीं। जैसा ऊपर कहा गया है, विज्ञान का आक्रमण केवल काव्य पर ही नहीं हुआ, धर्म पर भी हुआ और संस्कृति भी अछूती नहीं रह सकी। तात्पर्य कि विज्ञान ने एक साथ काव्य, धर्म और संस्कृति के मूलोच्छेद का उपक्रम किया। जो लोग काव्य, धर्म एवं संस्कृति के स्थापित मूल्यों के पक्षधर थे उन्होंने विज्ञान के प्रत्याख्यान का बीड़ा उठाया। आर्नल्ड इस श्रेणी के विचारकों में अन्यतम हैं।

उन्होंने बड़ी प्रौढ़ि से काव्य की विपुल संभावनाओं को सामने रखा और यहां तक कहा कि काव्य धर्म का ही नहीं, विज्ञान का भी स्थान लेगा क्योंकि उसका प्रयोजन केवल आनंद ही नहीं, जीवन की आलोचना (व्याख्या) भी है।[2] आर्नल्ड का

१. 'औद्योगिक क्रांति' का प्रयोग उस परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए होता है जो १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में ब्रिटेन के औद्योगिक जीवन में घटित हुआ। १८वीं शताब्दी के पूर्व वस्तुओं का निर्माण तथा उत्पादन हाथ द्वारा संचालित यंत्रों की सहायता से घरों में होता था, बाद में शक्ति द्वारा संचालित यंत्रों की सहायता से कारखानों में होने लगा। अश्वशक्ति या मानवशक्ति स्थान वाष्प-शक्ति ने ले लिया; बहुत चीजों में लकड़ी के बदले लोहा काम में आने लगा; जलावन के लिए लकड़ी के स्थान पर कोयले का उपयोग होने लगा; छोटे खेतों की जगह बड़े फार्म बन गये; कपड़ों का उत्पादन हाथकरघों से बड़ी मिलों के हाथ में चला गया; जहां गांव थे, वहां शहर बस गये; जमीन पर रेलगाड़ियां चलने लगीं और पानी में जहाज तैरने लगे। १९वीं शताब्दी में आविष्कारों की गति बहुत तेज हो गयी और जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे उत्पादन के साधन अधिक सक्षम और सूक्ष्म होते गये। 'औद्योगिक क्रांति' केवल आविष्कारों तक ही सीमित नहीं रही, उसके कारण सामाजिक जीवन में व्यापक परिवर्तन आने लगे। इस प्रकार परंपरागत जीवन-पद्धति बहुत कुछ रूपांतरित हो गयी। इसका परिणाम विचारों, विश्वासों, धारणाओं तथा चिंतन-रूपों पर पड़ना अनिवार्य था।

२. More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us. Without poetry our science will appear incomplete and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry.

—Selected Essays : The Study of Poetry; p. 47.

कहना था कि काव्य और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। विज्ञान का, और बहुत दूर तक धर्म का भी, क्षेत्र सीमित है; विज्ञान मनुष्य की कोमल भावनाओं को सहलाने में असमर्थ है; धर्म से भी यह काम अंशतः ही सम्पन्न होता है। इसके प्रतिकूल काव्य का प्रभाव भाव और कल्पना पर तो पड़ता ही है, बुद्धि पर भी पड़ता है जिससे मनुष्य की क्रियाशक्ति को उचित दिशा मिलती है।

आर्नल्ड ने प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उनके अनुसार, संस्कृति पूर्णता का ही दूसरा नाम है और काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है। इस विषय को उन्होंने 'कल्चर ऐण्ड एनार्की' नामक विस्तृत लेख में भलीभांति स्पष्ट किया है। आर्नल्ड ने काव्य में रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) मान्यताओं का खंडन किया और प्राचीन क्लासिकल (आभिजात्यवादी) सिद्धांतों की पुनःस्थापना पर बल दिया। उन्होंने पुरातन यूनानी उपलब्धियों को अनुकरणीय बताया और उन्हें अपनाने का आग्रह किया। यूनान के काव्यशास्त्रियों में अरस्तू उनके आदर्श थे और होमर के महाकाव्य तथा यूनानी नाटककारों के दुःखांतक उनके साहित्यिक प्रतिमान के निर्धारक। आर्नल्ड को यूनानी साहित्यिक आदर्शों का उद्धारक या उज्जीवक कह सकते हैं। इस तरह आर्नल्ड एक ऐसी सीमा-रेखा पर खड़े दिखाई देते हैं जो प्राचीन और नवीन का, परंपरा एवं आधुनिकता का मिलन-बिंदु है। उन्होंने आलोचना की जिस पद्धति और शिल्प का विकास किया वह बाद के आलोचकों द्वारा ग्रहण किया गया। आर्नल्ड काव्य में **सरलता, स्वाभाविकता** आदि अभिजात गुणों के समर्थक थे जिनका प्रयोग उन्होंने काव्य में ही नहीं, आलोचना में भी किया।

आर्नल्ड ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा; अरस्तू या कोलरिज के समान कोई मौलिक उद्भावना भी नहीं की। उनके विचार भाषणों के लिए या पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखित छोटे-बड़े प्रकीर्ण निबंधों में व्यक्त हुए हैं। मौलिक उद्भावना की दृष्टि से उनका महत्त्व भले न हो पर आलोचना की स्वायत्तता स्थापित करने का तथा उसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आर्नल्ड को अवश्य दिया जायगा।

आर्नल्ड की धारणा थी कि महान् काव्य के लिए उसकी **विषयवस्तु उदात्त** होनी चाहिए और **शैली भव्य**। साहित्यिक क्षितिज पर आर्नल्ड के आविर्भाव के पूर्व इंग्लैंड में स्पैज़मोटिक (spasmotic) नामक एक काव्यांदोलन चल रहा था जिसकी प्रमुख मान्यताएं थीं—(क) सम-सामयिक विषयों का वर्णन और (ख) कवि की निजी मनोदशाओं की अभिव्यक्ति। स्पैज़मोटिक धारा के काव्यों में दो विशेषताएं खुलकर आयीं—विचार और भाव का अतिरेक तथा उपमा, रूपक आदि अलंकारों का अति प्रयोग। ये दोनों चीजें आर्नल्ड को अनभिमत थीं। उनकी धारणा थी कि सामयिक विषयों पर लिखा गया काव्य चिरस्थायी नहीं हो सकता। एक सीमा तक आर्नल्ड की यह मान्यता सही भी है। सामयिक विषयों की उपादेयता समाप्त हो जाने के बाद उनका महत्त्व भी समाप्त हो जाता है। भारत में ही स्वाधीनता आंदोलन की अवधि में बहुत सारी कविताएं लिखी गईं जो तब पर्याप्त लोकप्रिय थीं किंतु आज

कहीं सुनाई भी नहीं देतीं। इसलिए आर्नल्ड का यह कहना कि काव्य का विषय ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य के स्थायी भावों और संवेदनाओं से संबद्ध हो, असंगत नहीं है। काव्य में आधुनिकता या प्राचीनता का प्रश्न भी गौण है; महत्त्व का प्रश्न यह है कि उसमें स्थायित्व की क्षमता है या नहीं। स्थायित्व के अभाव में कोई भी रचना अभिजात (क्लासिकल) कोटि में नहीं आ सकेगी। उदाहरण के रूप में आर्नल्ड ने होमर के महाकाव्यों और एस्खिलुस आदि यूनानी नाटककारों के दुःखांतकों की ओर संकेत किया। आज से प्रायः कई हजार वर्ष पहले लिखे जाने पर भी उनकी आंनदप्रदता और मर्मस्पर्शिता अक्षुण्ण है।

अरस्तू का अनुगमन करते हुए आर्नल्ड के काव्य में विचारों के निरूपण के बदले **कार्य-व्यापारों के निरूपण** पर बल दिया। आर्नल्ड ने प्राचीन यूनानी काव्यों की स्थायी सफलता के तीन कारण बताए हैं—**कार्य-व्यापार की गुरुता, चरित्रों की उदात्तता** तथा **स्थितियों की तीव्रता**। इनके अभाव में कोई भी काव्य स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रसंग पर विचार करते हुए आर्नल्ड ने कहा है कि यूनान काव्यों और आधुनिक काव्यों के उत्कर्ष में इन्हीं तीन कारणों से अंतर पड़ता है। यूनानी कवियों ने कार्य-व्यापार को प्राथमिकता दी; हमारा ध्यान असंहत विचारों और बिंबों पर टिका रहता है। उन्होंने पूर्णता पर बल दिया; हम खंडों पर बल देते हैं। वे अभिव्यंजना की अपेक्षा कार्य-व्यापार को प्रधान मानते थे; हम कार्य-व्यापार की अपेक्षा अभिव्यंजना को प्रधान मानते हैं। यही कारण है कि हमारे आज के काव्य में वह गरिमा नहीं आ पाती जो प्राचीन काव्य में वर्तमान है।

काव्य-रचना में आर्नल्ड ने चार बातों पर ध्यान रखने का आग्रह किया—(क) काव्य की **विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण** होनी चाहिए जिसमें गहन और तीव्र भावों की संभावनाएं हों। (ख) **रचना प्रक्रिया** के क्रम में कवि को **संरचनात्मक अन्विति** (structural unity), **अनुपात** (proportion) तथा सुसंगति या सामंजस्य (harmony) पर ध्यान रखना चाहिए। (ग) वर्णन में **भव्यशैली** (grand style) का प्रयोग आवश्यक है। भव्य शैली की धारणा आर्नल्ड की वही है जो लोंगिनुस की। (घ) काव्य के प्रयोजन के रूप में आर्नल्ड ने **आनंद** के साथ **नैतिक उन्नयन** को हमेशा आगे रखा। यद्यपि आर्नल्ड की **भव्य शैली** की धारणा लोंगिनुस से ही गृहीत है, फिर भी दोनों में हलका-सा अंतर है। जहां लोंगिनुस ने भव्य शैली में सरलता के साथ अभिव्यंजना की समृद्धि को महत्त्व दिया है, वहां आर्नल्ड ने सरलता के साथ संयम और सादगी को। यही कारण है कि आर्नल्ड की भव्य शैली के उदाहरण होमर, दांते और मिल्टन ही हो पाते हैं; शेक्सपियर भी अलग छूट जाते हैं।

कुछ तो प्रकृति से, कुछ आभिजात्यवादी आदर्शों के अनुगमन से और कुछ स्वच्छंदतावादी (रोमैंटिक) आंदोलन के विरोध में आर्नल्ड ने बार-बार **वस्तु और रूप, विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य** पर बल दिया है। उनकी शैलीगत पूर्णता की मान्यता अनिवार्यतः आभिजात्यवादी ही है जिसमें **सरलता, संयम और परिष्कार** का समन्वय है। जैसा पहले कहा जा चुका है, आर्नल्ड काव्य को **सांस्कृतिक उन्नयन** और परि-

ष्करण का साधन मानते हैं। अतः उनके लिए काव्य केवल आनंद का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक उन्नयन का भी साधन है। इंग्लैंड के सम-सामयिक समाज की आर्नल्ड ने बड़ी तीखी आलोचना की है। उन्होंने कहा है कि इंग्लैंड का अभिजातवर्ग बर्बर और निष्प्रभाव हो चुका है; मध्यवर्ग भोग में लीन है और निम्नवर्ग का अभी उत्थान ही नहीं हुआ है। इस स्थिति में सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें अभिजातवर्ग तथा निम्नवर्ग निरुपयोगी प्रतीत होते हैं, इनसे कोई आशा नहीं की जा सकती। यदि सांस्कृतिक उन्नयन की कहीं क्षीण आशा है तो मध्यवर्ग में। किंतु मध्यवर्ग भी विषयासक्त और भोगलीन हो गया है जो औद्योगिक क्रांति से लब्ध आर्थिक सम्पन्नता का परिणाम है। यदि काव्य को, और उसके साथ संस्कृति को, बचाना है तो इस मध्यवर्ग को ही सुधारने की जरूरत है; इसीकी रुचि को परिमार्जित और परिष्कृत करना है। जब तक जनसाधारण (निम्नवर्ग) का उत्थान नहीं होता तब तक उसके रुचि-परिष्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए आर्नल्ड की आलोचना का प्रमुख उद्देश्य मध्यवर्ग का **रुचि-परिष्कार** है जिसे उन्होंने बार-बार दुहराया है।

आर्नल्ड के पहले के या उनके सम-सामयिक भी कुछ आलोचक राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक जैसे व्यावहारिक मानदण्डों से काव्य की आलोचना में व्यापृत थे, जिसमें काव्य का वास्तविक मूल्यांकन सहज ही उपेक्षित हो जाता था। यह स्थिति आर्नल्ड को अभिमत नहीं थी। उनका विचार था, और जो सही था, कि काव्य का विवेचन-विश्लेषण किसी काव्य-बाह्य मानदण्ड से नहीं होना चाहिए। यदि उसमें राजनीति, इतिहास आदि विषय आ जाते हैं तो काव्य का मूल प्रयोजन गौण पड़ जाता है जबकि प्रधानता उसीकी होनी चाहिए। इसलिए आवश्यक है कि आलोचक राजनीतिक पक्षपात, ऐतिहासिक मोह या धार्मिक संकीर्णता से परिचालित न हों। उन्हें स्वतंत्र तथा निष्पक्ष भाव से किसी काव्य के उत्कर्ष-अपकर्ष का मूल्यांकन करने में प्रवृत्त होना चाहिए।

आर्नल्ड के अनुसार आलोचना "संसार में जो भी उत्तम ज्ञान तथा चिंतन है, उसके अधिगम एवं प्रचार का और इस प्रकार ताजे और सच्चे विचारों के प्रभाव के संस्थापन का निस्संग प्रयास है।"[३] आर्नल्ड की दृष्टि में **संस्कृति** तथा **आलोचना अभिन्न हैं**। संस्कृति का अर्थ है "मनोगत वस्तुओं की उद्देश्यमुक्त जिज्ञासा" अर्थात् ऐसी जिज्ञासा जो स्वयं साध्य हो, किसी अन्य प्रयोजन का साधन नहीं हो। आलोचना निष्पक्षता या निस्संगता है। संस्कृति और आलोचना, दोनों का लक्ष्य पूर्णता है; दोनों का साध्य जिज्ञासा है; दोनों का धर्म निस्संगता है। निस्संगता की इस धारणा के लिए आर्नल्ड फ्रांसीसी आलोचक सेंत ब्व्ह के ऋणी हैं हालांकि दोनों की निस्संगता में सैद्धांतिक तो नहीं, किंतु व्यावहारिक अंतर दिखायी देता है। सेंत ब्व्ह की निस्संगता का रूप है : "(आलोचक) की अपनी न तो कोई कला होनी चाहिए, न कोई विशिष्ट

३. A disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world, and thus to establish a current of fresh and true ideas.—p. 43.

शैली, न प्रचार का कोई खास दृष्टिकोण, न धर्मविषयक कोई प्रबल झुकाव, न जीवन के प्रति कोई भाव, न किसी की स्वीकृति का आग्रह, न कला के किसी रूप में अभिरुचि। उसमें न तो सर्जनात्मक प्रतिभा होनी चाहिए और न दार्शनिक मतवाद। इस तरह का कोई भी चित्तविक्षेप उसकी वास्तविक आलोचनात्मक शक्ति को सीमित कर देगा। उसे समदर्शी होना चाहिए। अपरिमेय कुतूहल उसका विशिष्ट गुण होना चाहिए जो सभी देशों के, सभी व्यक्तियों के साथ की अनंत यात्रा में उसके संबल का काम करे।··· उसे सहिष्णु, निष्पक्ष, संतुलित और जिज्ञासु होना चाहिए।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' है जिसपर शायद ही कोई आलोचक कभी चला हो। इसलिए यदि आर्नल्ड भी नहीं चल पाये तो क्या आश्चर्य ? सेंत बव्ह द्वारा विहित अनुपात में आर्नल्ड ने निस्संगता का अनुवर्तन भले ही न किया हो किंतु इच्छा और चेष्टा उनकी अवश्य रही। इसमें जब भी बाधा पड़ी है तो उनके नैतिक पूर्वग्रहों के कारण। विक्टोरिया युग के दूसरे आलोचक, जैसे जॉन रस्किन (१८१९-१९०० ई०) और टॉमस कार्लाइल (१७९५-१८८१ ई०) भी नैतिकतावादी थे। यही नहीं, वाल्टर पेटर (१८३९-९४ ई०) के जैसा कलावादी भी नैतिकता से पल्ला नहीं छुड़ा सका। व्यापक अर्थ में आर्नल्ड की आलोचना का उद्देश्य है **संस्कृति का उन्नयन**। फलतः साहित्य के आलोचक का कार्य है संस्कृति के उस भाग का उन्नयन जो साहित्य के ज्ञान पर आश्रित है।

जैसा स्कॉट जेम्स ने प्रतिपादित किया है, आर्नल्ड के निस्संग प्रयास में तीन बातें अंतर्निहित हैं : (१) आलोचक का कर्त्तव्य है कि पहले वह विषय को जाने-समझे। (२) जानने-समझने के बाद उसका दूसरा कार्य है कि वह उन विचारों को दूसरों तक पहुंचाए जिससे अच्छे विचारों का प्रसार हो। (३) ऐसा करके वह भली सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए अनुकूल वातावरण और उर्वर भूमि तैयार करे।[४]

काव्यालोचन में दार्शनिकता के अतिरेक के भी आर्नल्ड विरोधी हैं। उनका कहना है कि इससे आलोचना अमूर्त हो जाती है और अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती। आलोचना वह साधन है जिससे मानव-जीवन को अधिक स्वस्थ, सार्थक और फलप्रद बनाया जा सकता है। दार्शनिक अमूर्त्तता उसमें बाधक होती है।

इसी के समानान्तर उन्होंने एक और त्रुटि की ओर संकेत किया है। उन्होंने कहा कि आलोचना के तीन प्रकार हैं—(क) **ऐतिहासिक** (historical), (ख) **वैयक्तिक** (personal) और (ग) **वास्तविक** (real)।[५] आर्नल्ड ने इनमें प्रथम दो से बचने की सलाह दी है क्योंकि उनकी दृष्टि में ये दोनों आलोचना हैं ही नहीं। उन्होंने साहित्य के इतिहास और साहित्य की आलोचना में विभाजक रेखा खींची है। साहित्य के इतिहास का विषय है प्रवृत्तियों और विकास-सोपानों का विवरण। किंतु

४. The Making of Literature, p. 358.

५. A poet or a poem may count to us historically, they may count to us on grounds personal to ourselves, and they may count to us really.
—Selected Essays : The Study of Poetry.

साहित्य की आलोचना का विषय है विशेष कृतियों के गुण-दोषों का विवेचन; उसमें इतिहास आता ही नहीं। वह केवल यह बताती है कि कोई कृति अपने-आपमें कैसी है। यह पार्थक्य प्रतिपादित करते समय आर्नल्ड के सम्मुख संभवतः मैकॉले और कार्लाइल जैसे आलोचक थे जो किसी कवि या काव्य का मूल्यांकन करते समय उस युग के इतिहास का विवेचन करने लगते थे। आर्नल्ड के अनुसार, इस तरह का ऐतिहासिक विवेचन कवि या काव्य के अंतर्निहित वैशिष्ट्य के उद्घाटन में सर्वथा अक्षम, अतः हेय, है।

वैयक्तिक आलोचना को भी आर्नल्ड ने हेय माना है क्योंकि उसमें व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, राग-द्वेष का अस्तित्व अनिवार्य हो जाता है। स्वभावतः काव्यत्व का समुचित निर्धारण नहीं हो पाता। प्रकारांतर से यह आलोचना प्रभाववादी बन जाती है। निष्कर्ष कि एकनिष्ठता और निश्चितता के अभाव के कारण उन्होंने इसे अराकताग्रस्त बताकर ऐतिहासिक आलोचना के समान ही हेयता की कोटि में डाल दिया है।

आर्नल्ड के अनुसार, **वास्तविक आलोचना** ही आलोचक के लिए काम्य है। जिस प्रकार उन्होंने ऐतिहासिक या वैयक्तिक आलोचना की व्याख्या की है, उस प्रकार वास्तविक आलोचना के संबंध में स्पष्ट कुछ नहीं कहा है। किंतु आलोचना के संबंध में उनकी मान्यताओं के विश्लेषण से **वास्तविक आलोचना** की निम्नलिखित विशेषताएं मानी जानी चाहिए :

(क) **काव्य-सौंदर्य** और **काव्य-सत्य** के निर्धारित नियमों की सीमा में उसे **जीवन की आलोचना** होना चाहिए; (ख) उसमें **निस्संगता** (disinterestedness) होनी चाहिए; (ग) उसमें यह क्षमता होनी चाहिए कि संसार में जो भी सर्वोत्तम ज्ञान और विचार उपलब्ध हैं उनके आलोक में **ताजे विचारों** को उत्पन्न कर सके; साथ ही, उन्हें प्रचारित भी कर सके। यदि आलोचना कुछ सीखने और विचारने का साधन नहीं बनती तो वह अपने लक्ष्य से च्युत होती है। आर्नल्ड काव्य में **नैतिकता** के प्रबल आग्रही हैं। उनका यहां तक कहना है कि "नैतिक विचारों का विद्रोही काव्य जीवन का विद्रोही काव्य है; नैतिक विचारों से उदासीन काव्य जीवन से उदासीन काव्य है।"[६] काव्य और जीवन में नैतिकता की इतनी जोरदार वकालत शायद ही किसी ने की हो।

आर्नल्ड की आलोचना बहुत ही व्यापक और उदार हैं। उन्होंने देखा कि आलोचना के क्षेत्र में फ्रांस और जर्मनी आगे हैं। इस त्रुटि को दूर करने का उन्हें सुगम मार्ग यह प्रतीत हुआ कि आलोचना को राष्ट्रीय सीमाओं में बांधने के बदले उसके व्यापक रूप को अपनाया जाए। उन्होंने संपूर्ण यूरोप को ही नहीं बल्कि समस्त

६. A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.
—Selected Essays; p. 129.

सभ्य राष्ट्रों को एक साहित्यिक और बौद्धिक संघ[7] के रूप में देखने का आग्रह किया और उसकी चिंतन-धारा को ग्रहण करने की सलाह दी। उन्होंने अंग्रेजी आलोचना की पृथक्तावादी नीति तथा संकीर्णता[8] को छोड़ने का सुझाव रखा। फ्रांसीसी, जर्मन आदि आधुनिक साहित्यों के साथ उन्होंने ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन साहित्यों के अध्ययन-मनन को भी अनिवार्य बताया और इस प्रकार उन्होंने उस आलोचना-पद्धति की नींव डाली जिसे आज **तुलनात्मक आलोचना** कहा जाता है। इससे आर्नल्ड की वैचारिक उदारता ही प्रकट नहीं होती, बल्कि ज्ञान के क्षेत्र में देशकाल के बंधन का विरोध भी परिलक्षित होता है। जिसने इंग्लैंड के अभिजातवर्ग को बर्बर कहने में संकोच नहीं किया, उसकी यह दृष्टि और प्रवृत्ति आश्चर्यकर नहीं।

आर्नल्ड ने अभिजात-साहित्य के तीन भेद किये हैं—(क) **संदिग्ध** (dubious), (ख) **मिथ्या** (false) और (ग) **वास्तविक** (real)। **संदिग्ध** अभिजात-साहित्य वह है जो अभिजात की श्रेणी में अभी आया नहीं है किंतु उसके आने की संभावना है। ऐसे साहित्य का सूक्ष्म परीक्षण होना चाहिए और परीक्षण के बाद यदि वह अभिजात की कसौटी पर खरा उतरता है तो उसे स्वीकृति मिलनी चाहिए। **मिथ्या** अभिजात-साहित्य वह है जिसमें बाहरी चमक-दमक तो होती है किंतु आंतरिक गंभीरता नहीं होती। उसका प्रभाव तत्काल तो अनुकूल पड़ता है किंतु परीक्षण के पश्चात् उसकी रिक्तता प्रकट हो जाती है। **वास्तविक** या सच्चा अभिजात-साहित्य वह है जिससे **आनंद** और **सांत्वना**, दोनों की प्राप्ति होती है। कीट्स के अनुसार, ऐसी ही रमणीय वस्तु शाश्वत आनंद का साधन बनती है (A thing of beauty is a joy for ever)।

प्रश्न उठता है कि ऐसे साहित्य की परख कैसे की जाए? इसके लिए आर्नल्ड ने एक पद्धति सुझायी है जिसे उन्होंने 'निकष-पद्धति' (touch-stone method)[9] कहा है। जैसे किसी वस्तु को तौलने के लिए बाट काम में लाये जाते हैं, वैसे ही काव्य के महत्त्व और सौंदर्य को आंकने के लिए भी महान् कवियों की रचनाओं से सौंदर्य-संवलित उत्कृष्टतम पंक्तियां स्मरण रखनी चाहिए और किसी काव्य की उत्तमता (excellence) की परीक्षा करने के लिए उन्हें ही निकष बनाना चाहिए। यदि

७. Let us conceive of the whole group of civilised nations as being, for intellectual and spiritual purposes, one great confederation, bound to a joint action and working towards a common result; a confederation whose members have a due knowledge both of the past, out of which they are to proceed, and of one another. —Selected Essays; p. 119.

८. By the very nature of things, as England is not all the world, much of the best that is known and thought in the world cannot be of English growth, must be foreign......The English critic of literature, therefore, must dwell much on foreign thought. —Selected Essays; p. 42.

९. Indeed there can be no more useful help for discovering what poetry belongs to the class of the truly excellent and can, therefore, do us most good, than to have always in mind lines and expressions of the great masters and to apply them as a touchstone to other poetry......Short passages, even single lines, will serve our turn quite sufficiently. —Selected Essays; pp. 54-55.

परीक्ष्य काव्यवस्तु और अभिव्यंजना की दृष्टि से उन उत्कृष्टतम पंक्तियों के समकक्ष हो तो उसका उत्कर्ष स्वीकार किया जा सकता है। 'दि स्टडी ऑफ पोइट्री' नामक अपने निबंध में आर्नल्ड ने होमर, दांते, शेक्सपियर और मिल्टन से कुछ पंक्तियां निकष-पद्धति के निदर्शन के रूप में उद्धृत की हैं।

इस निकष-पद्धति की युक्तियुक्तता संदेह से परे नहीं है। इसमें कई प्रकार की असंगतियां आ खड़ी होती हैं। (क) १९५३ ई० के अपने कविता-संग्रह की भूमिका में आर्नल्ड ने बड़ी दृढ़ता से कहा कि काव्य-सौंदर्य की चर्चा के प्रसंग में एक-दो पंक्तियां या संक्षिप्त उद्धरण बहुत उपयोगी नहीं होते। काव्य का वास्तविक उत्कर्ष उसके समग्र रूप और व्यापक वैशिष्ट्य में ही ढूंढ़ना चाहिए। इस विचार का निकष-पद्धति के सिद्धांत से स्पष्ट विरोध है। एक ओर काव्य-सौंदर्य के निर्धारण में संक्षिप्त उद्धरणों को अनुपयोगी मानना और दूसरी ओर संक्षिप्त उद्धरणों को ही सौंदर्य की उत्तमता का निकष बनाना परस्पर-विरोधी मान्यताएं हैं। (ख) महान् कवि के समान महान् आलोचक की भी संदृष्टि (vision) विराट् होनी चाहिए। समग्रता का आकलन करने वाली उस संदृष्टि की तुष्टि कुछ पंक्तियों से कैसे हो सकती है? (ग) फिर, कवि या काव्य की किन्हीं भी पंक्तियों के संबंध में यह कैसे कहा जा सकता है कि वे ही पंक्तियां उत्कृष्टतम हैं। यदि ऐसी बात हो तो वह काव्य अभिजात या महान् कहलाने का अधिकारी ही नहीं रह जाता। दो-चार पंक्तियां तो अति-साधारण कवि की भी उत्कृष्ट हो जाती हैं। (घ) अन्ततः यह पद्धति आत्मनिष्ठ और प्रभाववादी बन जाती है जिसका कोई निर्भ्रान्त मानदंड नहीं रह जाता क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न अंश उत्कृष्टतम प्रतीत हो सकते हैं। अतः आर्नल्ड ने जिसे वास्तविक आलोचना या मूल्यांकन कहा है, उससे भी इसका विरोध स्पष्ट है।

कहने का अभिप्राय यह है कि आर्नल्ड द्वारा कल्पित यह 'निकष-पद्धति' व्यावहारिकता के निकष पर खरी नहीं उतरती।

आर्नल्ड ने काव्य को 'जीवन की आलोचना' कहा है। कुछ हेर-फेर के साथ यह उक्ति उनके निबंधों में चार बार मिलती है। इस उक्ति के अर्थ को लेकर उत्तरवर्ती आलोचकों में काफी मतभेद दिखायी पड़ता है। भरत के रस-सूत्र के समान विभिन्न विद्वानों ने इस उक्ति की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की हैं जिनके जाल में आर्नल्ड का वास्तविक अभिप्राय छिप-सा गया है। एक विद्वान् का कहना है कि जीवन की आलोचना का अर्थ जीवन की कल्पनात्मक पुनर्निर्मिति ((imaginative recreation) है। एक दूसरे विद्वान् का कहना है कि अरस्तू की 'अनुकृति' की तरह आर्नल्ड की 'जीवन की आलोचना' का अर्थ है 'जीवन का चित्रण'। स्वयं आर्नल्ड के अनुसार, जीवन की आलोचना का अर्थ है जीवन में उदात्त और गंभीर विचारों का विनियोग। "किसी कवि की महत्ता इसमें है कि वह जीवन में विचारों का कितना शक्तिशाली तथा सुंदर विनियोग करता है; तात्पर्य कि इस प्रश्न के समाधान में कि

कैसे जीना चाहिए।"[१०] काव्य जीवन का वैसा चित्रण नहीं है जैसा फोटो में पाया जाता है। उसमें आदर्श जीवन का निरूपण रहता है जिसकी उपलब्धि के लिए प्रयास अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में कहें कि काव्य में निरूपित विचारों का जीवन के साथ सामंजस्य होना चाहिए; काव्य में काव्य-सत्य और काव्य-सौंदर्य का समन्वय होना चाहिए। जहां यह नहीं है, वहां काव्यत्व भी नहीं है। काव्य-सत्य से आर्नल्ड का अभिप्राय **विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता** से है और काव्य-सौंदर्य का अभिप्राय **अभिव्यंजना के चारुत्व से**। ऐसा ही काव्य आनंद दे सकता है और सांत्वना भी। सारांश यह कि जीवन की आलोचना का अर्थ है जीवन का **आदर्शीकृत पुनर्निर्माण**।

'जीवन की आलोचना' की उक्ति को लेकर जो बावेला मचाया गया है वह या तो अपने प्रौढ़ि-प्रदर्शन के लिए है या आर्नल्ड में दोष निकालने के लिए। आर्नल्ड ने बड़ी सीधी-सादी बात कही है। वस्तुतः कला को जीवन की आलोचना कहने के पीछे आर्नल्ड का उद्देश्य था उन मतवादों का खंडन करना जो काव्य में जीवन के चित्रण को उपेक्षणीय मानते थे। ऐसे तीन मुख्य मतवाद थे—एक तो कलावाद जो 'कला कला के लिए' का आदर्श प्रचारित करता था। दूसरा था स्पैज़्मोटिक काव्यांदोलन जो कवि की केवल आंतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति पर बल देता था। तीसरा था १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण का रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) आंदोलन जो कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को ही प्रधानता देता था। आर्नल्ड के पूर्ववर्ती इन तीनों मतवादों में जीवन की उपेक्षा थी जो आर्नल्ड को स्वीकार्य नहीं थी। अतः उन्होंने बल देकर यह कहा कि जीवन-निरपेक्ष काव्य काव्य ही नहीं है। उनकी उक्ति में आलोचना का अर्थ 'व्याख्या' है अर्थात् काव्य में जीवन की व्याख्या होनी चाहिए, जीवन की समस्याओं का निरूपण होना चाहिए।

आर्नल्ड का कहना है कि साहित्य या कला की महान् कृतियों की उत्पत्ति में सर्जन-शक्ति का उपयोग सभी युगों और सभी परिस्थितियों में संभव नहीं होता। जब तक अनुकूल वातावरण उपलब्ध नहीं होता तब तक कोई प्रयास सफल नहीं हो सकता। अनुकूल परिस्थिति और वातावरण के आने तक उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए, तैयारी करनी चाहिए क्योंकि जिन उपकरणों और तत्त्वों से महान् कृतियों का उद्भव होता है, वे सदा प्राप्त नहीं होते। साहित्य में विचार ही वे तत्त्व हैं जिनका सर्जन-शक्ति उपयोग करती है और सर्वोत्तम विचार वे हैं जो उस युग में प्रचलित हों। प्रचलित विचारों को ग्रहण कर के ही सर्जनात्मक साहित्यिक प्रतिभा क्रियाशील होती है। वह नये विचारों का अन्वेषण नहीं करती क्योंकि नये विचारों का अन्वेषण दार्शनिक का काम है। साहित्य के प्रतिभाशाली स्रष्टा का काम तो **संश्लेषण और उद्घाटन** है, विश्लेषण और अन्वेषण नहीं। इच्छामात्र से उत्कृष्ट साहित्य के योग्य उर्वर वातावरण नहीं मिलता। यही कारण है कि साहित्य में महान् सर्जनात्मक युग

१०. Poetry is at bottom a criticism of life; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life,—to the question : How to live.

—Selected Essays; p. 129.

अत्यंत विरल हुआ करते हैं। अतिविशिष्ट साहित्यिक सर्जन में दो शक्तियों का एकीभाव अत्यंत अपेक्षित है और वे हैं **मनुष्य की शक्ति** (power of the man) तथा **क्षण (समय) की शक्ति** (power of the moment) समय की शक्ति के अभाव में मनुष्य की शक्ति का बहुत महत्त्व नहीं होता। सर्जनात्मक शक्ति के विवर्तन के लिए कुछ निश्चित तत्त्व आवश्यक हैं जो सर्जनात्मक शक्ति के नियंत्रण में नहीं रहते। जब तक वे तत्त्व उपलब्ध नहीं हो जाते तब तक सर्जनात्मक शक्ति निष्क्रिय पड़ी रहती है। इसीलिए मनुष्य (स्रष्टा) के साथ अनुकूल समय का महत्त्व निस्संदिग्ध है।

काव्य में उपयोग के लिए कवि को जीवन और संसार का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। चूंकि आधुनिक युग में जीवन और संसार बहुत जटिल हो गये हैं, इसलिए आधुनिक कवि की सृष्टि का समधिक मूल्य तभी संभव है जब उसके पीछे विपुल आलोचनात्मक श्रम लगा हो। तात्पर्य कि कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा का समन्वय आवश्यक है। भावयित्री प्रतिभा का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी आर्नल्ड यह मानते हैं कि उसकी तुलना में कारयित्री प्रतिभा श्रेष्ठ है; दूसरे शब्दों में, आलोचना की अपेक्षा काव्य श्रेष्ठ है; आलोचक की अपेक्षा कवि श्रेष्ठ है। (The critical faculty is lower than the inventive).

आर्नल्ड प्रसिद्ध फ़्रांसीसी आलोचक सेंत ब्व्ह से बहुत प्रभावित थे। स्वभावतः उनके सिद्धांतों को उन्होंने अनेकत्र स्वीकार किया है। सेंत ब्व्ह का ही अनुकरण करते हुए आर्नल्ड ने कवि के जीवन और उसकी कृति में संबंध-स्थापन का प्रश्न उठाया है। आर्नल्ड का कहना है कि परिवेश से अलग रखकर कवि की या उसकी कृति का विचार संभव नहीं है। किसी साहित्यिक कृति में कवि के व्यक्तित्व की निर्णायक भूमिका होती है और कृति पर उसका प्रभाव भी पड़ता ही है। इसलिए कवि के जीवन को बिना जाने उसकी कृति की समुचित आलोचना नहीं हो सकती। कृति के सम्यक् बोध के लिए कवि के जीवन की मुख्य घटनाओं, तथ्यों, तिथियों, परिवार के सदस्यों, यहां तक कि मित्रमंडली आदि से भी संबद्ध जानकारी अपेक्षित है। जीवनी-विषयक यह विवरण और इससे प्राप्त कवि के व्यक्तित्व का परिज्ञान ही उसकी रचनाओं के समुचित मूल्यांकन में सहायक हो सकता है अर्थात् किसी कृति के मूल्यांकन में उसके कर्त्ता की जीवनी का ज्ञान अनिवार्य है। इस सिद्धांत को सर्वथा निरुपयोगी तो नहीं कहा जा सकता किंतु इसे अनिवार्य भी नहीं माना जा सकता। इसीलिए इलियट ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आलोचक का ध्यान कृति पर होना चाहिए, कृतिकार पर नहीं।

इस सिद्धांत को निस्संगता के प्रबल आग्रही आर्नल्ड भी तटस्थ भाव से व्यवहार में नहीं ला सके हैं। कवि की कृति और उसकी जीवनी में अनिवार्य संबंध हो ही, यह जरूरी नहीं है। उदाहरणार्थ, उसके जीवन में अनैतिक घटनाएं हुई हो सकती हैं, किंतु रचना बिलकुल नैतिक हो सकती है। जीवन की अनैतिक घटनाओं से परिचय हो जाने पर यह सर्वथा संभव है कि आलोचक को काव्य में भी अनैतिकता दिखने लगे। प्रमाणस्वरूप स्वयं आर्नल्ड का नैतिक आग्रह और पक्षपात उनके मूल्यांकन में

बाधक हुआ है जैसा शेली या कीट्स की आलोचना में स्पष्ट है। जहां भी आर्नल्ड नैतिक त्रुटियां पाते हैं वहां उनका संतुलन बाधित हो जाता है और वे काव्य को सदोष मानने लगते हैं।

आर्नल्ड दो प्रकार के लेखक मानते हैं—एक तो **प्रतिभा-संपन्न** और दूसरे **योग्यता-संपन्न**। 'जीवन की आलोचना' दोनों का लक्ष्य हो सकती है किंतु दोनों में अंतर यह है कि प्रतिभा-संपन्न लेखकों की आलोचना मानव-जाति को स्थायी रूप से स्वीकार्य होती है, उसमें देशकाल की सीमा नहीं होती। इसके प्रतिकूल योग्यता-संपन्न लेखकों की रचनाएं अस्थायी होती हैं, साथ ही देशकाल की सीमा से बद्ध भी। अधिकतर लेखक इसी श्रेणी में आते हैं जो अपने देश या काल की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाते।

मूल्यांकन

१. आर्नल्ड को प्रथम आधुनिक आलोचक या महान् आधुनिक आलोचक कहा गया है क्योंकि अंग्रेजी की आधुनिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं से होता है। उनके पहले एक ही नाम उल्लेख्य है और वह है कोलरिज का किंतु दोनों की दृष्टि में भेद है। कोलरिज काव्य के अंतर्निहित तत्त्वों के अधीती अन्वेषक थे और उनकी दृष्टि मूलत: सैद्धांतिक थी। इसके विपरीत आर्नल्ड की दृष्टि विशुद्ध व्यावहारिक थी। वे आलोचक के लिए अरस्तू या लोंगिनुस होना आवश्यक नहीं मानते थे, जो विरेचन या उदात्त जैसे सिद्धांत का निरूपण कर काव्य में उसका विनियोग करे; वे आलोचक को मनोविज्ञानी या सौंदर्यशास्त्री के रूप में भी देखने के आग्रही नहीं थे जो भंगी-भेद से काव्य का विवेचन करे और बताए कि कल्पना या रचना-प्रक्रिया या सौंदर्य क्या है; वे आलोचना को दर्शन की शाखा स्वीकार करने को भी तैयार नहीं थे; क्लासिकल और रोमांटिक जैसे भेदों के पचड़े में पड़ना भी उन्हें अभिमत नहीं था। वे आलोचना की स्वतंत्रता-स्वायत्तता के पक्षधर थे और उसे काव्य के गुण-दोष-परीक्षण तथा पाठकवर्ग के रुचि-परिष्कार में विनियोजित करना चाहते थे।

२. वर्ड्सवर्थ के संकेत का उपबृंहण करते हुए आर्नल्ड ने काव्य को मानसिक स्वास्थ्य एवं सांत्वना का साधन घोषित किया और बल देकर कहा कि काव्य के द्वारा मनुष्य का नैतिक उन्नयन किया जा सकता है तथा उसे सभ्य बनाया जा सकता है। उनका विश्वास था कि समाज के आध्यात्मिक आरोग्य के लिए सांस्कृतिक उत्कर्ष अनिवार्य है और काव्य से बढ़कर सांस्कृतिक उत्कर्ष का पोषक और कुछ नहीं है। स्पष्टत: काव्य को वे सभ्यता और संस्कृति का अपरिहार्य अंग अंगीकार करते थे।

३. आर्नल्ड ने अपने अव्यवहितपूर्व (१९वीं शताब्दी के प्रथम चरण) के रोमांटिक सिद्धांतों का प्रत्याख्यान कर युगानुरूप नवीन मान्यताओं के निर्माण एवं स्थापना के लिए प्राचीन यूनानी आभिजात्यवादी (क्लासिकल) सिद्धांतों को आदर्श बनाया। होमर, यूनानी दु:खांतककार, अरस्तू आदि उनके प्रेरणा-स्रोत थे। एक तरह से इंग्लैंड में उन्होंने यूनानी पुनरुज्जीवन (revival) की भूमि तैयार की और शास्त्रवाद का

महत्त्व प्रतिपादित किया। उन्होंने प्राचीन और नवीन के बीच सेतु का काम किया और बल देकर कहा कि परंपरा से विच्छिन्न नवीनता अपूर्ण तथा अनुपादेय है। उनके इस सूत्र को इलियट ने आगे बढ़ाया।

४. आर्नल्ड की आलोचना केवल काव्य तक सीमित नहीं है; उसकी सीमा का विस्तार संस्कृति, धर्म, शिक्षा आदि तक है। काव्य को जीवन की आलोचना कहने का अभिप्राय ही है जीवन को समग्रता में देखना और जीवन के किसी पक्ष की उपेक्षा न करना। जब काव्य जीवन-सापेक्ष हुआ तब आलोचना जीवन-सापेक्ष कैसे नहीं होगी? स्वभावतः आलोचना को उन्होंने बृहत्तर परिधि में रखकर देखने का सुझाव दिया क्योंकि उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन केवल आनंद देना नहीं, बल्कि जीवन को सार्थक और समृद्ध बनाना है। जब आलोचक किसी कविता पर विचार करता है तो उसे साथ-साथ कवि और तद्‌युगीन सभ्यता-संस्कृति के स्वरूप पर भी ध्यान देना चाहिए।

५. समस्त यूरोप को एक बौद्धिक संघ के रूप में देखने का प्रस्ताव आर्नल्ड के उस विशाल वैचारिक परिप्रेक्ष्य को आलोकित करता है जिसमें देश-काल की संकीर्णता का कहीं स्थान नहीं है। अपने देश के संकीर्णताग्रस्त अभिजातवर्ग को बर्बर कहने तक में आर्नल्ड को कोई संकोच नहीं हुआ। उन्होंने अंग्रेज जाति की पृथक्तावादी नीति एवं भावना का जोरदार विरोध किया और अपने साहित्य को यूरोप के अन्य नवीन-प्राचीन साहित्यों के बीच रखकर समझने-परखने का प्रस्ताव किया जिसके फलस्वरूप तुलनात्मक साहित्य का क्षितिज विस्तृत हुआ। अंग्रेज कवियों और लेखकों के समानांतर यूनान और इटली से लेकर जर्मनी और फ्रांस तक के कवियों-लेखकों की रचनाओं के उद्धरण उनके अध्ययन की व्यापकता के प्रमाण हैं। ये उद्धरण विस्तृत फलक पर साहित्य के आस्वादन और मूल्यांकन की प्रेरणा भी देते हैं, रुचि भी जगाते हैं। इलियट ने अपने लेखन में आर्नल्ड के इस विचार को भी पल्लवित किया है।

६. आर्नल्ड के पूर्ववर्ती आलोचक राजनीतिक, ऐतिहासिक आदि पूर्वग्रहों से आक्रांत थे; शुद्ध साहित्यिक विवेचन की उनमें कमी थी। आर्नल्ड ने कहा कि साहित्येतर मानदंड साहित्य के मूल्यांकन में बाधक हैं, अतः उनका परित्याग आवश्यक है। आलोचक को निस्संग (disinterested) होना चाहिए अर्थात् साहित्य के बोध, आस्वाद या मूल्यांकन में किसी ऐसे तत्त्व को प्रमुखता नहीं देनी चाहिए जिसका साहित्य से साक्षात् संबंध न हो। निस्संगता वाला सूत्र भी इलियट को आर्नल्ड से प्राप्त हुआ है।

७. आर्नल्ड ने सेंत बव्ह का अनुसरण करते हुए मूल्यांकन की प्रामाणिकता के लिए रचना के साथ रचनाकार-संबंधी वैयक्तिक जानकारी को उपादेय माना। सेंत बव्ह का कहना है कि किसी रचना को ठीक से समझने के लिए रचनाकार, उसके युग और वातावरण का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि युग और वातावरण से निरपेक्ष रचनाकार का अस्तित्व नहीं होता। रचनाकार का व्यक्तित्व उसकी रचना के रूप-ग्रहण का अनिवार्य आधार है। इसलिए जब तक रचनाकार के व्यक्तित्व से संबद्ध

जानकारी उपलब्ध न हो तब तक रचना की विशेषताओं का आकलन समीचीन नहीं होगा। तात्पर्य कि किसी रचना को समझने के लिए रचनाकार की जीवनी का ज्ञान अपेक्षित है। यों, सिद्धांत-रूप में यह बात तो संगत ही प्रतीत होती है किंतु व्यवहार में कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। किसी रचनाकार की जीवनी सदा उसकी रचना को समझने में साधक ही नहीं होती, कभी-कभी बाधक भी होती है। उदाहरणार्थ, रचनाकार के चरित्र की नैतिक निर्वलताएं जब उसकी रचना पर आरोपित कर ली जाती हैं, तब उत्तम रचना का आस्वादन भी विघ्नित हो जाता है। स्वयं आर्नल्ड के ही नैतिक पूर्वग्रह शेली या कीट्स के मूल्यांकन में बाधक हुए हैं। 'सच्ची आलोचना का लक्ष्य कवि नहीं, काव्य है' के उद्घोषक तथा रचना से रचनाकार को सर्वथा पृथक् रखने के आग्रही इलियट भी शेली और कीट्स की आलोचना के प्रसंग में तटस्थ नहीं रह सके हैं। इसलिए रचनाकार की जीवनी का ज्ञान सर्वथा निरापद् मानदंड नहीं है।

८. काव्य की उत्तमता के निर्धारण के लिए आर्नल्ड द्वारा प्रस्तावित 'निकष-पद्धति' भी निर्दोष नहीं है, यह हम देख चुके हैं। जीवनी की तरह 'निकष-पद्धति' भी किसी रचना के मूल्यांकन में सहायक हो सकती है किंतु सर्वदा और सर्वथा विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

९. आर्नल्ड ने वस्तु और रूप अर्थात् विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य पर बल दिया है और दोनों को समान महत्त्व का बताया है। उनकी शैलीविषयक धारणा मूलतः आभिजात्यवादी (classical) है जिसमें सरलता, संयम तथा परिष्कार अनुस्यूत हैं। इलियट भी आभिजात्यवाद के पक्षधर हैं।

१०. प्रगीत (lyric) में आर्नल्ड की कोई रुचि नहीं है। यह शायद इसलिए कि प्रगीत आत्मनिष्ठ और भावोच्छल होता है और ये दोनों विशेषताएं आभिजात्यवाद के विपरीत पड़ती हैं। अरस्तू ने भी 'प्रगीत' के प्रति उदासीनता ही दिखायी है।

११. आर्नल्ड की आलोचना में दार्शनिक गूढ़ता अथवा अमूर्तता नहीं है। उनके विचार स्पष्ट तथा संगत एवं अभिव्यंजना प्रांजल तथा सुगम है। 'बर्बर' और 'भोगासक्त' जनसमुदाय में साहित्यिक रुचि जगाने के लिए ऐसी ही आलोचना अपेक्षित थी। उन्होंने पाठकवर्ग की बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखकर अपनी आलोचना लिखी है।

इलियट के मत से आर्नल्ड साहित्य के प्रचारक हैं, आलोचक नहीं। ऐसा कहते समय इलियट आर्नल्ड के युग तथा वातावरण दोनों को नजरअंदाज कर देते हैं; साथ ही, यह भी भूल जाते हैं कि उनकी आलोचना के अधिकतर सूत्र आर्नल्ड के द्वारा ही उद्भावित हैं। यह और बात है कि आर्नल्ड में जो बातें बीजरूप में हैं वे इलियट में पुष्पित-पल्लवित हो गयी हैं; स्थूलता सूक्ष्मता में परिणत हो गयी है पर उत्स निस्संदेह आर्नल्ड ही हैं। जिस युग में और जिस उद्देश्य को लेकर आर्नल्ड आलोचना में प्रवृत्त हुए थे उसे यदि ध्यान में रखें तो उनकी आलोचना का महत्त्व मानना पड़ता है। यह ठीक है कि आज आर्नल्ड की मान्यताओं,

मानदंडों तथा पद्धतियों की प्रासंगिकता क्षीण पड़ गयी है कारण कि अंग्रेजी आलोचना ने तब से बहुत लंबी दूरी तै कर ली है; फिर भी आलोचक के रूप में उनकी गरिमा अक्षुण्ण है। अंग्रेजी आलोचना के विकासपथ के वे ऐसे मोड़ हैं जिसे छोड़कर न तो पीछे के विकास का सम्यक् आकलन संभव है और न आगे के विकास का।

स्कॉट-जेम्स ने आर्नल्ड की विशेषताओं का निम्नलिखित संदर्भ में बहुत समीचीन आकलन किया है: 'हम में से कौन उस आलोचक को श्रद्धांजलि नहीं अर्पित करेगा जिसके संबंध में सचाई से यह कहा जा सकता है कि उसने जीवनयंत्र के दांते से अपने को मुक्त किया; उसने ज्ञान के लिए ज्ञान का अनुवर्तन किया; उसने माधुर्य और आलोक के लिए विचारों में अभिरुचि ली; उसने उत्तम विचारों के प्रसार तथा जीवन में विनियोग के लिए निरंतर प्रयास किया; उसने जो नूतन ज्ञान प्राप्त किया था, उसे संसार में संचारित किया; और, विश्व के विचार-प्रवाह के केंद्र में सदा रहने की चेष्टा करते हुए उसने क्षेत्रीयता की भ्रांतियों को दूर रखा।"[११]

११. Which of us would not pay homage to the critic of whom it could be truely said: He freed himself from the cogs of life's machinery, he pursued knowledge for its own sake, he loved ideas for their sweetness and light, he sought unremittingly to make the best ideas prevail and to apply them to life, he communicated to the world the fresh knowledge he had found, and he avoided the errors of provincialism, endeavouring always to set himself at the centre of the current of the world thought?
—Scott-James, R.A; The Making of Literature: p. 275-76.

बेनेदेत्तो क्रोचे

[१८६६-१९५२]

क्रोचे (Benedetto Croce) का जन्म इटली के प्रसिद्ध नगर नेपुल्स में १८६६ ई० में हुआ था। संपन्न परिवार में जन्म लेने के कारण क्रोचे आर्थिक चिंता से मुक्त थे। उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि जो समय जीविकोपार्जन में जाता वह साहित्यिक और दार्शनिक शोध में व्यतीत हुआ। बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा प्रवर्तित अभिव्यंजनावाद नामक साहित्य-सिद्धांत आलोचना-जगत् में चर्चा का विषय रहा है। क्रोचे इटली की संसद् (सेनेट) के सदस्य और मंत्री भी थे। इस प्रकार उनके कार्य और अनुभव का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक रहा, जिसका प्रभाव उनकी चिंतन-पद्धति पर परिलक्षित होता है। उनकी मृत्यु १९५२ ई० में हुई।

अभिव्यंजनावाद क्रोचे की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार है जिसका विशद विवेचन 'ईस्थेटिक'[1] नामक ग्रंथ में हुआ है। १९०० ई० में नेपुल्स में सौंदर्यशास्त्र पर क्रोचे ने तीन भाषण दिये। उन्हीं का विस्तृत रूप यह ग्रंथ है। इतालवी भाषा में लिखित इस ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन १९०२ में हुआ। डगलस एन्स्ले द्वारा प्रस्तुत इसका अंग्रेजी अनुवाद १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ। 'ईस्थेटिक' के दो भाग हैं: प्रथम भाग में सौंदर्यशास्त्र का सैद्धांतिक विवेचन है और द्वितीय भाग में सौंदर्यशास्त्र का इतिहास है। सामान्य पाठकों के काम का प्रथम भाग ही है।

'ईस्थेटिक' शब्द का प्रयोग यूरोप में भी अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। स्वभावतः उसके हिंदी रूपांतर 'सौंदर्यशास्त्र' का प्रयोग और भी नवीन है। ईस्थेटिक शब्द ग्रीक 'आइस्थेसिस'/'आइस्थेतिकोस' से निष्पन्न है जिसका अर्थ है इंद्रिय-प्रत्यक्ष अर्थात् इंद्रिय-ग्राह्य ज्ञान किंतु अब इसका प्रयोग सामान्य ज्ञान के लिए न होकर सौंदर्यात्मक ज्ञान के लिए होता है। इसी से ईस्थेटिक्स का अनुवाद सौंदर्यशास्त्र प्रचलित हुआ है।

आधुनिक अर्थ में इस्थेटिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मन दार्शनिक बाउमगार्टेन (आलेक्सांडर गोटलीब बाउमगार्टेन : १७१४-१७६२ ई०) ने किया। बाउमगार्टेन को सौंदर्यशास्त्र का प्रथम उद्भावक तो नहीं कह सकते क्योंकि इस शास्त्र से

१. ग्रंथ का पूरा नाम है: Aesthetic as Science of expression and general linguistic जो इतालवी मूल Estetica come scienza della' expressione e linguistica generale का अंग्रेजी अनुवाद है।

संबद्ध विषयों का विवेचन बहुत प्राचीन युग से होता आया है परंतु आधुनिक सौंदर्य-शास्त्र का जनक बाउमगार्टेन को ही माना जाता है। कांट और हेगेल ने बाउमगार्टेन से इस शब्द को ग्रहण कर इसे बहुत लोकप्रिय बनाया और अब यह संपूर्ण पश्चिमी जगत् में प्रचलित है। सौंदर्यशास्त्र को सौंदर्य-दर्शन भी कहते हैं जिसमें दर्शन शब्द सिद्धांत का वाचक है; सौंदर्य-दर्शन अर्थात् सौंदर्य-सिद्धांत।

सौंदर्यशास्त्र के प्रमुख विचारणीय प्रश्न हैं: सौंदर्य क्या है? सौंदर्य आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ? सौंदर्य का जीवन में क्या स्थान है? अन्य मूल्यों, जैसे सत्य एवं शिव, से उसका क्या संबंध है? किसी कला-कृति में सौंदर्य कैसे आकार ग्रहण करता है? उसके क्या साधन हैं, क्या नियम हैं? आदि-आदि।

जिन प्रश्नों का ऊपर उल्लेख है उनपर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। दृष्टि-भेद से शास्त्र-भेद भी हो जाता है। जैसे, गुलाब के फूल के क्या गुण हैं, यह आयुर्विज्ञान का विषय है। गुलाब के अनुकूल मिट्टी, पानी, खाद आदि का विचार कृषि-विज्ञान के अंतर्गत आता है। वनस्पति-विज्ञान गुलाब के फूल का विच्छेदन कर उसकी संरचना पर प्रकाश डालता है। और जब बिहारी कहते हैं कि 'पँखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय' तो यह काव्यशास्त्र की सीमा में आ जाता है। सौंदर्य मुख्यतः दो शास्त्रों—दर्शन और मनोविज्ञान—का विवेच्य है। दर्शन में उसके तत्त्व की मीमांसा होती है और मनोविज्ञान में उसके सर्जन और आस्वादन की। उदाहरणार्थ, सौंदर्य क्या है, इस प्रश्न का उत्तर दर्शन देगा किंतु सौंदर्यानुभूति कैसे होती है, इसका उत्तर मनोविज्ञान देगा।

दर्शन की दो अत्यंत भिन्न धाराएं हैं: आत्मवादी और भौतिकतावादी, जिन्हें पर्याय-भेद से क्रमशः प्रत्ययवादी और जड़वादी भी कहते हैं। दोनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सौंदर्य का विवेचन किया है।

क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक हैं। अतः उनके समग्र सौंदर्य-विवेचन में आत्मवाद प्रतिष्ठित है। क्रोचे के अनुसार, आत्मा की चार मूलभूत किंतु परस्पर भिन्न क्रियाएं हैं। इनमें दो सैद्धांतिक अर्थात् ज्ञान की क्रियाएं हैं और दो व्यावहारिक अर्थात् इच्छा की।

सैद्धांतिक अर्थात् ज्ञान की क्रियाओं के दो भेद हैं: (१) अंतःप्रज्ञात्मक (intuitive) और (२) तर्कात्मक (logical)। व्यावहारिक अर्थात् इच्छा की क्रियाओं के भी दो भेद हैं: (१) आर्थिक (economical) और (२) नैतिक (moral)।[२] इनमें अंतःप्रज्ञात्मक क्रिया ही प्रस्तुतोपयोगी है क्योंकि वही क्रोचे के कला-विवेचन की आधार-भूमि प्रस्तुत करती है।

अंतःप्रज्ञात्मक तथा तर्कात्मक ज्ञान का अंतर दिखाते हुए क्रोचे कहते हैं: "ज्ञान के दो रूप हैं: अंतःप्रज्ञात्मक या तर्कात्मक; कल्पना के द्वारा प्राप्त ज्ञान या बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान; व्यक्ति का ज्ञान अथवा सामान्य का ज्ञान; पृथक्-पृथक् वस्तुओं

२. Aesthetic; p. 55.

का ज्ञान या उनमें विद्यमान संबंधों का ज्ञान; बिंबों का उत्पादक ज्ञान या संप्रत्ययों का उत्पादक ज्ञान।''[३]

तर्कात्मक (logical) को पर्यायभेद से बौद्धिक (intellectual) या संप्रत्यात्मक (conceptual) भी कहते हैं। ज्ञान के उपर्युक्त दोनों प्रकारों का स्पष्ट पार्थक्य यों है :

अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान	तर्कात्मक (बौद्धिक) ज्ञान
१. कल्पना के द्वारा प्राप्त	१. बुद्धि के द्वारा प्राप्त
२. व्यक्ति (individual) का ज्ञान	२. सामान्य (universal) का ज्ञान
३. पृथक्-पृथक् वस्तुओं का ज्ञान	३. वस्तुओं के संबंधों का ज्ञान
४. बिंबों (images) का उत्पादक ज्ञान	४. संप्रत्ययों (concepts) का उत्पादक ज्ञान

अंत:प्रज्ञा (Intuition)

क्रोचे की कलाविषयक धारणा की आधारशिला है अंत:प्रज्ञा (intuition) और अभिव्यंजना (expression) का नित्यसंबंध। इसलिए इनकी व्याख्या अपेक्षित है।

अंग्रेजी के इंटयूशन शब्द के लिए हिंदी में कोई सर्वमान्य और सटीक पर्याय नहीं है। स्वयंप्रकाश ज्ञान, सहज ज्ञान, सहजानुभूति, अंतर्ज्ञान, अंतर्बोध, अंत:प्रज्ञा आदि अनेक शब्द प्रयोग में आते हैं। अत: किसी में अर्थ की स्थिरता और परिशुद्धता (accuracy) नहीं आ पायी है। सच्ची बात यह है कि इंट्यूशन के अंतर्निहित अर्थ की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति इनमें से किसी शब्द के द्वारा नहीं हो पाती। कोई एक ही शब्द प्रयुक्त होने लगे तो कुछ दिनों में वह इंट्यूशन का सटीक रूपांतर बन जाएगा। हमने वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत 'अंत:प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया है।

किसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान प्रमाण से होता है। प्रमाण मुख्यत: तीन हैं : (१) प्रत्यक्ष; (२) अनुमान और (३) शब्द। पंच ज्ञानेंद्रियों (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण) से क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का जो ज्ञान होता है वह **प्रत्यक्ष** है। किंतु सभी वस्तुएं प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं बन सकतीं। रात के घने अंधकार में जब कुछ भी दिखायी नहीं देता तो दूर टिमटिमाती रोशनी देखकर हम सोचते हैं कि वहां कोई बस्ती या मकान होना चाहिए। यह ज्ञान हमें **अनुमान** के द्वारा होता है। इसी तरह कहीं उठता हुआ धुआं देखकर हम अनुमान करते हैं कि वहां आग अवश्य होगी। तात्पर्य कि पूर्व प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान से होता है। आप्त (विश्वास-योग्य) व्यक्ति का कथन **शब्द** प्रमाण है। हमने हिमालय की गौरी-

३. Knowledge has two forms: it is either intuitional knowledge or logical knowledge; knowledge obtained through the imagination or knowledge obtained through the intellect; knowledge of the individual or knowledge of the universal; of individual things or of the relations between them; it is, in fact, productive either of images or of concepts. —Aesthetic; p. 1.

शंकर चोटी नहीं देखी पर जिन्होंने उसे देखा है उनके कथन पर विश्वास कर हम गौरीशंकर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। हमारे ज्ञान के ये ही तीन प्रमुख साधन या प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाता है; इसी तरह अनुमान प्रमाण से प्राप्त ज्ञान अनुमान (अनुमिति) और शब्द अर्थात् आप्त प्रमाण से प्राप्त ज्ञान शब्द कहलाता है। संक्षेप में—

प्रत्यक्ष—ऐंद्रिय ज्ञान है।

अनुमान—प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष का ज्ञान है।

शब्द—आप्त वचन से प्राप्त ज्ञान है।

वैज्ञानिक की दृष्टि में प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान ही स्वीकार्य है किंतु दार्शनिक की रुचि केवल दृश्य जगत् तक ही सीमित नहीं है। वह परम तत्त्व या चरम सत्य (ultimate reality) की खोज करते-करते अदृश्य में विचरण करने लगता है। दर्शन को मेटाफिज़िक्स इसीलिए कहते हैं। ग्रीक मेता (meta) =परे; फीज़िका (physica) =प्रकृति अर्थात् प्रकृति के परे; तात्पर्य कि स्थूल, दृश्यमान जगत् के परे। आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार दृश्यमान जगत् के परे अर्थात् अदृश्य जगत् में ही होता है। आत्मा-परमात्मा जैसे निगूढ़ और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से संभव है, न अनुमान से और न शब्द से। तब, उनका ज्ञान हो कैसे? दार्शनिकों का उत्तर है कि अंतःप्रज्ञा से। अंतःप्रज्ञा (intuition) ही वह साधन है जिसके आलोक में अदृश्य भी दिखायी देने लगता है; अव्यक्त भी व्यक्त बन जाता है; अरूप भी रूप ग्रहण कर लेता है। यह एक प्रकार की आत्मिक अनुभूति (spiritual experience) है जो सहसा स्फुरित हो उठती है : यही अनुभूति सोऽहम् (मैं वह हूं); तत् त्वम् असि (तुम वह हो); सर्वं खलु इदं ब्रह्म (यह सब कुछ ब्रह्म ही है) आदि उपनिषद्-वाक्यों में अथवा 'मो को कहां ढूंढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में' आदि संतवाणियों में प्रकट हुई है। योगी को ईश्वर का साक्षात्कार अंतःप्रज्ञा से ही होता है। कवि की अंतःप्रज्ञा ही काव्य में रूपायित होती है। कलाकार की कला भी अंतः-प्रज्ञा की ही अभिव्यक्ति है। अतः दार्शनिक, योगी, कवि, कलाकार अपनी आत्मिक अनुभूति के आधार पर अंतःप्रज्ञा की सत्ता का उद्घोष करते हैं किंतु वैज्ञानिक अंतः-प्रज्ञा को कौन कहे, शब्दप्रमाण को भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि विज्ञान की दृष्टि में वे ही तथ्य या तत्त्व स्वीकार्य हैं जो प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा समर्थित हैं। विज्ञान के अनुसार विकास के प्रवाह में चेतना का सर्वश्रेष्ठ विकास है बुद्धि। इसलिए वैज्ञा-निक की दृष्टि में बुद्धि द्वारा नियंत्रित आचार-विचार ही आदर्श जीवन के परि-चायक या लक्ष्य हैं। अंतःप्रज्ञा के ऊपर निर्भर करना तो अवास्तविक कल्पनालोक में विचारण करना है। मनोविज्ञान का कहना है कि अंतःप्रज्ञा मनोविज्ञान के काम की वस्तु नहीं है क्योंकि वह केवल लोकप्रिय शब्द है, वैज्ञानिक नहीं।[४]

४. Intuition : Immediate perception or judgment, usually with some emotional colouring, without any conscious mental steps, in preparation; a popular rather than scientific term. —A Dictionary of Psychology; Drever, James; Penguin Books; P. 143.

इस वैज्ञानिकता के विरोध में श्री अरविंद जैसे दार्शनिक और योगी का कहना है कि "अंत:प्रज्ञा या आध्यात्मिक अनुभूति कल्पना का विलास नहीं है बल्कि वह उतना ही विश्वसनीय तथा संदेहरहित ज्ञान है जितना प्रत्यक्ष; यही नहीं, वह प्रत्यक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य और सबल है।"

उनके अनुसार अंत:प्रज्ञा की प्रकृति और विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

१. अंत:प्रज्ञा अज्ञात से उन भास्वर संदेशों को मनुष्य तक लाती है जिनसे उच्चतर ज्ञान का आरंभ होता है।[५]

२. अंत:प्रज्ञा हमें उस वस्तु से अवगत कराती है जो हमारे ज्ञान के परे और परोक्ष है।[६]

३. अंत:प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान स्पष्ट, निर्दोष और विश्वसनीय होता है।

अंत:प्रज्ञा (intuition) और बुद्धि (reason) में अंतर :

१. अंत:प्रज्ञा का कार्य है इंद्रियातीत ज्ञान का प्रकाशन।
   बुद्धि का कार्य है भ्रम का निराकरण।
२. अंत:प्रज्ञा संश्लेषण (एकीकरण) का साधन है।
   बुद्धि विश्लेषण (विभाजन) का साधन है।
३. अंत:प्रज्ञा वस्तुओं को अखंड और समग्र रूप में देखती है।
   बुद्धि खंडित और विभक्त वस्तुओं में संबंध स्थापित करती है।
४. अंत:प्रज्ञा और बुद्धि परस्पर पूरक और सहायक हैं। अत: दोनों के समन्वय से प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक, पूर्ण और आदर्श ज्ञान है।

अंत:प्रज्ञा की इस संक्षिप्त व्याख्या से आगे का विवेचन सुगम होगा।

क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट आत्मा की चारों क्रियाओं के चार सह-संबंधी शास्त्र हैं :

अंत:प्रज्ञा-अभिव्यंजना (intuition-expression)	सौंदर्यशास्त्र (aesthetics)
संप्रत्ययन (conceptualization)	तर्कशास्त्र (logic)
आर्थिक क्रिया (economic activity)	अर्थशास्त्र (economics)
नैतिक क्रिया (moral activity)	नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र (ethics)

अंत:प्रज्ञा-अभिव्यंजना

जैसा हम पहले देख चुके हैं, अंत:प्रज्ञा एक प्रकार का आंतरिक ज्ञान या अनुभूति है जो स्वयंप्रकाश है, उसके लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। अंत:प्रज्ञा के साथ अभिव्यंजना का नित्य संबंध है अर्थात् जहां भी अंत:प्रज्ञा होगी, वहां अभिव्यंजना जरूर होगी। यह संभव नहीं कि हम किसी चीज को जानें और

५. Intuition brings to man those brilliant messages from the unknown which are the beginning of higher knowledge. —The Life Divine; Sri Aurobindo; p. 64.

६. Intuition gives us that idea of something behind and beyond all that we know. —Ibid, p. 64.

उसे कह न सकें या जिसे कहें, उसे जानें नहीं। इसलिए जानने का कहने से जैसा संबंध है वसा ही कहने का जानने से। तात्पर्य कि अंत:प्रज्ञा के साथ अभिव्यंजना अनिवार्यत: लगी हुई है। कोई भी अंत:प्रज्ञा अभिव्यंजना के विना या अभिव्यंजना अंत:प्रज्ञा के विना संभव नहीं है। इसी मान्यता पर क्रोचे का सारा सौंदर्य-निरूपण आश्रित है। स्मरण रखना चाहिए कि क्रोचे 'अभिव्यंजना' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करते हैं अर्थात् वह केवल शाब्दिक अभिव्यंजना का ही बोधक नहीं है बल्कि रेखा, स्वर, गति आदि उन सभी माध्यमों का बोधक है जिनसे चित्र, संगीत, नृत्य आदि की किसी भी रूप में अभिव्यंजना होती है।

अंत:प्रज्ञा और अभिव्यंजना का अभेद प्रतिपादित करने के बाद क्रोचे कला के साथ उनका अभेद प्रतिपादित करते हैं। जैसे अंत:प्रज्ञा और अभिव्यंजना में भेद नहीं है, वैसे ही अंत:प्रज्ञा और कला में भी भेद नहीं है अर्थात् प्रत्येक अंत:प्रज्ञा कला है और प्रत्येक कला अंत:प्रज्ञा है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब भी अंत:प्रज्ञा स्फुरित होती है तो वह अभिव्यंजना के द्वारा कला में परिणत हो जाती है। यह पूरी प्रक्रिया आंतरिक है अर्थात् कला की सृष्टि तथा सिद्धि कलाकार के भीतर होती है, बाहर नहीं।[७] वस्तुत: कला की सृष्टि ही नहीं, कला की सत्ता भी बाहर नहीं है। जिस काव्य, संगीत, चित्र या मूर्ति से हम मुग्ध तथा आह्लादित होते हैं, वह पुस्तक, आवाज, कैन्वस या पत्थर में नहीं, केवल कलाकार की आत्मा में है; बाहर जो दीखता है वह कला के आंतरिक रूप का बाह्य प्रतिफलन मात्र है। अत: कला **वस्तु में नहीं**, वस्तु के द्वारा अभिव्यक्त **रूप में है**; तात्पर्य कि **रूप ही कला है**। दूसरे शब्दों में, सौंदर्य-तत्त्व केवल रूप है, रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[८] फलत: कला की भौतिक कृति, जैसे मूर्ति, चित्र या शाब्दिक ध्वनि बाह्य उद्दीपन मात्र है जिससे योग्य भावक में वही सौंदर्यानुभूति (अंत:प्रज्ञा-अभिव्यंजना) उत्पन्न होती है जिससे प्रेरित होकर कलाकार ने उसे मूर्त रूप दिया है।

क्रोचे की स्थापना है कि कला **आंतरिक** होने के साथ **अखंड**[९] है क्योंकि अंत:प्रज्ञा अखंड होती है। अंत:प्रज्ञा जब अखंड होगी तो उसकी अभिव्यंजना भी अखंड होगी; स्वभावत: कला भी अखंड होगी। क्रोचे के इस कथन का अभिप्राय यह है कि कोई भी काव्य, चित्र या मूर्ति अपने पूर्ण, अखंड, अविभक्त रूप में ही कवि के मन में स्फुरित होती है और उस स्फुरण में ही वह अभिव्यंजना या कलात्मक रूप ग्रहण कर

७. The work of art (the aesthetic work) is always **internal**. And what is called **external** is no longer a work of art. —Ibid, p. 51.

८. (a) The aesthetic fact is form and nothing but form. —Ibid, p. 16.
(b) The poet or painter who lacks form, lacks every thing. ......the expression alone, that is to say the form, makes the poet. —Ibid, p. 25.

९. Another corollary of the conception of expression as activity is the indivisibility of the work of art. Every expression is a single expression. Activity is a fusion of the impressions in an organic whole. —Ibid, p. 20.

लेती है।[10] बाद में कवि उस अंतःस्थित रूप को कागज पर केवल कलमबंद करता है और कुछ नहीं। इसी प्रकार चित्रकार के मन में संपूर्ण चित्र एक साथ झलक उठता है; बाद में चित्रकार चित्र-फलक पर जो रेखाएं खींचता है या रंग भरता है, वह इसलिए कि संपूर्ण चित्र को एक साथ अंकित कर देना तूलिका के लिए संभव नहीं है। मूर्तिकार जब छेनी-हथौड़े से पत्थर को काट-तराशकर एक-एक अंग, एक-एक मुद्रा, एक-एक भाव उत्कीर्ण करता है तो यह न समझना चाहिए कि वह मूर्ति धीरे-धीरे तैयार हो रही है। मूर्ति तो मूर्तिकार के मन में पूरी की पूरी तैयार है; पत्थर में उसे केवल वह उत्कीर्ण कर रहा है। इसलिए जो मूर्ति पत्थर में दिखायी देती है वह वास्तविक मूर्ति नहीं है; वास्तविक मूर्ति वह है जो मूर्तिकार की अंतःप्रज्ञा में प्रतिभासित हो चुकी है। यह स्फुरण, झलक या प्रतिभास कलाकार के अंतर में बिजली की कौंध की तरह एकाएक होता है; इसके लिए कोई पूर्व-चिंतन अपेक्षित नहीं होता। यह स्फुरण तत्काल रूप भी ग्रहण कर लेता है; पीछे किसी माध्यम में केवल उसका प्रकटन होता है।

अंतःप्रज्ञा की तरह अभिव्यंजना भी आत्मिक क्रिया है। अभिव्यंजना ही वह साधन है जो संवेदन (sensation) के धुंधले क्षेत्र से भाव या अनुभूति को निकाल कर बोधगम्य बनाती है। अंतःप्रज्ञा भी शून्य में अवस्थित कोई पदार्थ नहीं है। उसके निर्माण में प्रत्यक्षण (perception) और संवेदन (sensation) का योगदान रहता है। सबसे पहले विभिन्न ज्ञानेंद्रियों की सहायता से वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है जो क्रमशः संवेदन में परिणत होकर संस्कार (impression) बन जाता है। यह संस्कार ही प्रेरणा (inspiration) के क्षणों में अंतःप्रज्ञा के रूप में स्फुरित हुआ करता है और अभिव्यंजना की सहायता से कला का रूप ग्रहण करता है। इसीलिए जिस कलाकार का प्रत्यक्षण एवं संवेदन जितना व्यापक, सूक्ष्म और समृद्ध होता है, उसकी कला उतनी ही उत्कृष्ट, मनोरम तथा प्रभावशाली होती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उसके निम्नलिखित निष्कर्ष हैं:

१. अंतःप्रज्ञा और अभिव्यंजना में अभेद है।
२. प्रत्येक अंतःप्रज्ञा कला है।
३. कला-सृष्टि केवल आंतरिक है।
४. कला रूप में है, वस्तु में नहीं।
५. कला अखंड है।

अंतःप्रज्ञा और अभिव्यंजना का अभेद बहुत दूर तक स्वीकार्य है। ध्यान में इतना ही रखना है कि अभिव्यंजना का वह अर्थ क्रोचे को अभिमत नहीं है जो प्रचलित है। अभिव्यंजना का प्रचलित अर्थ है बाह्य अभिव्यक्ति; क्रोचे उसे केवल आंतरिक मानते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि में प्रत्येक अंतःप्रज्ञा अभिव्यंजना भी है क्योंकि जब तक

१०. The aesthetic fact is altogether completed in the expressive elaboration of impressions. When we have achieved the word within us, conceived definitely and vividly a figure or a statue, or found a musical motive, expression is born and complete.
—Aesthetic; p. 50.

अंत:प्रज्ञा अभिव्यंजना नहीं बनती तब तक उसका ज्ञान ही नहीं होगा। क्रोचे की दूसरी मान्यता अर्थात् प्रत्येक अंत:प्रज्ञा कला है, अतिव्याप्ति से रहित नहीं है। कला बनने के लिए अंत:प्रज्ञा में सौंदर्य की सत्ता आवश्यक है और सभी अंत:प्रज्ञाएं सौंदर्यपूर्ण हों ही, यह संभव नहीं। 'तत् त्वम् असि' अंत:प्रज्ञा तो है पर इसमें सौंदर्य क्या है ? ऐसी सपाट उक्ति को कला नहीं कह सकते। कला-सृष्टि को केवल आंतरिक मानना भी आपत्ति से रहित नहीं है। कला-सृष्टि मूलतः आंतरिक है, क्योंकि कला का स्फुरण मन में ही होता है किंतु वह सर्वथा आंतरिक है, यह कहना कठिन है। किसी कला-कृति का जो स्फुरण मन में होता है, वह समस्त, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरणों के साथ नहीं होता। मन में उसकी स्थूल रूपरेखा मात्र स्फुरित होती है; बाह्य अभिव्यक्ति के क्रम में उसमें अनेक परिवर्तन हुआ करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो कवि को उपयुक्त शब्दों को ढूंढ़ने का प्रयास क्यों करना पड़ता या एक बार लिख लेने पर उसमें हेरफेर की गुंजाइश क्यों होती ? ऐसे ही चित्रकार बार-बार रेखाएं खींचता-मिटाता क्यों ? चौथी मान्यता भी अंशत: ही सही है। प्रधानत: कला की स्थिति रूप में है किंतु वह सर्वथा वस्तु-निरपेक्ष नहीं है। अगर ऐसा होता तो सभी वस्तुओं में समान कलात्मक संभावना होती, पर बात ऐसी नहीं है। बहुत दूर तक कलात्मक महत्ता या विशिष्टता वस्तु पर भी निर्भर करती है, उससे निर्देशित तथा नियंत्रित भी होती है। कविता या चित्र की दृष्टि से गुलाब का फूल जितना उपादेय है, उतना पेपर-वेट नहीं।

क्रोचे का कहना है कि सुंदर, सत्य, शिव, उपयोगी, लाभकर, न्याय्य, निर्दोष आदि शब्द आत्मिक क्रिया के उन्मुक्त विकास के और सफल, कलात्मक कृति के बोधक हैं; इसी प्रकार कुरूप, मिथ्या, अशिव, निरुपयोगी, हानिकर, अन्याय्य, सदोष आदि शब्द विघ्नित क्रिया तथा असफल कृति के बोधक हैं।[११] इसलिए **सौंदर्य** की परिभाषा होगी **सफल अभिव्यंजना** या केवल **अभिव्यंजना** क्योंकि यदि अभिव्यंजना सफल नहीं है तो वह अभिव्यंजना है ही नहीं।[१२] फलतः कुरूप का अर्थ केवल असफल अभिव्यंजना है। सुंदर में एकता होती है और कुरूप में अनेकता। इसलिए असफल कला-कृतियों के गुणों में मात्रा-भेद हो सकता है जबकि सुंदर में मात्रा का भेद अशक्य है क्योंकि पूर्ण सुंदर या अधिक सुन्दर जैसी कोई चीज नहीं होती। सुंदर का अर्थ ही है पूर्ण सुंदर; जो पूर्ण नहीं है, वह सुंदर भी नहीं है। इसके प्रतिकूल कुरूप में कम कुरूप, अधिक कुरूप आदि मात्रा-भेद संभव हैं।

क्रोचे की ये दोनों धारणाएं विप्रतिपत्ति से रहित नहीं हैं। यदि कुरूप में मात्रा का भेद संभव है तो कोई कारण नहीं कि सुंदर में भी उसे न माना जाए। रामचरितमानस और रामचंद्रिका के काव्यत्व में सौंदर्य-भेद नहीं है, ऐसा कौन कहेगा ? एक ही वस्तु के दो चित्रों में या दो मूर्तियों में सौंदर्य का मात्रा-भेद देखा जाता है।

११. Aesthetic; p 78
१२. It seems now both permissible and advisable to define beauty as successful expression, or rather, as expression and nothing more, because expression when it is not successful it is not expression. —Aesthetic; p. 79.

क्रोचे कलात्मक निर्माण के चार चरण मानते हैं: १. संस्कार (इंप्रेशन); २. अभिव्यंजना; ३. सौंदर्य-मूलक आनंद; ४. सौंदर्य का भौतिक द्रव्यों (ध्वनियों, तानों, गतियों, रेखाओं और रंगों के मिश्रणों) में रूपांतरण। क्रोचे कहते हैं कि कहने को ये चार चरण हैं पर सही अर्थ में कलात्मक और वास्तविक महत्त्व अभिव्यंजना का ही है। इन चारों चरणों से गुजरने पर कलात्मक प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

अंतःप्रज्ञा पर अत्यधिक बल देने के कारण कुछ लोगों को भ्रम होता है कि क्रोचे काव्य या कला के त्रिविध हेतुओं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—में केवल प्रतिभा का ही हेतुत्व मानते हैं, व्युत्पत्ति और अभ्यास का नहीं; किंतु उपर्युक्त संदर्भ को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि कलात्मक निर्मिति के चार चरणों में प्रथम स्थान उन्होंने संस्कार को दिया है। संस्कार केवल जन्मांतरीय ही नहीं होता, व्युत्पत्ति-जन्य भी होता है। काव्य या कला के लिए जो व्यापक ज्ञान और अनुभव अपेक्षित है, वह विना लोक तथा शास्त्र के अवेक्षण के संभव नहीं है। क्रोचे ने यहां एक बात ध्यान देने योग्य कही है। अधिकतर सौंदर्यशास्त्री स्रष्टा के आनंद की चर्चा नहीं करते; उनकी दृष्टि मुख्यतः भावक पर रहती है। किंतु क्रोचे स्रष्टा को भी आनंद का भागी मानते हैं। अभिव्यंजना की सफलता के बाद अर्थात् कला-कृति की सफल निर्मिति से कलाकार को भी आनंद प्राप्त होता है। तुलसीदास ने जब 'स्वांतः-सुखाय' कहा तो उनके ध्यान में स्रष्टा की ही उत्फुल्लता थी। भावक के आनंद के विश्लेषण में वहुत वार स्रष्टा की उपेक्षा हो गयी है। तो, कला का आरंभ कलाकार के संस्कार से होता है; फिर, वह अभिव्यंजना में परिणत होती है; अभिव्यंजना की सफलता से कलाकार को आनंद होता है। ये तीनों क्रियाएं आंतरिक हैं अर्थात् कलाकार की आत्मा में होती हैं। इसके वाद कलाकार विभिन्न माध्यमों की सहायता से कला को बाह्य रूप प्रदान करता है। यह अंतिम चरण अर्थात् बाह्य रूप ही भावक के काम का है; प्रथम तीन केवल कलाकार से संबद्ध हैं। यह विचित्र विरोधाभास है कि क्रोचे कलाकार के आनंद को तो स्वीकार करते हैं किंतु भावक के आनंद को कोई महत्त्व नहीं देते। निश्चय ही कला कला के लिए का यह अतिरेक है।

क्रोचे का कहना है कि कलाकार में सौंदर्य की **उत्पत्ति** (aesthetic production) होती है और **भावक** में सौंदर्य की पुनरुत्पत्ति (aesthetic reproduction) होती है। इस पुनरुत्पत्ति की प्रक्रिया है कि जिन भौतिक पदार्थों—शब्दों (काव्य), तानों (संगीत), गतियों (नृत्य), रेखाओं-रंगों (चित्र) आदि—में सौंदर्य रूपायित हो चुका है, वे भावक में सौंदर्य की पुनरुत्पत्ति के उद्दीपक बनते हैं अर्थात् उनसे भावक में वही कलात्मक अंतःप्रज्ञा जगती है जो कलाकार में जगकर कलाकृति बनी थी। उस अंतःप्रज्ञा के जगने पर भावक को आनन्द की अनुभूति होती है।[१३] तात्पर्य कि भावक में सौंदर्यात्मक या कलात्मक पुनरुत्पत्ति के निम्नलिखित चरण हैं:

१३. Aesthetic; p. 97.

(१) कलाकृति के द्वारा भावक की ज्ञानेंद्रियों का उद्दीपन।
(२) भावक में कलात्मक अंत:प्रज्ञा की पुनरुत्पत्ति।
(३) आनंद।

ज्ञानेंद्रियों के उद्दीपन से क्रोचे का अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञानेंद्रिय से जो कला ग्राह्य है उससे उसका उद्दीपन होता है; जैसे काव्य या संगीत से श्रोत्र का, चित्र या मूर्ति से चक्षु का, नृत्य से श्रोत्र और चक्षु दोनों का। ज्ञानेंद्रियों के द्वारा कला-कृतियों का मानस प्रत्यक्ष होता है जिससे भावक की अंत:प्रज्ञा भावित होती है। जैसे कलाकार की अंत:प्रज्ञा से कला की उत्पत्ति हुई थी, वैसे ही भावक की अंत:प्रज्ञा में कला की पुनरुत्पत्ति होती है अर्थात् कलाकार और भावक एक स्तर पर अवस्थित हो जाते हैं जिससे भावक को आनंदानुभूति होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसे ही साधारणीकरण और रसानुभूति कहा गया है। जिन वस्तुओं में अभिव्यक्त होकर कला स्मरणीय और स्थायी बनती है और जिनसे सौंदर्य की पुनरुत्पत्ति होती है उन्हें सुंदर पदार्थ या भौतिक सौंदर्य कहने की परिपाटी है किंतु क्रोचे के अनुसार यह विरोधाभास है; कारण कि सौंदर्य भौतिक तत्त्व नहीं है; वह वस्तुओं में नहीं रहता, वह मनुष्य की आत्मिक ऊर्जा (spiritual energy) या क्रिया में रहता है। भौतिक पदार्थ सौंदर्य की पुनरुत्पत्ति के सहायक मात्र हैं। अत: उन्हें गौण रूप में ही सुंदर कहा जा सकता है। तुलनीय है कि रिचर्ड्स भी शब्द में काव्यत्व नहीं मानते, कवि के मनोवेग में मानते हैं। क्रोचे बार-बार इस बात को दुहराते हैं कि सौंदर्य वस्तुत: आंतरिक तत्त्व है; भौतिक पदार्थों में उसकी स्थिति गौण रूप में ही मानी जा सकती है।

कलात्मक संदृष्टि (artistic vision) को वाह्य रूप कैसे दिया जाता है, इसका निरूपण करते हुए क्रोच कहते हैं कि कलाकार में संवेदन और असंवेदन, दोनों ही होते हैं। संवेदन के द्वारा वह वाहर जो कुछ देखता-सुनता है उसे असात्मात् करता है जिससे उसका ज्ञान विस्तृत और अनुभव समृद्ध होता है। असंवेदन एक प्रकार की प्रशांत मानसिक स्थिति है जिसमें बाहरी हलचल जैसी कोई चीज नहीं होती। इस असंवेदन की अवस्था में ही आत्मसात् की हुई सामग्री रूपग्रहण कर कला में परिणत होती है।

कला की उत्पत्ति

क्रोचे के अनुसार कला की उत्पत्ति ऐच्छिक क्रिया नहीं है। कलाकार चाहे या न चाहे, समय आने पर कलाकृति सहज भाव से स्वयं उत्पन्न हो जाती है। भौतिक सौंदर्य की उत्पत्ति के साधन हैं :[१४]

१. सतर्क संकल्प (vigilant will) जिसके कारण संदृष्टियां (visions), अंत:प्रज्ञाएं या प्रतिरूपण (representation) नष्ट होने से बच जाते हैं। समय-समय

१४. Aesthetic; p. 111.

पर मन में बहुत सारी संदृष्टियां झलक उठती हैं, अंतःप्रज्ञाएं स्फुरित हो उठती हैं जिन्हें स्थिर रखना बड़ा कठिन है क्योंकि झलक या स्फुरण के साथ ही वे विनष्ट भी हो जाती हैं। अवसर पड़ने पर उनसे काम लिया जाय, इसके लिए जरूरी है कि उन्हें सुरक्षित रखा जाय। यह सतर्क संकल्प से ही संभव है।

२. इस संकल्प में अत्यंत द्रुतगति और सहजता से काम करने की तथा देर तक और श्रमपूर्वक पर्यालोचन की क्षमता होनी चाहिए।

३. कला के बाह्यीकरण अर्थात् उसे बाह्य रूप देने की इच्छा के पूर्व कलाकार में विभिन्न प्रकार का ज्ञान-समुच्चय अपेक्षित होता है। यही शिल्प (technique) के नाम से जाना जाता है। हमने पहले कहा है कि क्रोचे जहां कला के मूल में अंतः-प्रज्ञा और आंतरिक क्रिया पर बल देते हैं, वहां बाह्य ज्ञान (व्युत्पत्ति) को नकारते नहीं। यहां यही बात उन्होंने बड़ी स्पष्टता से कही है। जिसे शिल्प या टेकनीक कहते हैं, वह ज्ञान के अनेकविध आयामों का ही परिणाम है। क्रोचे की अभेदवादी दृष्टि कलाकृति और शिल्प में भी भेद नहीं मानती। उनके अनुसार, कलाकृति और शिल्प अभिन्न हैं[१५]; शिल्प को अलग कर देने पर कृति की विशिष्टता रही कहां? विशिष्टता ही तो उसकी कलात्मकता है क्योंकि वही एक कलाकार को दूसरे कला-कार से पृथक् करती है।

४. प्रणिधान (meditation) कला-सृष्टि का अन्यतम साधन है। किसी भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए कवि उपयुक्त शब्द ढूंढ़ता है। पहले वह अनेक शब्दों को तौलता है; उनके तारतम्य का आकलन कर किसी एक को चुनता है पर सूक्ष्मता से देखने पर वह शब्द पूरा जंचता नहीं। तब उसे छोड़कर दूसरे को आज-माता है। उससे भी मन को संतोष नहीं होता। फिर, तीसरे को परखता है। इस प्रकार तब तक चयन और त्याग की यह प्रक्रिया चलती है जब तक शब्द अनुपयुक्त, अपूर्ण, असुंदर, अव्यंजक लगता रहता है। इस उधेड़बुन में एकाएक कोई शब्द सामने आ जाता है जो उपयुक्त, सटीक, सुंदर एवं व्यंजक प्रतीत हो उठता है। उसे पाकर कवि को सद्यः सौंदर्यात्मक आनंद का, बल्कि एक प्रकार की विजय का, अनु-भव होता है। ग्रहण और त्याग की, स्वीकृति और अस्वीकृति की यह दीर्घ शृंखला प्रणिधान-सापेक्ष हुआ करती है। मन की चंचलता या अस्थिरता में शब्द-पाक सिद्ध नहीं होता।

५. प्रतिभा (genius) कला-सृष्टि का अनिवार्य साधन है। प्रतिभा उत्पादक (productive) या सर्जक (creative) क्रिया है अर्थात् उसका काम है कला का उत्पादन (सर्जन)। इस उत्पादक क्रिया के साथ एक दूसरी क्रिया भी है जिसका काम है निर्णय या आलोचना। इसका नाम है रुचि (taste)। क्रोचे प्रतिभा और रुचि में अभेद मानते हैं। दोनों में यदि अंतर है तो इतना ही कि प्रतिभा सक्रिय है, रुचि निष्क्रिय; प्रतिभा से कला का उत्पादन होता है, रुचि से भावन या आलोचना।

१५. Aesthetic; p. 112.

इसलिए कलाकार के लिए आलोचक होना उतना ही आवश्यक है जितना आलोचक के लिए कलाकार होना।[१६] प्रतिभा और रुचि का योग पेशेवर कलाकार और आलोचक के लिए ही नहीं, सामान्य पाठक या भावक के लिए भी अपेक्षित है अन्यथा न तो वह कलाकृति का भावन कर सकेगा और न भले-बुरे का निर्णय। जितनी देर तक भावक किसी कलाकृति से आनंद उठाता है उतनी देर तक कलाकार से उसका तादात्म्य रहता है।[१७] कालिदास को पढ़ते समय हम कालिदास से एकरूप हो जाते हैं और उतनी देर के लिए हमारी आत्मा उस ऊंचाई पर पहुंच जाती है जहां कालिदास स्थित हैं। इसी तरह कालिदास की आलोचना के लिए भी उनके स्तर तक हमारा उठना जरूरी है।

क्रोचे की मान्यता है कि कलात्मक प्रतिभा नाम की कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं होती। कलाकार की प्रतिभा और जनसाधारण की प्रतिभा में केवल मात्रा का अंतर होता है।[१८] यदि दोनों की प्रतिभा में तात्त्विक भेद होता तो कलाकृति का भावन ही संभव नहीं होता। सर्वथा भिन्न कोटि की वस्तुओं में तादात्म्य कैसे होगा? तादात्म्य के अभाव में साधारणीकरण कैसे होगा और साधारणीकरण नहीं तो अनुभूति की समानता कैसे स्थापित होगी? इसलिए प्रतिभा गुणात्मक रूप से एक ही है; अंतर इतना ही है कि कलाकार का **संवेदन तीव्रतर, अवेक्षण सूक्ष्मतर, कल्पना विशदतर** तथा **अभिव्यंजना रमणीयतर** होती है। प्रतिभा आकाश से टपकी हुई चीज नहीं, बल्कि पूर्णत: मानवीय धर्म है जो अल्पाधिक मात्रा में सबों में रहती है। कवि सभी होते हैं; कोई छोटा कवि होता है और कोई बड़ा।

चूंकि क्रोचे कला को जैव (ऑर्गेनिक) और अखंड मानते हैं, इसलिए वे कलाविषयक किसी प्रकार के वर्गीकरण के विरोधी हैं। यथार्थवादी और प्रतीकवादी, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, आभिजात्यवादी (classical) और स्वच्छंदतावादी (romantic), स्वाभाविक और अलंकृत, शब्दालंकार और वाक्यालंकार (अर्थालंकार) आदि अभिधानों को वे दार्शनिक शून्यता की संज्ञा देते हैं[१९] और यहां तक कहते हैं कि वर्गीकरणों और कला-पद्धतियों के निरूपक समस्त ग्रंथों को यदि जला भी दिया जाए तो कोई क्षति नहीं होगी।[२०] इस संदर्भ में लक्षणा (metaphor) की परिभाषा के खंडन का उनका निम्नलिखित तर्क रोचक है। "वास्तविक (प्रधान) के स्थान में अवास्तविक (गौण) शब्द के प्रयोग की आवश्यकता क्या है? सीधा और अच्छा

१६. The critic should possess something of the genius of the artist and that the artist should possess taste. —Aesthetic; p. 120.

१७. In this identity alone resides the possibility that our little souls can echo great souls. —Aesthetic; p. 121.

१८. Aesthetic; pp. 14-15.

१९. Realistic and symbolic, objective and subjective, classical and romantic, simple and ornate...the figures of words and sentence...reveal their philosophical nullity. —Aesthetic; p. 68-69.

२०. All the books dealing with classifications and systems of the arts could be burned without any loss whatever. Ibid; p. 114.

रास्ता छोड़कर लंबा और बुरा रास्ता क्यों पकड़ें ? यदि कहिए कि वास्तविक शब्द उतना व्यंजक नहीं है जितना दूसरा शब्द है तो दूसरे (लाक्षणिक) शब्द को ही वास्तविक क्यों न कहा जाए ?"[२१] द्राविड़ प्राणायाम की क्या आवश्यकता है ? फिर, अलंकार का प्रश्न उठाकर वे कहते हैं कि "अभिव्यंजना में अलंकार का योग कैसे होता है ? क्या बाहर से ? तब तो अभिव्यंजना से वह हमेशा अलग है। क्या भीतर से ? तब या तो वह अभिव्यंजना में कोई सहायता नहीं करता और उसे दूषित करता है; अथवा अखंड तथा अविभेद्य रूप में अन्वित होकर वह अभिव्यंजना का ही अंग बन जाता है और इस प्रकार अलंकार नहीं रह जाता।"[२२]

कला को अखंड मान लेने से उसके विभाजन या वर्गीकरण का प्रश्न क्रोचे के लिए कठिन बन जाता है पर सैद्धांतिक रूप में कला की अखंडता मानते हुए भी व्यावहारिक रूप में वर्गीकरण आदि को स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं है। शंकराचार्य जैसे अद्वैतवादी ने भी जहां पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की सत्ता मानी, वहां व्यावहारिक दृष्टि से जीव, जगत् आदि के भेद को भी स्वीकार किया। माना कि काव्यत्व अखंड तत्त्व है; फिर भी, महाकाव्य और मुक्तक में या महाकाव्य और नाटक में जो काव्यत्व है, वह बिलकुल अभिन्न है, ऐसा नहीं कह सकते। क्लासिकल और रोमांटिक, यथार्थवादी और प्रतीकवादी आदि भेद उनके आधारभूत दृष्टिभेद के व्यावहारिक अभिधान-मात्र हैं जिनकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

शब्द-प्रयोग के संबंध में भी क्रोचे का मत एकांगी है। उनका कहना है कि यदि गौण शब्द से ही अर्थ की सटीक अभिव्यक्ति होती है तो उसे ही प्रधान क्यों नहीं कहा जाए ? जो अभीष्ट अर्थ प्रदान करे उसे ही उसका व्यंजक क्यों नहीं माना जाए ? इसका बड़ा विशद विवेचन हमारे यहां शब्द-शक्तियों के विचार के प्रसंग में हुआ है। यदि क्रोचे उससे अवगत होते तो यह शंका उनके मन में उठती ही नहीं। शब्द के प्रधान और गौण अर्थों का भेद इसलिए मान्य है कि प्रधानता और गौणता कोई नियत वस्तु नहीं हैं। एक प्रकरण में जो प्रधान होता है वही दूसरे प्रकरण में गौण बन जाता है। लक्षणा में मुख्यार्थबाध पर जो बल दिया गया है वह इसीलिए। प्रधान अर्थ के अनुपयोगी सिद्ध होने पर ही गौण (लाक्षणिक) अर्थ लेने का औचित्य है। ऐसा प्रकरण-विशेष की अपेक्षा के कारण होता है, सर्वत्र नहीं। प्रधान-गौण का भेद स्वीकार कर लेने से शब्दार्थ की समस्त असंगतियों का समाधान हो जाता है—सामान्य व्यवहार में भी और विशिष्ट (काव्य) व्यवहार में भी। यदि क्रोचे गौण को ही

२१. A typical example of this is the very common definition of metaphor as of another word used in place of the proper word. Why substitute the improper for the proper word ? Why take the worse and the longer road when you know the shorter and better road ?...because the proper word is not so expressive as the so-called improper word or metaphor. But if this be so the metaphor is exactly the proper word. —Ibid, p. 69.

२२. It may be asked how an ornament can be joined to expression ? Externally ? in that case it is always seperated from the expression. Internally ? In that case, either it does not assist the expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent of the expression, indivisible and indistinguishable in its unity. —Ibid; p. 69.

प्रकरण-विशेष में प्रधान मानने के आग्रही हैं तो कोई हर्ज नहीं पर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक त्रिविध वृत्तियों से इस समस्या का जैसा व्यापक समाधान होता है वैसा किसी दूसरे प्रकार से नहीं।

क्रोचे ने अलंकार और अभिव्यंजना का जो तादात्म्य माना है, वह संगत है। अनेक भारतीय आचार्यों ने अलंकार को काव्य का वाह्य तत्त्व कहकर अनावश्यक उलझन उत्पन्न कर दी है। वस्तुतः अलंकार काव्य में ऊपर से या अलग से आरोपित धर्म नहीं है, वह उसका सहजात, समवेत धर्म है। भारतीय आचार्यों में कुंतक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार को काव्य का अंतरंग घोषित किया तो भी बाद के आलंकारिकों ने इस पर ध्यान नहीं दिया और मम्मट, विश्वनाथ जैसे आचार्य भी अलंकार को वाह्य धर्म ही कहते रहे। बाह्य का अर्थ यदि गौण मानें तो आपत्ति की बात नहीं है क्योंकि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है, बिना अलंकार के भी काव्य उत्तम हो सकता है, होता है, परंतु यदि वाह्य का अर्थ आरोपित या अलग से जोड़ा हुआ लें तो यह अमान्य है।

कला-सृष्टि में कलाकार की पराधीनता

जैसा हम पहले देख चुके हैं, क्रोचे कला में केवल रूप (form) का महत्त्व स्वीकार करते हैं, वस्तु (content या matter) का नहीं। उनका सारा बल रूप पर है। वे उन लोगों का मजाक उड़ाते हैं जो कला में वस्तु के चयन (selection of content) की बात करते हैं। क्रोचे का कहना है कि कला के विचार के प्रसंग में दो प्रश्न उठने ही नहीं चाहिए—एक तो कला के प्रयोजन का; दूसरा, वस्तु के चयन का। प्रयोजन का प्रश्न हास्यास्पद है और वस्तु के चयन का प्रश्न प्रमाद है।[२३] प्रयोजन और वस्तु-चयन, ये दोनों प्रश्न अन्योन्याश्रित हैं। प्रयोजन का निर्धारण तभी संभव है जब कलाकार को वस्तु के चयन की स्वतंत्रता हो किंतु कलाकार को वस्तु के चयन की स्वतंत्रता नहीं होती; वह तो स्फुरित होती है और स्फुरण के साथ ही अभिव्यक्त भी हो जाती है अर्थात् कला में परिणत हो जाती है। इसलिए कलाकार को चयन का अवकाश कहां है? चयन के लिए चिंतन आवश्यक है; चिंतन के लिए वस्तु की पूर्व सत्ता आवश्यक है, उसके गुण-दोष की जानकारी आवश्यक है। इनमें कोई चीज पहले से नहीं होती। अंतःप्रेरणा (inspiration) के क्षण में एकाएक कोई वस्तु अंतःप्रज्ञा में उद्भासित हो उठती है और उद्भासित होते ही अभिव्यंजना बन जाती है क्योंकि जब तक वह अभिव्यंजना बनेगी नहीं तब तक उसका बोध कलाकार को होगा ही नहीं। यह समस्त प्रक्रिया आंतरिक, अनैच्छिक और आशुभावी है। इसलिए कलाकार स्वयं-स्फुरित वस्तु पर निर्भर करने को बाध्य है। उसे अंतःप्रेरणा से ही परिचालित और निर्देशित होना है; अंतःप्रेरणा के विपरीत वह कुछ भी नहीं

२३. The search for the end of art is ridiculous, when it is understood of art as art. And since to fix an end is to choose, the theory that the content of art must be selected is another form of the same error. —Ibid; p. 51.

कर सकता।

कला में उपयोगिता और नैतिकता का प्रश्न

कला में उपयोगिता और नैतिकता का विवाद बहुत प्राचीन है। क्रोचे स्पष्ट कहते हैं कि कला उपयोगिता और नैतिकता से ही नहीं, बल्कि सभी व्यावहारिक मूल्यों से भी बिलकुल निरपेक्ष और स्वतंत्र है।[२४] इसलिए उपयोगिता या नैतिकता की दृष्टि से कला-वस्तु के साथ प्रशंसनीय या निंदनीय विशेषण भी नहीं जोड़ा जा सकता।[२५] इसका कारण भी कलाकार की पराधीनता ही है। कोई निंदा या प्रशंसा का भागी तो तब बनता है जब उसे कुछ करने की छूट या स्वतंत्रता हो। जिसे स्वतंत्रता है ही नहीं उसे दोषी कैसे ठहराया जा सकता है? कलाकार वस्तु का चयन स्वयं तो करता नहीं; वह उसकी अंतःप्रज्ञा में न जाने कब, किधर से, कैसे स्फुरित हो जाती है। उसका ज्ञान कलाकार को भी स्फुरण के बाद ही होता है। अतः इसमें न उसका श्रेय है, न अश्रेय।

वस्तु के स्फुरण में कलाकार पराधीन है, इसका इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अभिव्यंजना में भी वह पराधीन है। उसे इतनी स्वाधीनता है कि किस वस्तु को अभिव्यक्त करे और किसको नहीं; यदि अभिव्यक्त करे तो किसके लिए, कब और कैसे। ये प्रश्न वस्तुतः कला-सृष्टि से नहीं, बल्कि जीवन के कुछ व्यावहारिक—आर्थिक, नैतिक आदि—पक्षों से जुड़े हुए हैं। संभव है कि कलाकार के मन में स्फुरित कोई अंतःप्रज्ञा कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हो किंतु उसकी अभिव्यंजना से कोई आर्थिक लाभ होने की संभावना न हो अथवा समाज उसे नैतिक दृष्टि से उचित न माने। ऐसी स्थिति में वह उसे अभिव्यक्त करना नहीं भी चाह सकता है। ये प्रश्न उपयोगितावादी हैं अर्थात् जीवन के व्यावहारिक पक्षों से संबद्ध हैं। कला के रूप में कला का इन से कोई संबंध नहीं है।

इसी तरह कला-विषयक आलोचना के प्रसंग में कलाकार की नैतिकता का प्रश्न उठाना भी निरर्थक है। एक तो उसकी निजी नैतिकता उसकी कला में प्रतिफलित हो ही, यह आवश्यक नहीं है, और हो भी तो इससे क्या आता-जाता है यदि कला के रूप में उसकी कृति अनवद्य है। कबीर की भाषा में "मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान;"—कला-कृति को देखो; अवांतर, अप्रासंगिक प्रश्नों के पचड़े में क्यों पड़ते हो?

अनुवाद की अशक्यता

काव्य या कला को अखंड (indivisible) तथा वैयक्तिक (individual) अंतः-प्रज्ञा मानने का एक उपप्रमेय (corollary) यह भी है कि उसका अनुवाद असंभव

२४. Art is independent both of science and the useful and the moral.
—Ibid, p. 52.

२५. The theme or content cannot, therefore, be practically or morally charged with epithets of praise or blame. —Ibid, p. 51.

है।[२६] जैसे एक बर्तन से दूसरे बर्तन में ढालने पर कोई तरल वस्तु रहती वही है, केवल उसकी आकृति बदल जाती है, वैसे ही एक अभिव्यंजना को दूसरी अभिव्यंजना में ढाल कर उसे अक्षुण्ण नहीं रखा जा सकता। दूसरी अभिव्यंजना में ढालने पर केवल उसकी आकृति ही नहीं वदलती, बल्कि वह अभिव्यंजना भी बदल जाती है क्योंकि कोई भी अभिव्यंजना कलाकार की सर्वथा निजी अभिव्यंजना होती है, उसकी अपनी अंतःप्रज्ञा से उत्पन्न। उसको जब दूसरा व्यक्ति रूपांतरित करता है तो अनिवार्यतः उसमें उसके संस्कार मिल जाते हैं। परिणामतः वह मूल कलाकार की अंतःप्रज्ञा-अभिव्यंजना रह ही नहीं जाती। अनुवाद या तो मूल अभिव्यंजना को विकृत या नष्ट कर देता है अथवा उसे नयी अभिव्यंजना में ढाल देता है। मेघदूत लिखते समय कालिदास के या कामायनी लिखते समय जयशंकर प्रसाद के मन में जिस अंतःप्रज्ञा का स्फुरण हुआ, वह सर्वथा उनका अपना निजस्व था और उस अंतः-प्रज्ञा की अभिव्यंजना भी उनकी अपनी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनु-वादक में उस अंतःप्रज्ञा का नितांत अभाव होगा और अनुवाद में अनुवादक के अपने संस्कारों की छाप पड़ेगी और उसकी अभिव्यंजना की भंगी भी अपनी होगी। इसलिए अनुवाद के रूप में जो वस्तु तैयार होगी वह मूल से बिलकुल भिन्न होगी; उसमें न कालिदास होंगे, न जयशंकर प्रसाद। 'विश्वसनीय कुरूपता और अविश्वसनीय सौंदर्य (faithful ugliness and faithless beauty)' वाली कहावत अनुवाद पर बिलकुल लागू है। यदि अनुवाद विश्वसनीय होगा तो असुंदर हो जाएगा और सुंदर होगा तो अविश्वसनीय हो जाएगा क्योंकि मूल से हट जाएगा। इसलिए कला का अनुवाद संभव नहीं है। व्यवहार में जिसे अच्छा अनुवाद कहते हैं वह मूल की समीप-वर्ती स्वतंत्र रचना है जिसका अपना मूल्य है।

कला की वैयक्तिकता

चूंकि अंतःप्रज्ञा बिलकुल वैयक्तिक (individual) होती है, इसलिए कला भी बिलकुल वैयक्तिक वस्तु है।[२७] कला में भेद का कारण यह वैयक्तिकता (individuality) ही है। दो कवियों, दो गायकों, दो चित्रकारों, दो मूर्तिकारों की कला में जो अंतर दृष्टिगोचर होता है वह उनकी अपनी विशिष्ट वैयक्तिकता के कारण ही। इसलिए कला सर्वथा निरपेक्ष, आत्मनिष्ठ पदार्थ है। इससे क्रोचे का निष्कर्ष है कि आलोचना का कोई सामान्य मानदंड नहीं बनाया जा सकता। कौन-सा ऐसा सामान्य निकष होगा जिस पर विभिन्न कृतियों की अंतरंग परीक्षा की जा सके? कहने को कामायनी और साकेत, दोनों महाकाव्य हैं पर दोनों में क्या साम्य है? आंतरिक

२६. A corollary of this is the impossibility of translations, in so far as they pretend to effect the remoulding of one expression into another...indeed every translation either diminishes or spoils, or it creates a new expression.
—Aesthetic; p. 68.

२७. Art is intuition, and intuition is individuality and individuality does not repeat itself.
—Aesthetic; p. 136.

साम्य तो नहीं ही है, बाह्य साम्य भी नहीं है। फिर, किस तुला पर दोनों को एक साथ तोलें ? यह बात प्रत्येक साहित्यिक विधा पर लागू है। किसी भी विधा की दो कृतियां बिलकुल एकरूप नहीं होतीं। अतः क्रोचे का मत है कि आलोचना का कोई अव्यभिचरित शास्त्र नहीं हो सकता। प्रत्येक कृति की आलोचना के सिद्धांत उसी में निहित होते हैं। इस अंश में इलियट के विचार क्रोचे के विचार से मिलते हैं।

क्रोचे की कलाविषयक मान्यताओं का सार

१. कला अंतःप्रज्ञा और अभिव्यंजना है अर्थात्
अंतःप्रज्ञा = अभिव्यंजना = कला।

२. कला आत्मिक क्रिया (spiritual activity) है; अतः पूर्णतः आंतरिक है। चित्र, मूर्ति आदि कला नहीं हैं; वे कला को स्मरणीय बनाये रखने के अथवा कलाकार द्वारा अनुभूत सौंदर्य को योग्य भावक में उत्पन्न करने के साधनमात्र हैं।

३. कला केवल रूप है, वस्तु नहीं।

४. कला अखंड है। अतः न तो उसका विभाजन संभव है, न वर्गीकरण।

५. कलाकार और भावक की प्रतिभा में गुणात्मक (qualitative) भेद नहीं होता, केवल मात्रात्मक (quantitative) भेद होता है।

६. कला की उत्पत्ति कलाकार की इच्छा पर आश्रित नहीं; वह स्वयं स्फुरित होती है। कलाकार को इतनी ही स्वतंत्रता है कि वह अंतःस्फुरित कला को बाह्य रूप दे या न दे, अभिव्यक्त करे या न करे।

७. अलंकरण कला का आरोपित धर्म नहीं, वल्कि सहजात धर्म है अर्थात् कला अलंकरण के साथ ही उत्पन्न होती है।

८. कला कला के लिए है; उसका कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं होता।

९. कला के संदर्भ में नैतिकता-अनैतिकता आदि के प्रश्न बेमानी हैं।

१०. कला का रूपांतरण नहीं हो सकता अर्थात् कला जो रूप ग्रहण कर चुकी, वह अपरिवर्तनीय है। अतः काव्य का अनुवाद असंभव है।

११. कला वैयक्तिक है क्योंकि उसका सर्जन ही नहीं, आस्वादन भी वैयक्तिक स्तर पर होता है।

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान क्या कह दिया कि सिद्धांतवाक्य की तरह उसकी उद्धरणी होने लगी। वक्रोक्तिकार (कुंतक) का यह दुर्दैव-विलास ही कहेंगे कि उनके मत को लेकर आचार्य शुक्ल जैसे सूक्ष्मदर्शी और विवेकी आलोचक को भ्रम हो गया। साहित्यदर्पण के लेखक कविराज विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) भी वक्रोक्ति को लेकर भ्रम में पड़ गये; उसे केवल अलंकार मान बैठे और काव्य-लक्षणों की समीक्षा के क्रम में विना समुचित विचार किये उपेक्षापूर्वक 'वक्रोक्तेः अलंकाररूपत्वात्' कहते हुए आगे बढ़ गये। कुंतक की

वक्रता न तो केवल अलंकार है, जैसा विश्वनाथ ने कह दिया और न हलकी-फुलकी मनोरंजक उक्ति का पर्याय, जैसा शुक्लजी ने मान लिया। वह एक अत्यंत सूक्ष्म, व्यापक और परिनिष्ठित काव्य-सिद्धांत है जो आसानी से रससिद्धांत या ध्वनिसिद्धांत के समकक्ष खड़ा हो सकता है। विनियोग (practical application) के निकष पर तो कुंतक किसी भी भारतीय आचार्य से बीस ही पड़ेंगे। व्यावहारिक आलोचना का जो स्वच्छ आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह संस्कृत के काव्यशास्त्र की पूरी परंपरा में विरल है।

कुंतक की उपेक्षा के वस्तुतः दो कारण हुए : प्रथमतः, 'वक्र' शब्द का प्रयोग, जो प्रसन्न-गंभीर के विपरीत अर्थ में प्रचलित रहा है। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्र में तो वह वक्रोक्ति-नामक शब्दालंकार के लिए रूढ़ हो गया। द्वितीयतः, कुंतक को अभिनव गुप्त के जैसा प्राज्ञ, प्रौढ़ तथा विदग्ध व्याख्याकार का न मिलना। ध्वनिसिद्धांत की स्थापना का श्रेय यदि आनंदवर्धन को है, तो उसके प्रसार का श्रेय अभिनवगुप्त को है। आनंदवर्धन की ख्याति में अभिनवगुप्त का वही योगदान है जो जॉनसन की ख्याति में बॉसवेल का।

शुक्लजी ने दो स्थलों पर अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की चर्चा की है :

"योरप का यह 'अभिव्यंजनावाद' हमारे यहां के पुराने 'वक्रोक्तिवाद'—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।"

"क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी कुंतक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कहकर उठे थे।"[२८]

शुक्लजी ने दोनों उद्धरणों में 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' को कुंतक के वचन के रूप में ग्रहण किया है और वक्रोक्तिवाद को अभिव्यंजनावाद से प्रायः एकरूप माना है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि जैसा विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्', आनंदवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' अथवा दंडी ने 'प्राणाः दशगुणाः स्मृताः' कहकर आत्मा या प्राण शब्द की सहायता से काव्य के मूल तत्त्व को परिभाषित किया, वैसा कुंतक ने नहीं किया। वे आत्मा या प्राण के पचड़े में पड़े ही नहीं। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', यह वाक्य भी कुंतक का नहीं है। सच तो यह है कि उनके ही अनुसार उनके ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' है,[२९] 'वक्रोक्ति-जीवित' नहीं। 'वक्रोक्तिजीवित' शब्द ग्रंथ के प्रथम तीन उन्मेषों की पुष्पिकाओं में ही मिलता है। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि कारिका-भाग का नाम 'काव्या-लंकार' और वृत्ति-भाग का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' है। हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' को कुंतक का वचन मानना सूचित करता है कि शुक्लजी को इस ग्रंथ के सम्यक् अवलोकन का संभवतः अवसर नहीं मिला। अन्यथा उनके जैसे प्रमाणभूत आचार्य को भ्रम नहीं होता।

२८. चिंतामणि (द्वितीय भाग), आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १०७ तथा २३१

२९. काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।—वक्रोक्तिजीवित; १/२

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों दो चीजें हैं; उनमें यदि साम्य है भी तो नगण्य। इसलिए एक को दूसरे का उत्थान कहना अयुक्त है।

१. क्रोचे का विचार-क्षेत्र कलामात्र है अर्थात् काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य। इसके विपरीत कुंतक का क्षेत्र काव्य तक ही सीमित है। क्रोचे जो भी कहते हैं, वह सभी कलाओं को ध्यान में रखकर किंतु कुंतक को काव्य के अतिरिक्त और किसी कला से कुछ भी लेना-देना नहीं है। स्वभावतः दोनों की दृष्टि और अभिगम (approach) में अंतर है।

२. क्रोचे का विवेचन मुख्यतः कला के सर्जन (creation) से संबद्ध है, कुंतक का काव्य के आस्वादन या विश्लेषण से। एक यह बताता है कि कला की उत्पत्ति या सिद्धि कैसे होती है; दूसरा यह कि उत्पन्न या सिद्ध कला का आस्वादन कैसे किया जाता है। यद्यपि कुंतक ने बार-बार कवि-व्यापार शब्द का प्रयोग किया है, जिसका सामान्य अर्थ यही होता है कि कवि रचना कैसे करता है पर यह पक्ष उनके निरूपण में नितांत गौण है। किसी भी अन्य आलंकारिक की तरह वे भी काव्य-लक्षण, गुण, अलंकार आदि के विवेचन में ही तत्पर दीखते हैं।

३. क्रोचे वस्तु और रूप अर्थात् विषय और अभिव्यंजना में अभेद मानते हैं किंतु कुंतक दोनों में भेद मानते हैं। क्रोचे की दृष्टि में रूप के बिना वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि रूप से ही वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तु चाहे जो भी हो, उसका रूप (अभिव्यंजना) ठीक होना चाहिए। वक्रोक्ति को अर्थात् अभिव्यंजना के चमत्कार को कुंतक भी महत्त्व देते हैं किंतु वस्तु का निषेध नहीं करते। अलंकार और अलंकार्य का पार्थक्य उनकी दृष्टि से कभी तिरोहित नहीं होता। स्वभावोक्ति को अलंकार माननेवालों की खिल्ली उड़ाते हुए वे कहते हैं कि स्वभावोक्ति तो वस्तु अर्थात् अलंकार्य है; वह अलंकार कैसे हो सकती है? अलंकार्य (वस्तु) का अलंकार बनना वैसा ही बेतुका है, जैसे किसीका अपने कंधे पर आप चढ़ जाना।[३०]

४. क्रोचे के अनुसार, कला का कोई प्रयोजन नहीं हुआ करता; वह अपना प्रयोजन आप ही है अर्थात् कला कला के लिए है। इसके प्रतिकूल कुंतक काव्य के अनेक प्रयोजन मानते हैं: १. चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति; २. लौकिक व्यवहार का ज्ञान; ३. परम आनंद।[३१] स्पष्टतः क्रोचे कलावादी हैं और कुंतक उपयोगितावादी (प्रयोजनवादी)।

५. क्रोचे कला में किसी प्रकार के विभाजन या वर्गीकरण के विरोधी हैं। वे यहां तक कहते हैं कि कला की पद्धतियों और वर्गीकरणों के निरूपक सभी ग्रंथों को यदि जला भी दिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी। इसके विपरीत कुंतक का समग्र विवेचन, चाहे वह वक्रोक्ति का हो, चाहे गुणों का, चाहे अलंकारों का, विभाजन

३०. वक्रोक्तिजीवित; १/१३
३१. वक्रोक्तिजीवित; १/३, ४, ५

और वर्गीकरण पर आश्रित है।

६ कलावादी होने के कारण क्रोचे लघु कृतियों में कला की निष्पत्ति मानते हैं, कारण कि अंतःप्रज्ञा आशुभावी क्रिया है; वह झलक कर तुरत मिट जाती है। स्वभावतः उस झलक की यथावत् अभिव्यंजना लघु रूप में ही हो सकती है। इसलिए प्रबंध की तुलना में प्रगीत (lyric) की कलात्मक संभावना अधिक है। कुंतक को मुक्तक या प्रगीत का आग्रह नहीं है, यह उनके प्रकरण-वक्रता और प्रबंध-वक्रता के सविस्तार निरूपण से स्पष्ट है। (प्रबंध-वक्रता में संपूर्ण प्रबंध की वक्रता का विचार होता है और प्रकरण-वक्रता में प्रबंध के किसी मार्मिक खंड का।)

७. कुंतक का काव्य-लक्षण क्रोचे से उनका अंतर पर्याप्त स्पष्ट कर देता है। लक्षण है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापार-शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।। व० जी०; १/७

—वक्र कवि-व्यापार से युक्त, बंध (रचना) में व्यवस्थित, काव्यज्ञों को आनंदित करनेवाले शब्द-अर्थ के सामंजस्य को काव्य कहते हैं।

कुंतक के इस काव्य-लक्षण में तीन बातों पर बल है : (१) कवि-व्यापार की वक्रता अर्थात् कवि द्वारा वक्रता का सचेत समावेश; (२) काव्यज्ञों का आनंद और (३) शब्द (अभिव्यंजना) तथा अर्थ (वस्तु) का सामंजस्य।

क्रोचे के कला-दर्शन में कवि-व्यापार नाम की कोई चीज नहीं है। व्यापार का अर्थ है सचेत प्रयास (conscious effort)। क्रोचे के अनुसार, कला का स्वतःस्फुरण होता है, प्रयासपूर्वक उत्पादन नहीं। इसके विपरीत कुंतक काव्य को कवि-व्यापार अर्थात् कवि-कौशल का परिणाम मानते हैं। कवि-कौशल सचेत प्रयास ही तो है। क्रोचे के यहां काव्यज्ञ, कलाविद् अर्थात् भावक का कोई स्थान नहीं है। कलाकार कला की सृष्टि स्वांतःसुखाय करता है; किसी दूसरे को उससे आनंद मिलेगा, इस चिंता से वह मुक्त होता है। किसी को आनंद मिल जाए तो उसे आपत्ति नहीं किंतु आनंद देना उसका काम नहीं है। इसके प्रतिकूल कुंतक भावक के आनंद को कवि-व्यापार का अनिवार्य उपबंध बताते हैं। शब्द और अर्थ के सामंजस्य का प्रश्न उठाकर कुंतक अभिव्यंग्य (अर्थ) और अभिव्यंजना (शब्द) का पार्थक्य अर्थात् वस्तु और माध्यम का भेद स्वीकार करते हैं किंतु क्रोचे की व्यवस्था में वस्तु और माध्यम का भेद अमान्य है; वहां वस्तु और माध्यम एक ही हैं बल्कि वस्तु माध्यम में विलीन हो जाती है। इसलिए रूप ही कला है।

क्रोचे की कला-विषयक लगभग एक दर्जन मान्यताओं में मुश्किल से एक-दो का साम्य कुंतक में देखा जा सकता है; अन्यथा दोनों दो छोर पर हैं।

क्रोचे और कुंतक में साम्य निम्नलिखित हैं :

१. क्रोचे और कुंतक, दोनों अलंकार की बाह्यता का खंडन करते हैं। दोनों का कहना है कि लौकिक अलंकार (आभूषण) की तरह काव्य का अलंकार ऊपर से या बाहर से आरोपित वस्तु नहीं है। वह काव्य की अभिव्यंजना के साथ-साथ

निष्पन्न होता है अर्थात् वह अभिव्यंजना का अभिन्न अंग है।

२. क्रोचे और कुंतक, दोनों का कहना है कि एक अर्थ का वाचक एक ही शब्द होता है।[३२] कोई कह सकता है कि तब पर्याय की क्या आवश्यकता ? उत्तर है कि पर्याय स्थूल रूप में ही एकार्थवाची होते हैं अन्यथा उनमें अर्थच्छाया का भेद अवश्य होता है। जो उस छाया का जानकार या स्वारस्य समझने वाला है वह शब्द का प्रयोग करते समय उसकी छाया का भी ध्यान रखता है। जैसे, दिवाकर और प्रभाकर, दोनों सूर्य के पर्याय हैं पर दिवाकर का अर्थ है दिन करनेवाला और प्रभाकर का अर्थ है प्रकाश करनेवाला। कहने की आवश्यकता नहीं कि दिन और प्रकाश दो चीजें हैं। इसी तरह प्रत्येक पर्याय में कुछ-न-कुछ छायाभेद अवश्य होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण पक्ष पर क्रोचे और कुंतक में ऐकमत्य नहीं है, बल्कि यों कहें कि वैमत्य ही अधिक है। इसलिए एक को दूसरे का उत्थान कहना स्थिति-विरुद्ध है।

मूल्यांकन

१. क्रोचे के सौंदर्य-दर्शन की आधार-भूमि है **कलावाद** (aestheticism) और **स्वच्छंदतावाद** (romanticism)। १९वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस तथा इंग्लैंड के अनेक रचनाकार 'कला कला के लिए' का नारा लेकर आगे बढ़े। जैसा प्रत्येक आंदोलन में होता है, कुछ लोगों ने उनका समर्थन किया और कुछ लोगों ने विरोध। समर्थकों में क्रोचे अग्रगण्य हैं। वस्तुतः कलावाद को दृढ़ दार्शनिक आधार देने का श्रेय क्रोचे को ही है। कलावाद के साथ स्वच्छंदतावाद की नैसर्गिक निकटता है क्योंकि स्वच्छंदतावाद के समान कलावाद भी शास्त्रवाद (classicism) का विरोधी और वैयक्तिकता का पोषक है।

२. क्रोचे कला का उद्भव न तो अनुकृति से मानते हैं और न नियमबद्ध यांत्रिकता से। प्लेटो और अरस्तू ने कला-सृष्टि का मूल अनुकृति को माना और पुनर्जागरण (renaissance) युग (१४वीं-१६वीं शताब्दी) अथवा नव-शास्त्रवादी युग (१७वीं-१८वीं शताब्दी) में कला-सृष्टि के लिए शास्त्र-विहित नियमों का यांत्रिक निर्वाह ही पर्याप्त था। (हिंदी के रीतियुग से नव-शास्त्रवादी युग की अनेक समानताएं हैं।) कला-सृष्टि के संदर्भ में **अनुकृति-मूलकता और नियमानुवर्तिता**, दोनों ही क्रोचे को अमान्य हैं क्योंकि उनके अनुसार, कला स्वतः-स्फुरित वस्तु है।

३. परिणामतः क्रोचे वैसी आलोचना के भी विरोधी हैं जो उपदेशात्मक, सूचनात्मक, प्रयोजनमूलक या नियमानुवर्ती हो। उनका कहना है कि आलोचना के ये सभी रूप कला में कला-भिन्न तत्त्व को देखने के प्रयास हैं। कला न तो उपदेश

३२. शब्दो विवक्षितार्थकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। वक्रोक्तिजीवित ; १/९
In the aesthetic fact there are none but proper words: the same intuition can be expressed in one way only. —Aesthetic; p. 72.
Two truly identical words do not exist. Ibid; p. 146.

देती है, न सूचना, न प्रयोजनमूलक होती है, न नियमानुवर्ती। कला तो केवल कला है; इसके अलावा वह कुछ है ही नहीं। अतः उसमें और कुछ देखना उसके वास्तविक स्वरूप को भुला देना है।

४. क्रोचे कला-संबंधी या काव्य-संबंधी अध्ययन को समग्र और संश्लिष्ट (synthetic) बोध का विषय मानते हैं। उनका मत वैसे सौंदर्यालोचकों से स्पष्टतः भिन्न है जो कला को खंडशः और विश्लिष्ट रूप में देखने-समझने की बात करते हैं। क्रोचे का कहना है कि सौंदर्य अवयवों के समुदित प्रभाव में ही रहता है, अवयवों को अलग-अलग कर देने पर वह नष्ट हो जाता है। स्वभावतः कलात्मक बोध के लिए **समग्रता** और **संश्लिष्टता** अनिवार्य हैं।

५. क्रोचे कला-कृति के अध्ययन तथा बोध के लिए **ऐतिहासिक परिवेश** का ज्ञान आवश्यक बताते हैं। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण युगीन परिस्थितियों से होता है। अतः उसकी अंतःप्रज्ञा से उद्भूत कला भी युगीन परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकती। समय के प्रवाह में परिस्थितियां ही नहीं, भाषा भी परिवर्तित हो जाती है; बहुत सारे शब्दों की अर्थच्छटा में अंतर आ जाता है। इसीलिए किसी कवि की रचनाओं को ठीक से हृदयंगम करने के लिए तद्युगीन परिवेश और भाषा, दोनों की जानकारी अपेक्षित है। जहां प्रामाणिक तथा व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध न हो, वहां बिखरे खंडों को जोड़कर इतिहास का निर्माण करना आवश्यक है अन्यथा बहुत-सारी उपयोगी बातें दृष्टि से ओझल रहकर कला के सौंदर्य-बोध में अवरोध उत्पन्न कर सकती हैं, करती हैं।

६. कला को सर्वथा आंतरिक क्रिया कहकर क्रोचे कलाकार को अतिरिक्त महत्त्व देते हैं। कला आंतरिक क्रिया तो है पर केवल आंतरिक है, यह कथन एकांगी और अतिवादी है। इससे कई विप्रतिपत्तियां उत्पन्न होती हैं जिनका समाधान सुकर नहीं है :

(क) कला में कलाकार को छोड़कर और किसी का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, भावक का भी नहीं।

(ख) भावक की उपेक्षा से संप्रेषण का प्रश्न उपेक्षित हो जाता है जबकि संप्रेषण से कला को अलग नहीं किया जा सकता।

(ग) कला मूल्य-निरपेक्ष बन जाती है।

भावक, संप्रेषण तथा मूल्य की अस्वीकृति कला को तो अनुपादेय बनाती ही है, परंपरा और वास्तविकता का भी प्रत्याख्यान करती है। कलावाद की यही सबसे बड़ी कमजोरी है। भावक की अपेक्षा ही नहीं, संप्रेषण पर ध्यान ही नहीं, मूल्य का महत्त्व ही नहीं, तो कला की सार्थकता क्या रही ?

७. इन विप्रतिपत्तियों का एक अनिवार्य परिणाम यह भी है कि कला-परक आलोचना का अवकाश नहीं रह जाता। जहां कला केवल कलाकार के मन की वस्तु होगी, वहां आलोचक के पास उसे जानने का साधन क्या होगा और जाने बिना वह उसका विवेचन क्या करेगा ? स्पष्ट है कि क्रोचे की सौंदर्य-धारणा आलोचनात्मक

प्रभाववाद (critical impressionism) को पुष्ट करती है जो आलोचना न होकर व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मात्र है।

८. जब क्रोचे कला के विभाजन या वर्गीकरण का खंडन करते हैं तो अनायास उन मानदंडों का भी खंडन हो जाता है, जो कला के विवेचन और मूल्यांकन के लिए ही नहीं, बल्कि बोध और आस्वाद के लिए भी उपयोगी हैं। विभाजन या वर्गीकरण से किसी भी वस्तु को समझने में आसानी होती है, सहायता मिलती है। विभाजन या वर्गीकरण वही हेय है जो या तो निरुपयोगी हो या बाल की खाल निकालता हो अर्थात् जिसकी कोई व्यावहारिक उपादेयता न हो।

९. क्रोचे ने कला, अंत:प्रज्ञा, अभिव्यंजना, कल्पना, रम्यकल्पना, सौंदर्य आदि शब्दों का पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक हैं। अत: शास्त्र एवं परंपरा से हटकर इनका नूतन संकेत ग्रहण करने में पाठक को अनावश्यक उलझन होती है। यों, क्रोचे की भाषा स्वच्छ है और दर्शन को भी उन्होंने अपने लेखन से लोकप्रिय बनाया है।

क्रोचे के कला-दर्शन में अनेक सूक्ष्म उद्भावनाएं हैं; विषय-निरूपण गंभीर होते हुए भी विशद है किंतु अतिवादिता से संतुलन अनेकत्र बाधित हो-हो गया है। बीसवीं शताब्दी के कलाविवेचकों और सौंदर्यशास्त्रियों में वे निस्संदेह स्थायी महत्ता के अधिकारी हैं।

टॉमस स्टर्न्स इलियट

[१८८८-१९६५]

टी० एस० इलियट[1] (Thomas Stearns Eliot) बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ कवि और आलोचक के रूप में विख्यात हैं। प्रतिभा और प्रभाव, दोनों ही दृष्टियों से कोलरिज के बाद इलियट का ही स्थान है।

इलियट का जन्म सेंट लूई (अमेरिका) में २६ सितंबर, १८८८ ई० को हुआ था। उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से १९१० में एम० ए० किया। उनके शिक्षकों में आयरविंग बैबिट (Irving Babbit) जैसे मानवतावादी आलोचक तथा जॉर्ज सांतायना (George Santayana) जैसे सौंदर्यशास्त्री थे। इन दोनों प्रख्यात शिक्षकों का प्रभाव इलियट के साहित्यिक विकास में सहायक हुआ। इलियट ने छात्र-जीवन में संस्कृत और पालि का भी अध्ययन किया। कुछ दिनों तक पेरिस और ऑक्सफोर्ड में अध्ययन करने के बाद १९१५ में इलियट लंदन पहुंचे और वहीं बस गये। लंदन के निकट एक स्कूल में उन्होंने थोड़े दिन पढ़ाया; फिर लॉयड्स बैंक में किरानीगीरी की। १९२५ में वे प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान 'फेब्रर एंड फेबर' के निदेशक बने जहां से 'दि क्राइटेरियन' (The Criterion) नामक त्रैमासिक पत्रिका का उन्होंने संपादन किया। इलियट के साहित्यिक प्रतिष्ठापन और यशोविस्तार में इस पत्रिका का बहुत बड़ा योगदान है। उनकी समीक्षाएं तथा आलोचनाएं ही नहीं, 'द वेस्टलैंड' नामक प्रसिद्ध कविता भी पहले-पहल १९२२ में क्राइटेरियन में ही प्रकाशित हुई। १९२७ में इंग्लैंड की नागरिकता और चर्च ऑफ इंग्लैंड की सदस्यता स्वीकार कर, इलियट इंग्लैंड के स्थायी निवासी बन गये। १९४८ में उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। जीवन के अंत (१९६५) तक इलियट की साहित्य-साधना निर्बाध चलती रही।

इलियट ने आलोचना पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा है। उनके आलोचनात्मक विचार लेखों, समीक्षाओं तथा भाषणों में बिखरे हुए हैं, जिनकी संख्या लगभग ५०० है। इस विकीर्ण सामग्री से सुसंबद्ध आलोचना-पद्धति का निर्माण कष्टसाध्य है।

इलियट के साहित्यिक जीवन का आरंभ काव्य से हुआ या आलोचना से, यह कहना कठिन है। वस्तुतः उनमें काव्य और आलोचना का ऐसा सम्मिश्रण और

१. नाम का शुद्ध उच्चारण 'एलियट' है, 'इलियट' नहीं, पर हिंदी में 'इलियट' इतना प्रचलित हो गया है कि उसे छोड़ने से अनावश्यक भ्रम हो सकता है।

अन्योन्याश्रय है कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अपनी आलोचना को उन्होंने 'निजी काव्य-कर्मशाला (poetry-workshop) का उपजात (by-product) या काव्य-निर्माण के प्रसंग में अपने चिंतन का विस्तार' कहा हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि इलियट अपने साहित्यिक कर्तृत्व में काव्य-निर्माण को ही प्राथमिकता देते हैं और काव्य-निर्माण के प्रसंग में उन्होंने जो चिंतन-मनन किया है उसीसे आलोचना की उत्पत्ति हुई है। इस प्रधान-गौणभाव को उन्होंने काव्य को कर्मशाला और आलोचना को उपजात (by-product) कहकर स्पष्ट कर दिया है।

इलियट अपनी आलोचना को अपनी काव्य-कर्मशाला का उपजात तो कहते ही हैं, साथ-साथ यह भी मानते हैं कि कारयित्री (creative) और भावयित्री (critical) प्रतिभाएं परस्पर-पूरक हैं; अतः आलोचक और सर्जक प्रायः एक ही व्यक्ति को होना चाहिए।[३] जिसे कवि-कर्म का अनुभव नहीं है, वह अच्छा आलोचक नहीं हो सकता। एक अर्थ में यह कथन ठीक है पर इसे नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अच्छा कवि अच्छा आलोचक भी हो अथवा अच्छा आलोचक अच्छा कवि भी हो, यह आवश्यक नहीं है। स्वयं इलियट ने कहा है कि अधिक अधीती होना कवि-कर्म में सहायक नहीं होता, बल्कि कभी-कभी बाधक भी बनता है किंतु आलोचक के लिए तो अधीती होना अनिवार्य है। ड्राइडन, कॉलरिज, आर्नल्ड, इलियट आदि अपवाद हैं, नियम नहीं। यूरोपीय आलोचना के प्रतिष्ठापक अरस्तू कवि या नाटककार नहीं थे। भारत में भरत या भामह, कुंतक या मम्मट के संबंध में कहीं चर्चा नहीं है कि वे कवि भी थे।

ध्यातव्य है कि इलियट की आलोचना मुख्यतः सर्जक की दृष्टि से लिखी गयी है, पाठक की दृष्टि से नहीं। जैसे रिचर्ड्स की आलोचना केवल पाठक के लिए है, वैसे इलियट की आलोचना केवल पाठक के लिए नहीं है। वह सर्जक और पाठक दोनों के लिए है।

इलियट ने आलोचना के न तो सिद्धांत बनाये हैं, न नियम। उन्हें आलोचना के किसी व्यक्ति, वाद या संप्रदाय से भी जोड़ना संभव नहीं है। वे स्वतंत्रचेता आलोचक हैं और उनके वैयक्तिक मानदंड हैं। उन्हें जहां जो भी ग्राह्य प्रतीत हुआ है उसे उन्होंने निस्संकोच ग्रहण किया है। इसलिए उनकी आलोचना पर प्रभाव तो बहुतों का है किंतु पूर्ण अनुगमन उन्होंने किसी का नहीं किया है। उदाहरणार्थ, वे अपने को आभिजात्यवादी (classicist) घोषित करते हैं पर स्वच्छंदतावाद (romanticism) के तत्त्व भी उनमें वर्तमान हैं। बार-बार अवैयक्तिकता की बात करते हुए भी वे वैयक्तिकता से मुक्त नहीं हैं।

२. It is a by-product of my private poetry-workshop; or a prolongation of the thinking that went into the formation of my verse.
—On Poetry and Poets; p. 106.

३. The two directions of sensibility are complementary;......it is to be expected that the critic and the creative artist should frequently be the same person.
—The Sacred Wood; p. 16.

वस्तुतः इलियट की आलोचना का मुख्य उद्देश्य है—अपनी कविताओं के बोध (understanding), आस्वाद (enjoyment) और परिशंसन (appreciation) की भूमि तैयार करना। रुचि-परिष्कार (correction of taste) को वे आलोचना का अन्यतम प्रयोजन मानते हैं। रुचि-परिष्कार से अभिप्रेत है वैसे काव्य में रुचि उत्पन्न करना, जिससे पाठक परिचित या अवगत नहीं है अथवा यदि परिचित है भी तो उस काव्य को नयी दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। काव्य की कोई भी नयी धारा जब फूटती है तो उसे स्वीकृति प्राप्त करने के पूर्व विरोधों और अवरोधों का सामना करना पड़ता है क्योंकि साधारणतः मनुष्य अभ्यस्त को छोड़ना और अनभ्यस्त को अपनाना नहीं चाहता। काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के अंगीकरण के समय अथवा छायावाद के प्रवर्तन के समय कवियों को ऐसे ही विरोधों-अवरोधों का सामना करना पड़ा था।

इलियट की सर्जनशीलता और आलोचना कर्तृत्व की दृष्टि से ही नहीं कीर्ति की दृष्टि से भी परस्पर सहायक और पूरक हैं। उनके कवि-रूप ने आलोचक-रूप को और आलोचक-रूप ने कवि-रूप को प्रतिष्ठित करने में पर्याप्त सहायता की है। १९१५ ई० में उनके लंदन पहुंचने पर उन्हें दो समर्थ साहित्यिकों के निकट संपर्क में आने का अवसर मिला। टी० ई० ह्यूम और एजरा पाउंड, दोनों बिंबवादी आंदोलन (Imagist movement) के प्रतिभाशाली तथा प्रभावशाली नेता थे। इलियट को उनके संपर्क का लाभ लेखन में भी मिला और कीर्ति-विस्तार में भी। 'द वेस्टलैंड' के प्रकाशन के पूर्व इलियट की कुछ कविताएं और समीक्षाएं प्रकाशित हो चुकी थीं किंतु वे पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में असफल रहीं। आरंभ में इलियट भी बिंबवादी आंदोलन से संपृक्त रहे किंतु ह्यूम की मृत्यु (१९१७) और पाउंड के पेरिस प्रवास (१९२०) के अनंतर किसी संप्रदाय या वाद से संबद्ध न होकर इलियट स्वतंत्र रूप से अपनी रुचि तथा इच्छा के पथ पर अग्रसर होते गये। १९२० में इलियट की प्रथम आलोचनात्मक कृति—'दि सेक्रेड वुड' प्रकाशित हुई, जिसमें 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' नामक प्रसिद्ध लेख संगृहीत है। यह लेख इलियट की आलोचना का मूलाधार है और 'प्रस्थानबिंदु भी। १९२२ में 'द वेस्टलैंड' के प्रकाशन को न केवल इलियट के लिए बल्कि अंग्रेजी साहित्य के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण घटना कह सकते हैं। इसके प्रकाशन से शुरू में बेहद हो-हल्ला मचा। 'द वेस्टलैंड' की अस्पष्टता और असंबद्धता से खीजकर कुछ आलोचकों ने इसे साहित्यिक धोखाधड़ी (literary hoax) तक कहा किंतु धीरे-धीरे आक्रोश परिशंसन (appreciation) में परिणत हो गया और साहित्य-जगत् में इस कृति की, और इसके द्वारा इलियट की, प्रतिष्ठा अविचल हो गयी। लगभग पचास वर्षों तक इलियट अंग्रेजी साहित्य के अप्रतिस्पर्धी कवि तथा आलोचक के रूप में समादृत रहे।

इलियट का लेखन १९१५ ई० के बाद आरंभ होता है। इस समय का अंग्रेजी काव्य ह्रासोन्मुख था और आलोचना दिशाहीन थी। १९वीं शताब्दी के आरंभ में रोमांटिक कवियों (वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली आदि) ने जिस आलोचना का सूत्र-

पात किया था उसमें कवि की वैयक्तिकता, भावना और कल्पना का प्राधान्य था। मैथ्यू आर्नल्ड ने वैयक्तिकता के अतिरेक को अवैयक्तिकता से संतुलित करने का प्रयास किया किंतु साहित्य से अधिक संस्कृति की ओर और काव्य से अधिक धर्म की ओर उन्मुख रहने के कारण उन्हें अभीप्सित सफलता नहीं मिली। इस बीच उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में वाल्टर पेटर (१८०६-६३) और ऑस्कर वाइल्ड (१८५६-१६००) द्वारा प्रवर्तित कलावाद (कला कला के लिए) अपनी अतिवादी भंगिमा के साथ साहित्यिक मंच पर अवतरित हुआ। सेन्ट्सबरी की आलोचना ऐतिहासिक और जीवनी-मूलक (biographical) थी। तात्पर्य कि आलोचना की इन प्रचलित पद्धतियों में कवि की प्रधानता और कृति की गौणता थी। इसलिए इलियट ने उद्बाहु घोषणा की कि "सच्ची आलोचना तथा सूक्ष्म परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं बल्कि काव्य है।"[४] इस एक वाक्य में पूरी एक शताब्दी की व्यक्तिवादी आलोचना-सरणि को इलियट ने चुनौती ही नहीं दी, बल्कि दूसरी दिशा में मोड़ दिया। उनके 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' नामक लेख का उद्देश्य ही है रोमांटिक संप्रदाय (cult) की व्यक्तिवादिता के बदले परंपरा का महत्त्व स्थापित करना और परंपरा के अंतर्गत ही वैयक्तिक प्रज्ञा (individual talent) की सार्थकता प्रदर्शित करना।

इलियट की साहित्यिक मान्यताओं को ठीक से समझने के लिए संस्कृति तथा परंपरा के संबंध में उनकी मान्यताओं की थोड़ी जानकारी अपेक्षित है। संस्कृति की स्थिति वे व्यक्ति, वर्ग (समूह) तथा समाज में मानते हैं। किंतु ये तीनों सापेक्ष तथा अन्योन्याश्रित हैं और इनमें भी संस्कृति का पूर्णतम रूप वह है जो समाज में देखने को मिलता है क्योंकि व्यक्ति या वर्ग की संस्कृतियां भी समाज से ही उद्भूत होती है।[५] समाज की संस्कृति का अर्थ है, पूरे समाज की जीवन-पद्धति, जिसके घटक तत्त्व हैं: (क) नागरता (urbanity) या भद्रता; (ख) ज्ञान; (ग) दर्शन और (घ) कला। इलियट के अनुसार, संस्कृति जीवंत तत्त्व है और वह समाज के सभी स्तरों पर काम करती है। चूंकि इलियट के अनुसार, संस्कृति का संबंध समाज की समग्र जीवन-पद्धति से है, अतः उसका संबंध धर्म से भी है क्योंकि धर्म भी जीवन-पद्धति का अन्यतम अंग है।

इलियट की संस्कृति-विषयक दूसरी मान्यता यह है कि संस्कृति का निर्माण सचेत प्रयास (conscious effort) से या योजनाबद्ध रूप में नहीं होता। संस्कृति

४. Honest criticism and sensitive appreciation is directed not upon the poet but upon the poetry.
—S. W; p. 53.

५. The term culture has different associations according to whether we have in mind the development of an individual, of a group or class or of a whole society...the culture of the individual is dependent upon the culture of a group or class and the culture of the group or class is dependent upon the culture of the whole society to which that group or class belongs.
—Selected Prose; p. 245-46

तो स्वयं समाज की योजनाओं की पृष्ठभूमि में अलक्षित भाव से वर्तमान रहती है।[६] इसलिए राजनीतिकों (politicians) और बौद्धिकों (intellectuals) द्वारा सम-सामयिक संस्कृति की तलाश को वे निरर्थक ही नहीं, खतरनाक भी मानते हैं।

संस्कृति की इस धारणा से ही इलियट की परंपरा की धारणा भी विकसित हुई है जिसकी सविस्तार चर्चा आगे होगी। इलियट सारे यूरोप को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखते हैं जिसके दो साधक तत्त्व हैं: एक तो ग्रीस और रोम का दाय (heritage) और दूसरा ईसाई धर्म। ये दोनों यूरोप की सम्मिलित परंपरा (shared tradition) के अनिवार्य अंग हैं। इन तत्त्वों का संबंध अतीत से ही नहीं, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में वर्तमान से भी है। इलियट ने परंपरा (tradition) की निम्नलिखित परिभाषा की है: "परंपरा पूर्णतः, अथवा प्रधानतः भी, कतिपय मतांध विश्वासों का परिरक्षण नहीं है; ये विश्वास तो परंपरा के निर्माण-क्रम में रूप-ग्रहण करते हैं। परंपरा से वे सभी आभ्यासिक क्रियाएं, प्रथाएं, आचार अभिप्रेत हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्यों से लेकर किसी अपरिचित के अभिवादन की औपचारिक रीति तक सम्मिलित है और जो एक ही स्थान में रहनेवाले एक ही लोगों के रक्त-संबंध को द्योतित करते हैं।"[७]

इस परिभाषा से सहसा ऐसा बोध होता है कि इलियट संस्कृति और परंपरा को अभिन्न मानते हैं किंतु बात ऐसी नहीं है। इलियट की दृष्टि में परंपरा जीवित संस्कृति का वह अंश है जो अतीत से दाय के रूप में प्राप्त होकर वर्तमान का निर्माण करती है और भविष्य का दिशा-निर्देश करती है; तात्पर्य कि निर्जीव या अनुपयोगी अतीत परंपरा नहीं है; परंपरा अविच्छिन्न प्रवाह है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य परस्पर संबद्ध हैं। परंपरा का यह सूत्र इलियट के लेखन में सर्वत्र अनुस्यूत है।

परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा

जैसा हमने पहले कहा है, 'ट्रैडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' नामक लेख इलियट की समस्त आलोचना का आधार है। अतः उसका विश्लेषण आवश्यक है। लेख के तीन भाग हैं; प्रथम भाग में निम्नलिखित १ से ६ तक के प्रतिपाद्यों का वर्णन है। द्वितीय भाग में ७ से ११ तक के और तृतीय में १२ के।

१. इलियट का कहना है कि प्रत्येक राष्ट्र की, प्रत्येक प्रजाति (race) की अपनी सर्जनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक मनोवृत्ति भी हुआ करती है[८] जिसमें उसकी

६. Culture can never be wholly conscious...,and it cannot be planned because it is also the unconscious background of all our planning. —N.D.C.; p. 94.

७. Tradition is not solely, or even primarily the maintenance of certain dogmatic beliefs ; these beliefs have come to take their living form in the course of the formation of a tradition. What I mean by tradition involves all those habitual actions, habits and customs, from the most significant religious rites to our conventional way of greeting a stranger, which represent the blood kinship of the same people living in the same place. —After strange Gods; p. 18.

८. Every nation, every race, has not only its own creative, but its own critical turn of mind. —S.W.; p. 47.

विशेषताएं प्रतिफलित रहती हैं।

२. सांस की तरह आलोचना अनिवार्य तथा नैसर्गिक क्रिया है।[९] कुछ भी पढ़ते, देखते या सुनते समय उसके गुण-दोषों का भान मन में सहज भाव से होता चलता है; अंतर इतना ही है कि कभी तो हम उसे अभिव्यक्त करते हैं और कभी नहीं।

३. किसी कवि की प्रशंसा करते समय हम प्रायः उन पक्षों पर बल दिया करते हैं जिनमें दूसरे कवियों से उसका न्यूनतम साम्य होता है अर्थात् उसमें हम उसकी वैयक्तिक विशेषताएं देखने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में, यों कहें कि अपने पूर्ववर्ती कवियों से जिन अंशों में वह भिन्न है, उन्हीं से हम आनंद प्राप्त करना चाहते हैं। किंतु यदि ठीक से देखें तो पाएंगे कि किसी कवि की रचना में सर्वोत्कृष्ट ही नहीं, सर्वाधिक वैयक्तिक पक्ष भी संभवतः वे ही होते हैं, जिनमें उसके पूर्ववर्ती, दिवंगत कवियों का प्रभाव बहुत जोरदार ढंग से व्यक्त हुआ होता है। इलियट के कहने का तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक प्रज्ञा (individual talent) परंपरा से असंबद्ध, निरपेक्ष या विच्छिन्न वस्तु नहीं है। परंपरा से जुड़ा रहकर भी, या यों कहें कि जुड़ा रहकर ही, कवि अपनी वैयक्तिक क्षमता को अधिक सफलता तथा रमणीयता से उजागर कर सकता है। तुलसीदास या प्रसाद इसके अच्छे उदाहरण हैं। तुलसीदास के सामने रामकाव्य की एक लंबी शृंखला थी जिससे उन्होंने बहुत कुछ लिया किंतु इससे उनके काव्योत्कर्ष पर कोई आंच नहीं आयी। प्रसाद की कामायनी में प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक युग तक की भारतीय मनीषा का उत्तमांश प्रतिफलित है; फिर भी, इस युग का वह सर्वश्रेष्ठ काव्य है। निष्कर्ष यह कि वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रस्फुटन में परंपरा बाधक नहीं, बल्कि साधक और सहायक है।

४. परंपरा के प्रति आसक्ति का अर्थ अंधानुकरण नहीं है। अंधानुकरण या निष्प्राण आवृत्ति से नवीनता कहीं अच्छी है। इलियट की दृष्टि में परंपरा की व्यापक अर्थवत्ता है। उसे दाय या विरासत के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता; उसकी प्राप्ति के लिए कठोर परिश्रम आवश्यक है।[१०] सबसे पहले उसके लिए इतिहास-बोध (historical sense) होना चाहिए। इतिहास-बोध का अर्थ अतीत के अतीतत्व का ही नहीं, अपितु उसके वर्तमानत्व का भी अवगम है (perception, not only of the pastness of the past, but of its presence)।[११] केवल अपनी पीढ़ी को ही ध्यान में रखकर लिखना इतिहास-बोध नहीं है, अपितु उसमें होमर से लेकर पूरे यूरोप के साहित्य का, साथ ही अपने देश के समग्र साहित्य का, युगपत् अस्तित्व हुआ करता है। यह इतिहास-बोध ही, जो **कालातीत** (timeless) तथा **कालिक** (temporal) का **पृथक्-पृथक्** और कालातीत तथा कालिक का **युगपत् बोध** है,

९. Criticism is as inevitable as breathing. —S.W.; p. 48.

१०. Tradition is a matter of much wider significance, it cannot be inherited, and if you want you must obtain it by great labour. —S.W.; p. 49.

११. The historical sense involves a perception, not only of the pastness of the past, but of its presence. —S.W.; p. 49.

लेखक को पारंपरिक बनाता है।[१२]

इलियट का कहना है कि परंपरा कोई मृत या अनुपयोगी वस्तु नहीं है। वस्तुतः जो मृत या अनुपयोगी है, उसे परंपरा की संज्ञा देना ही अनुचित है। परंपरा तो अविच्छिन्न प्रवाह है जो अतीत के साहित्यिक-सांस्कृतिक दाय के उत्तमांश से वर्तमान को समृद्ध एवं सार्थक बनाती है और भविष्य का पथ प्रशस्त करती है। परंपरा का विस्तार देश में भी है और काल में भी।

इलियट ने यूरोप का उदाहरण दिया है। भारत के संदर्भ में व्यास, वाल्मीकि से लेकर आज तक का और केरल से कश्मीर तथा गुजरात से असम तक का सारा दाय भारतीय परंपरा में वर्तमान है और उसे जिस कवि ने जितना आत्मसात् किया है उसे उतनी ही सिद्धि मिली है और प्रसिद्धि भी। इतिहास-बोध इस परंपरा का अभिन्न अंग है क्योंकि जब तक इतिहास का सम्यक् अवगम नहीं होता तब तक न तो कोई कालातीत को समझ पायेगा, न कालिक को, न उनके पार्थक्य को और न उनके योगपद्य को।

५. किसी कवि या कलाकार की पूर्ण सार्थकता केवल अपने-आप में नहीं होती। उसकी सार्थकता, उसकी परिशंसा दिवंगत कवियों और कलाकारों की सापेक्षता में ही होती है।[१३] उसका अकेले मूल्यांकन भी संभव नहीं है; साम्य और वैषम्य के लिए उसे दिवंगत कवियों के साथ रखना आवश्यक है। यह बात केवल ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से ही नहीं, सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत की दृष्टि से भी सही है। जब भी किसी नयी कलाकृति की सृष्टि होती है तो पूर्ववर्ती सभी कृतियों का कुछ-न-कुछ समंजन (adjustment) अनिवार्य हो जाता है।[१४] नयी कलाकृति के आविर्भाव के पहले विद्यमान महत्त्वपूर्ण कृतियों की एक स्थिर व्यवस्था होती है जो नवीन कृति के आने से थोड़ी-बहुत परिवर्तित हो जाती है। जैसे रेल के डिब्बे में किसी नये यात्री के आने पर पहले से बैठे यात्रियों को कुछ-कुछ खिसक कर उसके लिए जगह बनानी पड़ती है, वैसे ही किसी नयी कलाकृति की प्रस्तुति से पहले की कलाकृतियों की स्थिति में कमोबेश हेरफेर होकर रहता है—साम्य-वैषम्य का निर्धारण करने में किसी का मूल्य घटता है, किसी का बढ़ता है। तात्पर्य कि जिस तरह वर्तमान से अतीत परिवर्तित होता है, उसी तरह अतीत से वर्तमान निर्देशित होता है।[१५]

६. कवि को अतीत का, अर्थात् परंपरा का, ज्ञान तो होना चाहिए किंतु ज्ञान के

१२. This historical sense, which is a sense of the timeless as well as of the temporal and of the timeless and of the temporal together, is what makes a writer traditional. —S.W.; p. 49.

१३. No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists. —S.W,; p. 49.

१४. What happens when a new work of art is created is something that happens simultaneously to all the works of art which preceded it. —S.W.; p. 49-50.

१५. The past should be altered by the present as much as the present is directed by the past. —S.W.; p, 50.

भार से आक्रांत नहीं होना चाहिए। बहुत बार अधिक ज्ञान से काव्य-संवेदना या तो निर्जीव हो जाती है या विपर्यस्त हो जाती है।[१६] कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित या उपलब्ध करना आवश्यक है; यही नहीं, इस चेतना को उसे आजीवन विकसित करते रहना है। कलाकार की प्रगति सतत आत्मोत्सर्ग (self-sacrifice) है; व्यक्तित्व का सतत निर्वापण (extinction) है।[१७] व्यक्तित्व के इस अवैयक्तिकीकरण (depersonalization) से ही कला विज्ञान की स्थिति में पहुंच सकती है।[१८]

यहां तक निबंध का पूर्वार्ध है जिसमें इलियट ने मुख्यतः (१) परंपरा की व्याख्या की है; (२) किसी कविता का (खासकर नयी कविता का), महत्त्व पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं के साथ समझने-परखने का आग्रह किया है; और (३) आरंभ से अब तक की काव्य-शृंखला को जीवित इकाई के रूप में देखने पर बल दिया है।

इसके आगे निबंध का उत्तरार्ध है। इसमें अवैयक्तिकता की व्याख्या, रचना की प्रक्रिया, रचनाकार के साथ रचना के संबंध आदि का विचार है।

७. उत्तरार्ध का आरंभक सूत्र है: "सच्ची आलोचना तथा संवेदनात्मक परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं, बल्कि काव्य है।"[१९] प्रौढ़ और अप्रौढ़ कवि में मौलिक अंतर यह है कि प्रौढ़ कवि ऐसा सूक्ष्म और पूर्ण माध्यम है जिसमें विशिष्ट या विविध संवेदन स्वच्छंदतापूर्वक नये रूप में संयोजित हो सकते हैं। इसके लिए इलियट ने एक उत्प्रेरक (catalyst) का दृष्टांत दिया है। ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड (sulphur dioxide) के कक्ष (chamber) में यदि प्लेटिनम (platinum) का एक सूक्ष्म तार डाल दिया जाए तो ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड मिलकर सल्फ्यूरस एसिड (sulphurous acid) बन जाते हैं। यह संयोजन प्लेटिनम के रहने पर ही होता है किंतु नवनिर्मित सल्फ्यूरस एसिड में न तो प्लेटिनम का कोई चिह्न दिखायी देता है और न प्लेटिनम पर पूर्वोक्त दोनों गैसों का कोई प्रभाव पड़ता है; वह (प्लेटिनम) ज्यों का त्यों निष्क्रिय (inert), तटस्थ (neutral) तथा अपरिवर्तित (unchanged) रहता है। कवि का मन प्लेटिनम का तार है। उसके संपर्क से विभिन्न अनुभूतियां, संवेदन या भाव नये से नये रूप ग्रहण किया करते हैं, किंतु वह स्वयं उनसे सर्वथा अप्रभावित रहता है। कलाकार जितना उत्कृष्ट होगा, उसमें अनुभविता (भोक्ता) और स्रष्टा का अंतर उतना ही स्पष्ट होगा[२०] अर्थात् उसके

१६. It will even be affirmed that much learning deadens or perverts poetic sensibility. —S.W.; p. 52.

१७. The progress of an artist is a continual selfsacrifice, a continual extinction of personality. —S.W.; p. 53.

१८. It is in this depersonaliation that art may be said to approach the condition of science. —S. W.; p. 53.

१९. Honest criticism and sensitive apprec ation is directed not upon the poet but upon the poetry. —S.W.; p. 53.

२०. The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates. —S.W.; p. 54.

स्वानुभूत संवेदनों और भावों से काव्य में अभिव्यक्त संवेदन और भाव सर्वथा भिन्न होंगे क्योंकि वह स्वानुभूत भावों को पूर्णत: आत्मसात् करके उन्हें बिलकुल नये रूप में ढाल देता है। इसके प्रतिकूल अप्रौढ़ कवि अपने ही भावों को वाणी देने का प्रयास करता है। फलस्वरूप उसका काव्य घटिया हो जाता है।

८. कलाकृति के आस्वादन से उत्पन्न अनुभूति किसी भी अन्य साधन से उत्पन्न अनुभूति से भिन्न कोटि की होती[२१] है अर्थात् कलाजन्य अनुभूति तथा अकलाजन्य अनुभूति में भेद होता है। रिचर्ड्स का दृष्टिकोण इलियट के दृष्टिकोण के बिलकुल विपरीत है। वे काव्यानुभूति तथा अन्य अनुभूतियों में कोई भेद नहीं मानते।

९. कवि का मन एक ऐसा पात्र है जिसमें अनंत संवेदन, वाक्यखंड, बिंब आदि संचित रहते हैं और वे तब तक उसमें वैसे ही पड़े रहते हैं जब तक सर्जन का क्षण नहीं आता।[२२] सर्जन के क्षण में वे अपना-अपना स्वरूप त्याग कर और नये रूपों में संयोजित होकर कला का विग्रह धारण कर लेते हैं। उत्कृष्टतम काव्य के प्रतिनिधि उद्धरणों की तुलना करने पर न जाने संयोजन के कितने प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें महत्त्व भावों या घटकों (components) की महत्ता या तीव्रता का नहीं, बल्कि कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता (intensity of the artistic process) का है, अर्थात् उस दबाव (pressure) का है जिसमें विभिन्न भावों का संयोजन या विलयन (fusion) होता है और वे घुलमिलकर एक हो जाते हैं।[२३]

१०. कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न बेमानी है क्योंकि उसे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनी ही नहीं है; वह तो अभिव्यक्ति का एक माध्यम-मात्र है जो केवल माध्यम है, व्यक्तित्व नहीं। उस माध्यम (कवि) में संस्कार और अनुभूतियां विलक्षण तथा अप्रत्याशित रूप में संयोजित हुआ करती हैं।[२४] संभव है कि कवि के जीवन में जो संस्कार तथा अनुभूतियां महत्त्वपूर्ण हों उनका काव्य में कोई स्थान हो ही नहीं और जो काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण हों, वे कवि के जीवन में बिलकुल तुच्छ हों। कवि की विशिष्टता या रोचकता उसके व्यक्तिगत भावों अथवा जीवन की घटनाओं से उद्दीप्त भावों पर निर्भर नहीं करती। उसके अपने भाव साधारण, स्थूल या सपाट हो सकते हैं किंतु उसके काव्य के भाव बहुत ही जटिल होते हैं। कवि का काम नये भावों को ढूंढ़ना नहीं, अपितु साधारण भावों का उपयोग करके, काव्यरूप देने की

२१. The effect of a work of art upon the person who enjoys it is an experience different in kind from any experience not of art. —S.W., p. 54

२२. The poets' mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images, which remain there until all the particles which can unite to form a new compound are present together. —S,W., p. 55.

२३. For it is not the greatness, the intensity, of the emotions, the components, but the intensity of the artistie process, the pressure, so to speak, under which the fusion takes place, that matters. —S. W., p. 55.

२४. The poet has, not a personality to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality, in which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways. —S. W., p. 56.

प्रक्रिया में, उनसे ऐसे संवेदनों को व्यक्त करना है जो (संवेदन) वास्तविक भावों में विद्यमान थे ही नहीं।[२५]

११. वर्ड्सवर्थ के काव्य-लक्षण (emotions recollected in tranquillity) पर टिप्पणी करते हुए इलियट कहते हैं कि यह सूत्र ठीक नहीं है क्योंकि यहां तीनों ही शब्दों का प्रयोग असंगत है। पहली बात तो यह कि काव्य में कोई भाव सीधे-सपाट ढंग से आता ही नहीं बल्कि उसमें भावों का, अनुभूतियों का संकेंद्रण (concentration) रहता है और उस सकेंद्रण से एक बिलकुल नयी चीज पैदा हो जाती है। दूसरी बात यह कि यह संकेंद्रण सचेत (conscious) या ऐच्छिक (deliberate) भी नहीं होता। कोई कवि जब चाहे तब संकेंद्रण कर ले, यह संभव नहीं है। तीसरी यह कि अनुभूतियों की अनुस्मृति (recollection) वाली बात भी गलत है। एक तो अनुभूतियों की अनुस्मृति नहीं होती और जिस प्रशांत (tranquil) वातावरण में उनका संयोजन होता है, वह प्रशांत केवल इसी अर्थ में है कि निष्क्रिय रहता है। यह ठीक है कि काव्य-रचना के क्रम में बहुत कुछ ऐसा भी है जो सचेत और ऐच्छिक हुआ करता है किंतु उसका ज्ञान सत्कवि को ही होता है। कुकवि तो, जहां सचेत होना चाहिए, वहां अचेत रहता है और जहां अचेत होना चाहिए वहां सचेत हो जाता है। दोनों ही प्रकार की भूलें उसे 'वैयक्तिक' (personl) बना देती हैं। "काव्य भाव का स्वच्छंद प्रवाह नहीं, भाव से मुक्ति (escape) है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से मुक्ति है। किंतु निश्चय ही, जिन्हें व्यक्तित्व और भाव हैं, वे ही यह जान सकते हैं कि उनसे मुक्ति की आकांक्षा का अर्थ क्या होता है।"[२६]

१२. निबंध का उपसंहार करते हुए इलियट दुहराते हैं कि काव्य में अधिकतर लोग **सच्चे भाव की अभिव्यंजना** की परिशंसा करते हैं; कुछ लोग **शिल्प की उत्तमता** की परिशंसा करते हैं पर बहुत कम लोग **सार्थक भाव** की अभिव्यंजना से अवगत हो पाते हैं—सार्थक भाव अर्थात् वह भाव जिसका अस्तित्व काव्य में होता है, कवि के जीवन वृत्त में नहीं। कला का भाव अवैयक्तिक ही होता है और कवि इस अवैयक्तिकता को तब तक नहीं पा सकता जब तक वह कृति के प्रति पूर्णतः समर्पित न हो।

इलियट ने आलोचना के उद्देश्यों का निरूपण कई प्रकार से किया है :

(क) आलोचना का मूलतत्त्व है अच्छी कविता के चयन की ओर बुरी कविता के त्याग की क्षमता।[२७]

२५. The business of the poet is not to find new emotions but to use the ordinary ones, and, in working them up into poetry, to express feelings which are not in actual emotions at all. —S. W.; p. 58.

२६. Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality. But, of course, only those who have personality and emotions know what it means to want to escape from these things. —S. W ; p. 58.

२७. The rudiment of criticism is the ability to selec a good poem, and reject a bad poem. —The Use of Poetry and the Use of Criticism., p; 18.

(ख) आलोचना का **महान्** और **शाश्वत** कार्य है **अतीत** के कवियों में प्राण-संचार करना।[२८]

(ग) **आलोचक का कर्त्तव्य** है परंपरा को कायम रखना,—साहित्य को स्थिर और अखंड रूप में देखना अर्थात् उसे काल द्वारा नियंत्रित रूप में न देखकर कालातीत रूप में देखना।[२९]

अब **आलोचना** के कार्य के संबंध में इलियट की उक्तियों पर ध्यान दें :

"मैं मानता हूं कि आलोचना विचार का वह विभाग है जो यह जानने का प्रयास करता है कि काव्य क्या है, वह किन आकांक्षाओं को संतुष्ट करता है, क्यों लिखा जाता है, क्यों पढ़ा जाता है; ···अथवा कैसे वास्तविक काव्य का मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना की दो सैद्धांतिक सीमाएं हैं : एक तो यह कि '**काव्य क्या है**' ? और दूसरा यह कि '**क्या यह अच्छी कविता है**' ?"[३०]

इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ना लेखक और पाठक दोनों के लिए उपादेय है। आलोचना के उद्देश्यों के प्रश्न पर इलियट का कहना है : "आलोचना की दृष्टि सदा उद्देश्य पर रहनी चाहिए। स्थूल रूप में उसके दो उद्देश्य हैं : **कला-कृतियों का विशदन** (elucidation of works of art) तथा **रुचि का परिष्कार** (correction of taste)। विशदन (elucidation) का औचित्य यह है कि अधिकतर लोग समस्याओं को स्पष्टतः देख नहीं पाते। इसीलिए पुस्तकों के विषय में पुस्तकें लिखने की आवश्यकता होती है जिससे बातें सुलझ जाएं। और, रुचि का परिष्कार इसलिए अपेक्षित है कि पाठक एक ही प्रकार के काव्य से संसक्त (चिपके) न रहें; नये काव्य का भी सौंदर्य हृदयंगम कर सकें।

इलियट ने आलोचना के ये दो उद्देश्य १९२३ में 'द फंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' नामक लेख में उपस्थापित किये थे। तैंतीस वर्षों के बाद १९५६ में लिखित 'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' नामक लेख में उन्होंने उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों (कला-कृतियों का विशदन और रुचि का परिष्कार) के बदले दो अन्य उद्देश्य प्रस्तुत किये—साहित्य का **बोध** और **आस्वाद** (the understanding and enjoyment of literature)[३१]।

२८. To bring the poet back to life (is) the great, perennial, task of the critic.
—Selected; Essays. p. 292.

२९. To preserve tradition···to see literature steadily and to see it whole; and that is eminently to see it not as consecrated by time, but to see it beyond time.
—S. W.; Introduction, p. XV.

३०. I assume that criticism is that department of thought which either seeks to find out what poetry is, what desires it satisfies, why it is written and why read or recited; or which···assesses actual poetry···there are these two theoretical limits of criticism at one of which, we attempt to answer the question 'what is poetry ?', and at the other; 'is this a good poem ?'
—U. P. U. C.; p 16.

३१. Thirty years ago, I asserted that the essential function of literary criticism was the elucidation of works of art and the correction of taste. That phrase may sound somewhat pompous to our ears in 1956. Perhaps I could put it

कवि-आलोचक के विषय में इलियट का कहना है कि "महत्त्वपूर्ण आलोचक वह व्यक्ति है जो कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन समस्याओं पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता प्रदर्शित करना चाहता है।"[३२] इलियट स्वयं इस कोटि के आलोचक हैं।

निष्कर्षतः इलियट की दृष्टि में आलोचना के निम्नलिखित कार्य हैं :[३३]

१. काव्य के स्वरूप का अनुसंधान।
२. अच्छे और बुरे काव्य का भेद-निरूपण।
३. साहित्य की जीवंत परंपरा का परिरक्षण।
४. कलाकृतियों का विशदन।
५. रुचि का परिष्कार।
६. विशदन और रुचि-परिष्कार (४-५) के बदले साहित्य के बोध और आस्वाद का संवर्धन।
७. स्थायी कलात्मक मूल्यों और मानदंडों का समसामयिक कला पर विनियोग।

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि इलियट की आलोचना में **कला, कलाकृति, साहित्य, लेखन, काव्य** आदि शब्द परस्पर-परिवर्तनीय रूप में अर्थात् पर्यायवत् प्रयुक्त हुए हैं।[३४] इसलिए इन शब्दों का अर्थगत भेद अनेकत्र तिरोहित हो गया है।

इलियट के अनुसार आलोचना के उपर्युक्त उद्देश्यों की सिद्धि के दो साधन हैं : **तुलना** (comparison) तथा **विश्लेषण** (analysis)[३५]। तुलना के क्रम में किसी कवि (कृति) के मूल्यांकन के लिए अतीत के मानदंड अनिवार्य होते हैं किंतु उनका प्रयोग मूल्यांकन के लिए ही होना चाहिए, अंगच्छेदन के लिए नहीं। आलोचना तो केवल मूल्यांकन है, तुलना है, जिसमें दो वस्तुएं एक-दूसरी से तौली जाती हैं।[३६] बहुत महत्त्वपूर्ण बातों में आलोचक को अपना निर्णय मनवाने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए और न अधिक अच्छे या अधिक बुरे का फतवा ही देना चाहिए; उसे

more simply and more acceptably to the present age, by saying to promote the understanding and enjoyment of literature.
—On Poetry and Poets; p, 115.

३२. The important critic is the person who is absorbed in the present problems of art, and who wishes to bring the forces of the part to bear on these problems. —S. W.;p. 38.

३३. T. S. Eliot and the Idea of Tradition, —Sean Lucy; p.; 41.

३४. In Eliot's writings we find the words and terms 'Art', 'works of art', 'Literature', 'writings' and 'Poetry' used in···interchangeable ways. —Ibid; p. 41.

३५. Comparison and analysis are···the chief tools of the critic. —S. W.; p. 32.

३६. ·· he must inevitably be judged by the standards of the past. I say judged, not amputated, by them; not judged to be as good as, or worse or better than, the dead; and certainly not judged by the canons of dead critics. It is a judgment, a comparison in which two things are measured by each other. —S. W.; p. 50.

केवल विशदन (elucidate) कर देना चाहिए; उचित निर्णय पाठक अपने-आप कर लेगा।[३७]

स्पष्ट है कि तुलना में इलियट केवल मापन (measuring) पर बल देते हैं और अच्छे-बुरे के निर्णय का निषेध करते हैं। परंतु प्रश्न है कि तुलना में अच्छे-बुरे के निर्णय से बिलकुल बचना संभव है क्या ? सैद्धांतिक दृष्टि से यह बात भले संभव हो पर व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है। कवि और आलोचक की तटस्थता तथा अवैयक्तिकता को सर्वस्व बताने वाले इलियट स्वयं भी तटस्थ नहीं रह सके हैं। मिल्टन या शेली की आलोचना के प्रसंग में उनकी व्यक्तिगत भावना, जो साहित्येतर कारणों से प्रेरित है, उभर कर प्रकट हुई है। "शेली के कुछ विचार मैं अत्यधिक नापसंद करता हूं और इससे मेरा उन कविताओं का आस्वादन बाधित होता है जिन में वे विचार रहते हैं।"[३८] यही नहीं, "सच्ची आलोचना और संवेदनशील परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं, बल्कि काव्य है" के सिद्धांत का उद्घोषक जब शेली के विषय में कहता है कि "वह आदमी विनोदहीन, पंडितम्मन्य, आत्मकेंद्रित और कभी-कभी बदमाश (गुंडा) भी था;"[३९] तो स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धांत और व्यवहार का समन्वय कितना कठिन है।

तुलना के संबंध में इलियट ने जो कहा है उसका तात्पर्य इतना ही है कि तुलना अधिक से अधिक तटस्थ और राग-द्वेष से मुक्त होनी चाहिए। यहां दो बातें विचारणीय हैं: (१) इलियट तुलना के संदर्भ में केवल अतीत की चर्चा करते हैं; समसामयिक कृतियों से तुलना का उल्लेख बिलकुल नहीं करते। जो आलोचक वर्तमान में अतीत की सार्थकता देखने का आग्रही है, वह वर्तमान की सार्थकता के प्रति उदासीन क्यों है, यह समझ में नहीं आता। यदि किसी कवि की तुलना प्राचीन कवियों से हो सकती है तो समसामयिक कवियों से क्यों नहीं हो सकती ? वह तो अधिक संगत तथा सार्थक होगी। (२) एक ओर तो इलियट मूल्यांकन के लिए अतीत के मानदंडों के प्रयोग की बात करते हैं और दूसरी ओर उसी सांस में यह भी कहते हैं कि "मृत कवियों के सिद्धांतों से मूल्यांकन निश्चय ही नहीं होना चाहिए" तो विरोधाभास दुर्निवार हो जाता है। अतीत के मानदंडों के प्रयोग में मृत कवियों के सिद्धांतों से कैसे बचा जा सकता है ?

यहां एक प्रश्न उठता है कि यदि आलोचक किसी कृति के संबंध में अच्छे-बुरे का निर्णय नहीं दे सकता तो फिर उसका विशदन (elucidation) वह करेगा कैसे ? इसका उत्तर इलियट के निम्नलिखित कथन में निहित है: "आलोचक को तथ्य का

३७. In matters of great importance the critic must not coerce and he must not make judgments of worse and of better. He must simply elucidate; the reader will form the correct judgment for himself. —S. W.; p. 11.

३८. Some of Shelley's views I positively dislike and that hampers my enjoyment of the poems in which they occur. —U. P. U. C.; p. 91.

३९. The man was humourless, pedantic, self-centred and sometimes almost a blackguard. —U. P. U. C.; p. 39.

अत्यंत विकसित ज्ञान होना चाहिए।"[४०] तुलना और विश्लेषण के लिए कलाकृति के केवल तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए, अर्थात् उन तथ्यों पर जो कलाकृति से, उसके इतिहास से और उसकी पृष्ठभूमि से संबद्ध हों। इस युग के तथ्यानुसंधान पर व्यंग्य करते हुए इलियट कहते हैं कि "अंग्रेजी उपन्यासों में जिराफों का कितनी बार उल्लेख हुआ है," इसकी गिनती अथवा 'शेक्सपियर की धुलाई के बिल की खोज' जैसे तथ्यों में सर खपाना व्यर्थ का प्रयास है। ऐसे तथ्यों से काव्यास्वाद का क्या संबंध ? कलाकार की जीवनी का उपयोगी अंश भी आलोचना का स्थान नहीं ले सकता। इसलिए आलोचना के संदर्भ में तथ्य से वह तथ्य अभिप्रेत है जो कला की प्रकृति को स्पष्ट करने में सहायक हो और किसी कृति की परिशंसा (appreciation) का साधक हो।

'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' (१९५६) शीर्षक लेख में इलियट ने तथ्यपरक आलोचना की कुछ सीमाओं का निर्देश किया है। कविता के उपादानों और कारणों के गहन अध्ययन से उद्भूत आलोचना-पद्धति पर टिप्पणी करते हुए इलियट कहते हैं कि "कविता को समझने के लिए यह जानना भी नितांत आवश्यक है कि किसी काव्य का प्रयोजन क्या है।"[४१] रिचर्ड्स और उनके छात्र विलियम एम्पसन किसी कृति के विश्लेषण में उस कृति के अतिरिक्त और किसी वस्तु की कोई उपादेयता नहीं मानते, यहां तक कि कृतिकार की दूसरी कृतियों से भी बिलकुल अलग रखकर उसका विवेचन-विश्लेषण करने पर बल देते हैं। इलियट का कहना है कि इस पद्धति में ईमानदारी और एकनिष्ठता के गुण तो हैं किंतु खतरे भी हैं। हम यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि (क) किसी कविता का एकमात्र अर्थ वही है जिसे आलोचक बता रहा है और (ख) कवि को भी यही अर्थ अभिमत था। इस आलोचना को इलियट 'नींबू-निचोड़ आलोचना' (lemon-squeezer criticism) कहते हैं क्योंकि अत्यंत विस्तृत विश्लेषण से कविता का प्रभाव या सौंदर्य बिखर जाता है जैसे गुलाब के फूल की पंखुड़ियों को अलग-अलग कर देने से उसका आकर्षण नष्ट हो जाता है। कविता का सौंदर्य उसकी संहत पूर्णता में है, न कि विच्छिन्न अवयवों में। रिचर्ड्स या एम्पसन की शाब्दिक विश्लेषण (verbal analysis) की पद्धति उस पूर्णता को ही छिन्न-भिन्न कर देती है। निष्कर्ष कि कविता का सौंदर्य उसकी समग्रता तथा अखंडता में है और आस्वाद के लिए भी आलोचक को रमणीयता के घटक तत्त्वों का संकेतमात्र करना चाहिए, विच्छेदन नहीं।

तथ्यपरक आलोचना (factual criticism) की सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी इलियट काव्य की उत्तमता के निर्धारण के लिए आलोचना के वस्तुनिष्ठ मानदंडों में विश्वास करते हैं और प्रभाववादी आलोचना की आत्मनिष्ठता के विरोधी हैं। कविता के गुण-दोष-विवेचन के लिए, परिशंसन के लिए प्रभाववादी आलोचक

४०. A critic must have a very highly developed sense of fact. —S. E; p. 31.

४१. To understand a poem it is also necessary...that we should endeavour to grasp what the poetry is aiming to be. —O. P. P.; p. 110.

कोई वस्तुनिष्ठ मानदंड काम में नहीं लाता, उसका एकमात्र मानदंड है व्यक्तिगत रुचि-अरुचि या पसंदगी-नापसंदगी : "यह कविता अच्छी है क्योंकि मुझे पसंद है।" इलियट काव्य के समान आलोचना से भी वैयक्तिकता को अलग रखना चाहते हैं और उसे अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ बनाना चाहते हैं।

आलोचना के लिए तथ्य उपयोगी तो हैं किंतु सभी तथ्य उपयोगी नहीं होते, यह जिराफ वाले दृष्टांत में इलियट स्पष्ट कर चुके हैं। उनका कहना है कि बहुत बार तथ्य संगत और उपयोगी होते हुए भी गलत ढंग से या गलत उद्देश्य के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। तथ्य की प्रासंगिकता का विचार नहीं करने वाला आलोचक कविता के नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि पक्षों में ही इतना उलझ सकता है कि काव्यत्व का मूल्यांकन गौण पड़ जाए।[४२] फलतः कविता का कथ्य ही प्रधान हो सकता है और कथन-भंगी, जो कला को कलात्मकता प्रदान करती है, उपेक्षित हो सकती है।

"काव्य क्या है"—इस प्रश्न के उत्तर में इलियट का कहना है कि यह आलोचना के सही उद्देश्यों में निस्संदेह अन्यतम है किंतु इसके समाधान में सतर्कता अपेक्षित है। "यदि आप आलोचक की प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते हैं और अपने को दार्शनिक, तत्त्वमीमांसक, समाजविज्ञानी या मनोविज्ञानी प्रमाणित नहीं करना चाहते तो आपको दार्शनिक सीमा-रेखा का अतिक्रमण हर्गिज़ नहीं करना चाहिए।"[४३] ध्यातव्य है कि इलियट दार्शनिक सीमा-रेखा के अतिक्रमण का निषेध करते हैं किंतु कोलरिज दर्शन को सौंदर्यशास्त्र के लिए अनिवार्य मानते हैं। यहां यह अनुमान गलत नहीं होगा कि इलियट दर्शन का नहीं, संभवतः दर्शन के अतिरेक का निषेध करते हैं। उनके कथन का अभिप्राय इतना ही है कि आलोचना का प्रकृत रूप दर्शन के भार से दबना या छिपना नहीं चाहिए। अन्य शास्त्र साधन के रूप में ही रहने चाहिए और साध्य आलोचना को ही होना चाहिए।

इलियट के अनुसार, "काव्य क्या है"—इस प्रश्न का कोई एक उत्तर नहीं है। आलोचक विभिन्न शास्त्रों का आधार लेकर, विभिन्न रूपों में, इस प्रश्न का समाधान करते हैं, किंतु वह इस प्रश्न का वास्तविक समाधान नहीं, आलोचकों की अपनी भावना का प्रतिक्षेप है। इस प्रश्न का समाधान किसी एक सिद्धांत से हो भी नहीं सकता क्योंकि देश-काल के भेद से काव्य के इतने भेद-प्रभेद हैं कि वे किसी एक काव्य-लक्षण में अंतर्भुक्त नहीं हो सकते।[४४] इसलिए इलियट सामूहिक प्रयास की बात करते

४२. The critic may busy himself so much with the implications of a poem—implications moral, social, religious or other—that the poetry becomes hardly more than a text for a discourse. —U. P. U, C.; p. 64.

४३. There is a philosophic underline, which you must not transgress too far or too often, if you wish to preserve your standing as a critic, and are not prepared to present yourself as a philosopher, metaphysician, sociologist, or psychologist instead. —U. P. U. C.; p. 64.

४४. The criticism of no one man and of no one age can be expected to embrace the whole nature of poetry. —U. P. U. C.; p. 141.

हैं। सच्चे आलोचनात्मक मूल्यों और सिद्धांतों की तलाश के लिए हम किसी एक आलोचक या किसी एक युग पर निर्भर नहीं कर सकते, बल्कि आलोचना की पूरी परंपरा को देखना आवश्यक होगा और सभी आलोचकों के विचारों के समाहार से ही आलोचना का व्यापक ढांचा तैयार करना होगा। यह इसलिए भी जरूरी है कि आलोचकों के व्यक्तिगत ज्ञान, अनुभूति, बोध और रुचि में इतना अंतर पड़ता है कि वे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते।

दूसरे प्रश्न—"क्या यह कविता अच्छी है"—के उत्तर में इलियट का कहना है कि मूल्य का कोई ऐसा अंतिम रूप नहीं है जिसके आधार पर आलोचक इस प्रश्न का समाधान करे। अच्छे और बुरे लेखन के सामान्य मानदंडों का निर्देश अनेक आलोचकों ने किया है, स्वयं इलियट ने भी किया है किंतु वे भी इस प्रश्न का अव्यभिचरित समाधान करने में असमर्थ रहे हैं। वस्तुतः सौंदर्यविषयक कोई नियम अब तक नहीं बन पाया जो महान् कला द्वारा अतिक्रमणीय न हो। अतः आलोचना का संबंध नियम से उतना नहीं, जितना भावक की रुचि, सहृदयता और संवेदनशीलता से है।

रुचि केवल व्यक्तिगत पसंद की चीज नहीं है। उसके लिए दो चीजें जरूरी हैं: **बोध और अंतर्दृष्टि** (insight) और ये दोनों आलोचक की सहृदयता पर निर्भर करती हैं। किंतु सहृदयता को भी विकसित (developed), निर्देशित (directed) तथा शाणित (तीक्ष्ण) (sharpened) करने की आवश्यकता होती है। इतिहास-बोध की तरह परिष्कृत रुचि भी श्रमसाध्य और समयसाध्य वस्तु है। रुचि के विकास के संबंध में इलियट की उक्ति है कि "हम में से एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं है जो निर्भ्रान्त विवेचन और रुचि के साथ उत्पन्न हुआ हो अथवा यौवनारंभ के समय इन्हें सहसा प्राप्त कर ले।"[४५] तात्पर्य कि सहजात (innate) और विकसित (developed) रुचि के संयोजन से जो आलोचना उद्भूत होती है, वही सच्ची आलोचना है। ऐसी रुचि से संपन्न आलोचक **तुलना और विश्लेषण की तथ्यपरक** (factual) पद्धतियों के आलोक में जब किसी कृति का परीक्षण कर उसके **विशदन** (elucidation) में प्रवृत्त होता है तो उसके निष्कर्ष अनाविल और ग्राह्य होते हैं।

इलियट रचनात्मक (constructive) आलोचना के समान ध्वंसात्मक (destructive) आलोचना को भी उपादेय मानते हैं क्योंकि उसकी पद्धति ही ध्वंसात्मक होती है, उद्देश्य रचनात्मक ही होता है। वह भी रुचि का परिष्कार करती है—कलाकार की रुचि का भी और पाठक की रुचि का भी। हीन कोटि के लेखकों को अलग करने में उससे प्रचुर सहायता मिलती है। रचनात्मक आलोचना जो करती है, ध्वंसात्मक आलोचना भी वही करती है: उदाहरणार्थ, वह कलाकृति के बदले उसके विषय पर विचार कर सकती है; अच्छे और बुरे का तुलनात्मक निर्णय दे सकती है; अप्रासंगिक तथ्यपरक विवरणों के जाल में उलझ सकती है; तथ्यों का

४५. There is not one of us who is born with, or who suddenly acquires at puberty or later, an infallible discrimination and taste.
—U. P. U. C.; p. 18.

गलत प्रयोग कर सकती है। यह भी संभव है कि उसमें तथ्य हों ही नहीं, केवल व्यक्तिगत सम्मतियां हों या भावात्मक प्रतिक्रियाएं (emotional reactions) हों।

चूंकि इलियट आलोचना में वस्तुनिष्ठ मानदंडों के पक्षधर हैं और कठोरतापूर्वक उनके विनियोग पर बल देते हैं इसलिए वे आलोचना के तीन घातक दोष मानते हैं : (१) अज्ञान; (२) अस्पष्ट सिद्धांत-निरूपण और (३) भावात्मक व्याख्या। इन तीनों में भावात्मक व्याख्या को वे सबसे अधिक हेय मानते हैं क्योंकि उसमें वस्तुनिष्ठता एवं तथ्य का प्रायः अभाव रहता है।

काव्य-भाषा

इलियट के अनुसार, काव्य का प्रमुख प्रयोजन आनंद प्रदान करना है।[४६] किंतु प्रत्येक कवि आनंद के अतिरिक्त भी कुछ देना चाहता है; जैसे, "किसी नयी अनुभूति का संप्रेषण, या किसी परिचित वस्तु का ही नवीन बोध अथवा किसी ऐसी वस्तु की अभिव्यंजना जिसकी अनुभूति से हमारी चेतना का विस्तार या हमारी संवेदनशीलता का परिष्कार हुआ है परंतु उस अनुभूति के उपयुक्त शब्द हमारे पास न हों।"[४७] इलियट का यह भी कहना है कि प्रत्येक देश का अपना काव्य होना चाहिए और न केवल उन लोगों के लिए जो काव्य से आनंद उठाते हैं, बल्कि उन लोगों के लिए भी जो उससे आनंद नहीं उठा सकते क्योंकि कोई आनंद उठाए या न उठाए, काव्य से पूरे समाज में अंतर आता है।

किसी भी अन्य कला से काव्य इस अर्थ में भिन्न है कि कवि की प्रजाति (race) और भाषा के लोगों के लिए उसका जो मूल्य है वह दूसरों के लिये नहीं है।[४८] विचार की अभिव्यंजना गद्य में भी हो सकती है पर भाव की अभिव्यंजना काव्य में ही संभव है। इसलिए गद्य की अपेक्षा काव्य अधिक स्थानीय (local) होता है। यही कारण है कि काव्य से बढ़कर कोई कला अधिक राष्ट्रीय नहीं होती।

इलियट के अनुसार, भाव और संवेदना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति जनसाधारण की भाषा में ही हो सकती है अर्थात् उस भाषा में जो पूरे वर्ग की सामान्य भाषा है, कारण कि भाषा की संरचना, लय, ध्वनि, मुहावरा—ये सभी उस भाषा के बोलने वालों की प्रजातिगत (racial) विशेषता को व्यक्त करते हैं।[४९] काव्य में भाव और

४६. Poetry has to give pleasure. —O. P. P.; p. 18.

४७. There is always the communication of some new experience or some fresh understanding of the familiar, or the expression of something we have experienced but have no words for, which enlarges our consciousness or refines our sensibility. —O. P. P.; p. 18.

४८. Poetry differs from every other art in having a value for the people of the poets' race and language which it can have for no other. —O. P. P.; p. 18.

४९. Emotion and feeling, then, are best expressed in the common language of the people—tha is, in the language common to all classes, the structure, the rhythm the sound, the idiom of a language, express the personality of the people which speaks it. —O. P. P.; p. 19.

संवेदना की अभिव्यक्ति होती है, इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें बौद्धिकता का अभाव होता है। प्रश्न केवल प्रमुखता का है और यह कहने का अभिप्राय इतना ही है कि गंभीरतम भावों की अत्यंत सचेत अभिव्यक्ति केवल अपनी ही भाषा में संभव है।

अत: इलियट का कहना है कि कवि के रूप में कवि का कर्त्तव्य परोक्षत: ही अपनी प्रजाति के प्रति है; प्रत्यक्षत: अपनी भाषा के प्रति है—पहले तो उसके परिरक्षण के प्रति और दूसरे, उसके विस्तार तथा सुधार के प्रति।[५०] कवि भावों और संवेदनाओं के वैविध्य का अनुसंधान करता है और उनकी अभिव्यक्ति के द्वारा भाषा को विकसित और समृद्ध बनाता है। बहुत सारे शिक्षित व्यक्ति अपनी भाषा के कवियों पर, उनकी कृतियों को बिना पढ़े भी, गर्व करते हैं। कुछ कवि इतने प्रख्यात हो जाते हैं कि कभी-कभी राजनीतिक भाषणों में भी उनका उल्लेख हुआ करता है किंतु इतना ही काफी नहीं है। यदि महान् लेखकों, खासकर महान् कवियों, की उत्पत्ति का क्रम अविच्छिन्न नहीं रहे तो भाषा में ह्रास होगा, संस्कृति में ह्रास होगा और संभव है कि किसी प्रबलतर भाषा और संस्कृति में वे एक दिन विलीन हो जाएं।

एक बात और। यदि हमारा कोई जीवित साहित्य नहीं है तो हम उत्तरोत्तर अपने अतीत साहित्य से विमुख होते जाएंगे। यदि हम साहित्यिक नैरंतर्य कायम नहीं रखते तो हमारा अतीत साहित्य हमसे दूर छूटता जाएगा और एक दिन विदेशी साहित्य की तरह वह अपरिचित भी हो जाएगा। भौतिक परिवर्तनों के दबाव से हमारी भाषा बदलती जाती है, हमारी जीवन-पद्धति बदलती जाती है; इसलिए यदि हमारे बीच कुछ ऐसे गिने-चुने लोग नहीं हों जो असाधारण संवेदनशीलता के साथ शब्दों पर असाधारण अधिकार भी रखते हों तो हमारी अभिव्यक्ति की ही नहीं, अनुभूति की भी क्षमता क्षीण हो जाएगी और स्थूलतम भावों की अनुभूति के लायक भी हम मुश्किल से रह पाएंगे।

इलियट कहते हैं कि उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि हमारी भाषा का स्वरूप केवल कवि ही निर्धारित करते हैं। हमारे काव्य की विशेषता बहुत कुछ जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा पर निर्भर करती है क्योंकि कवि अपने आस-पास बोली जाने वाली भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। यदि भाषा सुधर रही है तो कवि लाभान्वित होगा, यदि बिगड़ रही है तो वह उसे सुधारने का प्रयास करेगा। काव्य भाषा के सौंदर्य को कायम रख सकता है, सौंदर्य को फिर से ला सकता है। काव्य का एक कार्य यह भी है कि वह भाषा के विकास में सहायता करे; उसे इतना सूक्ष्म (subtle) और विनिश्चित (precise) बनाए कि वह

५०. The duty of the poet, as poet, is only indirectly to his people : his direct duty is to his language, first to preserve and second to extend and improve.
—O. P. P.; p. 20.

आधुनिक जीवन की जटिलतर परिस्थितियों और बदलते हुए उद्देश्यों के अनुरूप हो सके।

इलियट इस बात पर बल देते हैं कि काव्य को सामान्य, दैनिक भाषा से, जिसे हम बोलते और सुनते हैं, अधिक दूर नहीं हटना चाहिए। काव्य चाहे कैसा भी हो, सामान्य व्यवहार की भाषा से उसका संपर्क कभी टूटना नहीं चाहिए। काव्य-विषयक क्रांति का अर्थ एक ही है और वह है सामान्य भाषा की ओर प्रत्यावर्तन (return)। वर्ड्सवर्थ ने अपनी भूमिकाओं में इसी क्रांति की घोषणा की है और वह ठीक है।[५१] निश्चय ही कोई काव्य हूबहू उस भाषा में रचित नहीं होता जिसे कवि बोलता या सुनता है किंतु अपने युग की भाषा से उसका संबंध ऐसा होना चाहिए कि उसका पाठक यह कह सके कि "यदि मैं कविता करता तो इसी भाषा में करता।" यही कारण है कि हमें समसामयिक उत्कृष्ट काव्य से जो आनंद और संतोष होता है वह उत्कृष्टतर होने पर भी प्राचीन काव्य से नहीं होता।

इलियट का कहना है कि भाषा के विकास का अर्थ है अनुभूति का भी विकास अर्थात् यदि भाषा में संलक्ष्य विकास दृष्टिगोचर होता है तो मानना होगा कि अनुभूति में भी विकास हुआ है।[५२] इलियट के कथन का अभिप्राय यह है कि भाषा का परिमार्जन या परिष्कार केवल उसके प्रयोग पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह भावात्मकता (affectivity) की रक्षा करने और लेखक के विचारों और अनुभूतियों को सम्यक् संप्रेषित करने में कहां तक समर्थ है। चूंकि काव्यगत संवेदनशीलता ही मनुष्य की भौतिक, नैतिक, बौद्धिक अनुभूतियों की जटिलता को ठीक से ग्रहण कर पाती है, इसलिए काव्य-भाषा ही किसी भाषा की संप्रेषकता, व्यंजकता तथा प्रौढ़ता का अंतिम प्रमाण हो सकती है।

इलियट की भाषा-संबंधी अवधारणा पर दो आलोचकों का गहरा प्रभाव है और वे हैं दांते तथा वर्ड्सवर्थ। सेयां लुसी के अनुसार इलियट ने दांते से यह विचार ग्रहण किया कि कवि का दायित्व भाषा की रक्षा करना, समृद्धि करना तथा प्रत्येक शब्द का सार्थक प्रयोग करना है। वर्ड्सवर्थ से उन्होंने जनसाधारण की भाषा के प्रयोग की तथा दैनिक भाषा के शब्दों और लयों के साथ नये काव्य के शब्दों और लयों के सह-संबंध की धारणा ग्रहण की। जहां दांते ने केवल उदात्त शब्दों के प्रयोग पर बल दिया था, वहां वर्ड्सवर्थ ने ग्रामीणों की सामान्य भाषा पर बल दिया। दांते की मान्यता में परिशुद्धता (accuracy) और आभिजात्य का महत्त्व है; वर्ड्सवर्थ की मान्यता में शक्ति और जीवंतता का। इलियट के काव्य-भाषा-सिद्धांत में दोनों की विशेषताओं का समाहार है :

सहज साहचर्य प्राचीन औ' नवीन का,
शब्द साधारण, सटीक, ग्राम्यता से मुक्त,

५१. Every revolution in poetry is...a return to common speech. This is the revolution which Wordsworth announced in his prefaces, and he was right.
—O. P. P.; p. 31.

५२. Every vital development in language is a development of feeling as well.
—S. E., p. 210.

शब्द सुस्पष्ट, परिशुद्ध, किंतु निराडंबर
पूर्ण सामंजस्य नृत्य करता हुआ एकसाथ।[५३]

भाषा का यह आदर्श इलियट के आलोचना-सिद्धांत में ही नहीं, काव्य में भी परिलक्षित होता है।

काव्य का संगीत

काव्यत्व के निष्पादक तत्त्वों में संगीत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। लय, छंद आदि उसी के अंग हैं। इस विषय पर इलियट के विचार सारवान् हैं।

इलियट काव्य के संगीत का अस्तित्व उसके अर्थ से पृथक् नहीं मानते।[५४] कुछ लोग संगीत को केवल शब्दनिष्ठ मानते हैं; उनके अनुसार शब्द-माधुर्य ही काव्य का संगीत है। इलियट का कहना है कि यदि संगीत शब्दनिष्ठ ही होता तो ऐसा भी काव्य होना चाहिए था जो अर्थ के बिना भी अत्यंत सांगीतिक सौंदर्य से संपन्न होता किंतु ऐसा काव्य नहीं मिलता। हां, अपवाद के रूप में ऐसा काव्य अवश्य मिलता है जिसके संगीत से हम तत्काल प्रभावित हो जाते हैं और अर्थ का विचार बाद में करते हैं। इसी तरह ऐसा भी काव्य मिलता है जिसका अर्थ हमें तुरंत आकृष्ट कर लेता है और संगीत पर पीछे ध्यान जाता है किंतु ये दोनों बातें अपवाद हैं। नियम यही है कि **काव्य-संगीत अर्थ-सापेक्ष** है।

काव्य के अर्थ के संबंध में इलियट का कथन है कि वह नियत वस्तु नहीं है। १. लेखक ने जो सोचा उससे काव्य का अर्थ अधिक विस्तृत हो सकता है और मूल स्रोत से दूरवर्ती भी हो सकता है।[५५] २. यदि हम किसी कविता से द्रवित होते हैं तो वह हमारे लिए अर्थवान् है; यदि द्रवित नहीं होते तो काव्य के रूप में वह हमारे लिए अर्थहींन है।[५६] ३. विभिन्न पाठकों के लिए एक ही कविता के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं और ये सभी अर्थ उस अर्थ से भिन्न हो सकते हैं, जो लेखक के मन में था।[५७] ४. पाठक का अर्थ लेखक के अर्थ से भिन्न होते हुए भी उतना ही संगत हो सकता है; वह लेखक के अर्थ से अधिक अच्छा भी हो सकता है।[५८] इस अनेकार्थता (ambiguity)

५३. An easy commerce of the old and new,
The common word exact without vulgarity,
The formal word precise but not pedantic,
The complete consort dancing together.
—Four Quartets, Little Gidding.; p. 43.

५४. The music of poetry is not something which exists apart from the meaning. —Ibid; p. 29.

५५. The meaning, of a poem may be something larger than its author's conscious purpose and something remote from its origins, —Ibid; p. 30.

५६. If we are moved by a poem, it has meant something...to us; if we are not moved, then it is, as poetry, meaningless. —Ibid; p. 30.

५७. A poem may appear to mean very different things in different readers, and all of these meanings may be different from what the author thought he meant. —Ibid; p. 30.

५८. The reader's interpretation may differ from the author's and be equally valid—it may even be better. —Ibid; p. 30.

का कारण यह है कि साधारण भाषा की अपेक्षा कविता में अधिक अर्थ निहित रहता है। व्यंजना वृत्ति से इस मत का साम्य ध्यान देने योग्य है।

काव्य-संगीत अपने युग की सामान्य भाषा में अंतर्हित रहता है। इसका अर्थ यह है कि संगीत कवि के देश (स्थान) की भाषा में भी अंतर्हित रहता है;[५९] तात्पर्य कि काव्य-संगीत का संबंध सामान्य भाषा के साथ देश और काल से भी है।

यह मानना भूल है कि सभी काव्य में माधुर्य (melody) होना ही चाहिए अथवा शब्द-संगीत के जो घटक तत्त्व हैं उनकी अपेक्षा माधुर्य का अधिक महत्त्व है।[६०] माधुर्य संगीत का अनिवार्य तत्त्व नहीं है; बिना माधुर्य के भी संगीत हो सकता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की गुण-विषयक धारणा से इलियट के इस कथन की पुष्टि होती है। ओज गुण में माधुर्य नहीं रहता; एक प्रकार से ओज की निष्पत्ति माधुर्य-विरोधी वर्णों से ही होती है किंतु उसमें संगीत नहीं रहता, ऐसा नहीं कह सकते। इसलिए संगीत को ध्वनि-माधुर्य (melody of sound) से जोड़ रखना ठीक नहीं है।

काव्य में जैसे माधुर्य का रहना आवश्यक नहीं, वैसे ही 'सुंदर शब्दों' का रहना भी आवश्यक नहीं है। सच तो यह है कि केवल ध्वनि (sound) की दृष्टि से कोई शब्द अधिक या कम सुंदर नहीं होता। असुंदर शब्द वे हैं जो, जिन शब्दों की संगति में प्रयुक्त हैं, उनके अनुरूप न हों। अनगढ़ या प्राचीन होने से अथवा विदेशी-पन के कारण भी शब्द असुंदर लगते हैं किंतु जो शब्द अपनी भाषा में सुप्रतिष्ठित हैं अर्थात् प्रयोग में प्रचलित हैं, वे सुंदर या असुंदर नहीं होते। शब्दों के संगीत का निर्धारण उनके साहचर्य से होता है अर्थात् इससे कि उनके आगे-पीछे कौन-से शब्द आये हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के अंतर्गत इसी का विचार हुआ है। प्रकरण (context) और अर्थ (meaning) का प्रभाव भी काव्य-संगीत पर पड़ता है।[६१] इस अंश में इलियट और रिचर्ड्स के विचारों में समता है। सभी शब्दों में एक जैसी समृद्ध व्यंजकता नहीं होती। अतः कवि का कर्त्तव्य है कि वह समृद्ध व्यंजकता वाले शब्दों को चुने और असमृद्ध व्यंजकता वाले शब्दों में समृद्धि लाने की चेष्टा करे।

मूर्त-विधान (Objective Correlative)

कवि जब काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में प्रेरक भाव कोई एक ही रहता है किंतु बाद में अनेक भाव, संवेदन तथा विचार परस्पर मिलने लगते हैं

५९. The music of poetry, then, must be a music latent in the common speech of its time. And that means also that it must be latent in the common speech of the poet's place. —Ibid; p. 31.

६०. It would be a mistake, however, to assume that all poetry ought to be melodious, or that melody is more than one of the components of the music of words. —Ibid; p. 32.

६१. The music of a word...arises from its relation first to the words immediately preceding and following it, and indefinitely to the rest of the context; and from another relation, that of its immediate meaning in that context. —Ibid; p. 33.

और काव्य की परिणति या समाप्ति होते-होते न जाने उसमें कितने भावों, संवेदनों तथा विचारों का सम्मिश्रण एवं विलयन (fusion) हो चुका होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाव, संवेदन तथा विचार, ये सभी अमूर्त हैं। अमूर्त का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और भावक को अप्रत्यक्ष की अनुभूति नहीं हो सकती। अतः प्रश्न है कि इन्हें अनुभूति के योग्य कैसे बनाया जाए अर्थात् कवि के मन से भावक के मन तक इनका संप्रेषण कैसे हो ? एक ओर कवि है; दूसरी ओर भावक है; दोनों में कोई संबंध-सूत्र नहीं है; फिर भी, कवि की भाव-संपदा को भावक के मन में यथावत् उतारना है। कोई ठोस चीज होती तो यहां से उठाकर वहां रख देते किंतु चीज है बिलकुल अमूर्त। इस अमूर्त को भावक तक कैसे पहुंचाया जाए ?

इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए इलियट ने मूर्त-विधान का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। अमूर्त का संप्रेषण नहीं हो सकता, यह सिद्ध है। ऐसी स्थिति में एक ही उपाय है कि किसी मूर्त वस्तु की सहायता से अमूर्त को संप्रेषित किया जाए।

"कला के रूप में भाव को अभिव्यक्त करने का एक ही उपाय है और वह है किसी सह-संबंधी वस्तु (objective correlative)—जैसे वस्तु-समुदाय, परिस्थिति, घटना-श्रृंखला—को ढूंढ़ निकालना जो उस **विशिष्ट** भाव का सूत्र हो, ऐसा सूत्र कि जब वे बाह्य वस्तुएं प्रस्तुत की जाएं तो ऐंद्रिय अनुभूति में अवसित होकर वे भाव को सद्यः उद्‌बुद्ध कर दें।"[६२]

इलियट का यह सूत्र व्याख्या-सापेक्ष है :

१. भाव अमूर्त होता है। अतः उसकी अभिव्यक्ति किसी मूर्त वस्तु की सहायता से ही संभव है।

२. जिस किसी वस्तु से जिस किसी भाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती; अभिव्यंग्य भाव और अभिव्यंजक वस्तु में ऐसा संबंध होना चाहिए कि उस वस्तु से वह भाव अभिव्यक्त हो सके। यहां वस्तु शब्द से वैसी वस्तु अभिप्रेत है जो एक ओर तो कवि के भाव को अभिव्यक्त करे और दूसरी ओर भावक के मन में तत्सदृश भाव उत्पन्न करे।

३. इस तरह की मूर्त-विधान का कोई निश्चित रूप या प्रकार नहीं है। या तो प्रकृत भाव से संबद्ध कोई वस्तु-समुदाय हो सकता है, या कोई परिस्थिति हो सकती है, या कोई घटना-श्रृंखला हो सकती है।

४. उपरिनिर्दिष्ट बाह्य वस्तुओं की सहायता से भावक के मन में वैसे ही भाव उद्‌बुद्ध होते हैं जैसे कवि के मन में उत्पन्न हुए थे। तात्पर्य कि बाह्य वस्तुएं कवि और भावक के बीच भाव-तादात्म्य स्थापित करने में माध्यम का काम करती हैं; उन्हीं के द्वारा कवि और भावक एक भाव-भूमि पर मिलते हैं।

६२. The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative'; in other words a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion; such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked, —S. E.; p 145.

वस्तु-योजना अर्थात् मूर्त-विधान का यह सिद्धांत इलियट की मौलिक उद्भावना नहीं है। इसका पहले-पहल संकेत अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में किया है। बाद में फ्रांसीसी प्रतीकवादियों (symbolists) ने भी अपने काव्य में इस पद्धति का आश्रय लिया। संभवतः प्रतीकवादियों से प्रेरणा ग्रहण करके ही इलियट ने इस सिद्धांत को प्रतिपादित किया हालांकि दोनों में थोड़ा अंतर है। जहां प्रतीकवादी वस्तु की सटीकता (precision) के वदले उसकी व्यंजकता (suggestiveness) को अधिक महत्त्व देते हैं, वहां इलियट वस्तु की व्यंजकता के वदले उसकी सटीकता को अधिक महत्त्व देते हैं। वस्तु की **सटीकता और व्यंजकता** अभिमत हैं दोनों को; अंतर केवल वल का है।

इलियट का यह मूर्त-विधान (objective correlative) भारतीय रस-सिद्धांत का विभावन-व्यापार है। कविगत भाव की अभिव्यक्ति का अनिवार्य साधन है विभाव। इलियट का मूर्त-विधान भाव के उद्‌बोधमात्र तक सीमित है किंतु रस-सिद्धांत में भाव के उद्‌बोध का ही नहीं, उपचय (वृद्धि) का भी महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसीलिए विभाव के दो भेद माने गये हैं—आलंबन तथा उद्दीपन।[६३] आलंबन भाव को उद्‌बुध करता है और उद्दीवन उसे उपचित करता है। रसनिष्पत्ति के लिए भाव का उद्‌बोधमात्र पर्याप्त नहीं है; उसका उपचय भी आवश्यक है। अतः विभावन-व्यापार में आलंवन विभाव के साथ उद्दीपन विभाव की भी उपादेयता है। इलियट के मूर्त-विधान की तुलना में रससिद्धांत का विभावन व्यापार कहीं अधिक व्यापक और परिमार्जित है।

मुर्त-विधान (objective correlative) का प्रयोग इलियट ने शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक हैमलेट की आलोचना के प्रसंग में किया है। इलियट की दृष्टि में हैमलेट असफल रचना है क्योंकि इसमें भाव का समुचित संप्रेषण नहीं हो पाया है और इसका कारण यह है कि हैमलेट की संवेदनाओं तथा अनुभूतियों के संप्रेषण के लिए जैसा मूर्त-विधान अपेक्षित है, वैसा नाटक में हो नहीं पाया है। "यह कलात्मक अनिवार्यता है कि बाह्य वस्तु भाव के पूर्ण अनुरूप हो;"[६४] अर्थात् कलात्मक दृष्टि से यह अनिवार्य है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए जैसा मूर्त-विधान अपेक्षित है वह वैसा ही हो, उसमें कोई कमी या त्रुटि न हो। यदि कमी या त्रुटि होगी तो भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं हो पाएगी और अनुपाततः रचना सदोष हो जाएगी। मूर्त-

६३. रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावा : काव्यनाट्ययोः।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
आलम्बनं नायकादिस्तमालंब्य रसोद्‌गमात्।
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये॥

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छद।

६४. The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion; and this is precisely what is deficient in **Hamlet**.

—S. E.; p. 145.

विधान (objective correlative) का सिद्धांत इलियट की एक महत्त्वपूर्ण आलोनात्मक देन है।

संवेदनशीलता का असाहचर्य (Dissociation of Sensibility)

मूर्त-विधान (objective correlative) के समान संवेदनशीलता का असाहचर्य (dissociation of sensibility) भी इलियट की बहुचर्चित एक दूसरी अवधारणा है।

इलियट का कहना है कि महान् कवि और महान् काव्य में भाव और विचार का, भावुकता और बौद्धिकता का, वैयक्तिकता और परंपरा का, समकालिकता और शाश्वतता का समन्वय रहता है। इनमें किसी एक पक्ष के कमजोर पड़ने या उपेक्षित होने पर काव्योत्कर्ष खंडित होता है; तात्पर्य कि कवि की महत्ता उसकी संदृष्टि (vision) की व्यापकता पर निर्भर करती है। कोलरिज के समान इलियट भी काव्य में विरोधि-समन्वय (reconciliation of opposites) का महत्त्व स्वीकार करते हैं किंतु दोनों में थोड़ा भेद है। जहां कोलरिज इस विरोधि-समन्वय को गौण-कल्पना की संश्लेष-शक्ति का कार्य मानते हैं, वहां इलियट एकीभूत संवेदनशीलता (unified sensibility) का। वस्तुत: कोलरिज और इलियट की सर्जन-प्रक्रिया-संबंधी मान्यताओं में कोई मौलिक भेद नहीं है; भेद है तो इतना ही कि काव्य-सर्जन में इलियट कवि की संवेदनशीलता को प्राथमिकता देते हैं।

सामान्य व्यवहार में मन का संबंध बौद्धिकता से और संवेदनशीलता का संबंध सहृदयता या भावुकता से जोड़ा जाता है। इलियट की आलोचनात्मक शब्दावली में कवि का मन और संवेदनशीलता अर्थात् बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष अभिन्न हैं। कवि के संज्ञानात्मक (cognitive) और भावात्मक (affective) पक्षों में भेद मानना असंगत है क्योंकि कवि के सर्जनात्मक व्यक्तित्व में मन और इंद्रियां, विचार और भाव, बुद्धि और हृदय परस्पर मिले रहते हैं।

इलियट भाव और विचार के इस साहचर्य को "विचार का प्रत्यक्ष ऐंद्रिय बोध अथवा संवेदन में विचार का रूपांतरण"[६५] कहते हैं। तात्पर्य कि संवेदनशीलता न तो केवल भाव है और न केवल विचार, वह दोनों का एकीभूत रूप है।

जब भाव और विचार में दरार पड़ जाती है तो काव्य में अपक्षय और ह्रास आ जाता है। इसी को इलियट 'संवेदनशीलता का असाहचर्य' (dissociation of sensibility) कहते हैं।

इलियट का कहना है कि १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अंग्रेजी साहित्य में भाव और विचार का साहचर्य रहा जिसकी चरम परिणति शेक्सपियर में दिखायी देती है। शेक्सपियर के काव्योत्कर्ष का अन्यतम कारण भाव और विचार का, हृदय और

६५. A direct sensuous apprehension of thought or a recreation of thought into feeling.
—S. E.; p. 286.

बुद्धि का मणि-कांचन योग ही है। किंतु १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से भाव और विचार का बिलगाव होने लगता है; कवियों की एकीभूत संवेदनशीलता (unified sensibility) खंडित होने लगती है; कभी वे भाव की ओर झुकते हैं और कभी विचार की ओर। उदाहरणार्थ, आभिजात्यवादी (classical) कवियों में वैज्ञानिक बुद्धिवाद के प्रभावस्वरूप विचार का अतिरेक दिखायी देता है तो स्वच्छंदतावादी (romantic) कवियों में भाव का। वर्ड्सवर्थ भाव से इतने आविष्ट हैं कि काव्य के लिए विचार को अनावश्यक ही नहीं, अवांछनीय भी मानते हैं और कहते हैं कि बुद्धि काव्य की हत्या कर देती है।

हिंदी साहित्य के संदर्भ में 'एकीभूत संवेदनशीलता' और 'संवेदनशीलता के असाहचर्य' को देखने का प्रयास करें तो तुलसीदास एकीभूत संवेदनशीलता के सर्वश्रेष्ठ निदर्शन सिद्ध होते हैं। उनमें भाव और विचार का जैसा अद्भुत समन्वय है वैसा किसी भी दूसरे कवि में नहीं है। जायसी और सूर में भाव का अतिरेक है; कबीर में विचार का। प्रायः पूरे रीतिकाल में विचार-पक्ष गौण है। द्विवेदी-युग में विचार का प्राधान्य है तो छायावाद-युग में भाव का।

वस्तुतः भाव और विचार के पूर्ण सामंजस्य के उदाहरण साहित्य में विरल होते हैं। 'संवेदनशीलता के असाहचर्य' का संबंध किसी विशेष युग या व्यक्ति में नियत नहीं है। कहीं के साहित्य का कोई युग ऐसा नहीं रहा जब एकीभूत संवेदनशीलता ही रही हो अथवा संवेदनशीलता का असाहचर्य ही रहा हो। युग की बात तो छोड़ दें; व्यक्ति में भी इनकी नियत स्थिति नहीं पायी जाती। क्या बात है कि किसी लेखक की सभी रचनाएं एक जैसी रमणीय नहीं होतीं? कोई रचना तो उत्तमोत्तम हो जाती है और कोई अत्यंत साधारण। इसका अर्थ है कि अच्छे-से-अच्छे प्रतिभाशाली के लिए भी भाव और विचार का सामंजस्य सदा एक-सा कायम रखना संभव नहीं है। ऐसा आदर्श समाज या युग या व्यक्ति कहां मिलेगा जिसमें हृदय और बुद्धि का संतुलन और सामंजस्य सदा एकरस रहे?

संवेदनशीलता के असाहचर्य (dissociation of sensibility) के सिद्धांत के लिए इलियट फ्रांसीसी कवि-आलोचक रेमी द गुर्मों (Remy de Gourmont : १८५८-१९१५) के आभारी हैं। अंतर यह है कि गुर्मों ने केवल एक व्यक्ति (लाफोर्ग—Laforgue) के संदर्भ में संवेदनशीलता के असाहचर्य की बात कही थी; इलियट ने अंग्रेजी साहित्य के विशाल परिदृश्य (panorama) के संदर्भ में इसका प्रयोग किया है।

काव्य और नैतिकता

इलियट काव्य की स्वायत्तता के पक्षधर हैं, अर्थात् वे काव्य को काव्य के रूप में देखने के आग्रही हैं, किसी अन्य रूप में नहीं।[६६] उनके अनुसार, 'काव्य श्रेष्ठ

६६. When we are considering poetry we must consider it primarily as poetry and not another thing. —S. W., p. VIII.

मनोरंजन है।"[६७] अतः वर्ड्सवर्थ की भाषा में न तो उसे 'प्रशांति में भाव का अनुस्मरण' (emotion recollected in tranquillity) कह सकते हैं और न आर्नल्ड की भाषा में 'जीवन की आलोचना' (criticism of life)। काव्य नैतिकता का उपदेश अथवा राजनीति का निर्देश भी नहीं है; वह न धर्म है और न धर्म का समानक (equivalent)।[६८] उसमें किसी युग के इतिहास या कवियों के मन के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ढूंढ़ना भी निरर्थक है क्योंकि वह उनसे ऊपर है, साथ ही पृथक् भी।

काव्य की आलोचना करते समय यह कहना अधिक संगत है कि वह "उत्तम छंद में उत्तम शब्दों का उत्तम विन्यास है।"[६९] वस्तुतः काव्य का अपना जीवन है। किसी कविता से जो अनुभूति, भाव या संदृष्टि (vision) प्राप्त होती है वह कवि के मन की अनुभूति, भाव या संदृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है।

"फिर भी काव्य का कुछ-न-कुछ संबंध नैतिकता से, धर्म से और संभवतः राजनीति से भी है किंतु वह संबंध क्या है, यह हम नहीं कह सकते।"[७०]

यहां इलियट एक ही सांस में परस्पर-विरोधी दो बातें कह रहे हैं। पहले कहते हैं कि काव्य का संबंध न तो नैतिकता से है, न राजनीति से, न धर्म से। बाद में कहते हैं कि उसका संबंध नैतिकता से भी है, राजनीति से भी और धर्म से भी परंतु उस संबंध की व्याख्या संभव नहीं है।

अन्यत्र इलियट फिर कहते हैं कि "साहित्यिक आलोचना निश्चित रूप से नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से होनी चाहिए।"[७१] "साहित्य की महत्ता केवल साहित्यिक प्रतिमानों से निर्धारित नहीं हो सकती; फिर भी, हमें स्मरण रखना चाहिए कि वह साहित्य है या नहीं इसका निर्धारण केवल साहित्यिक प्रतिमानों से ही हो सकता है।"[७२] यहां भी पहले जैसी ही संशय की स्थिति है। साहित्य की महत्ता के निर्धारण के लिए केवल साहित्यिक प्रतिमान पर्याप्त नहीं हैं अर्थात् नैतिक, धार्मिक आदि कुछ अन्य प्रतिमान भी आवश्यक हैं, हालांकि रचना की साहित्यिकता का निर्धारण साहित्यिक प्रतिमानों से ही संभव है।

बात यह है कि एक बार काव्य (साहित्य) की स्वायत्तता स्वीकार कर लेने पर

६७. Poetry is a superior amusement. —S. W., p. VIII.

६८. And certainly poetry is not the inculcation of morals, or the direction of politics; and no more is it religion or an equivalent of religion. —S. W., p. IX.

६९. Excellent words in excellent arrangement and excellent metre. —S. W., p. IX.

७०. On the other hand, poetry as certainly has something to do with morals, and with religion, and even with politics perhaps, though we cannot say what. —S. W., p. X.

७१. Literary criticism should be completed by criticism from a definite ethical and theological standpoint. —S. P., p. 32.

७२. The greatness of literature cannot be determined solely by literary standards; though we must remember that whether it is literature or not can be determined only by literary standards. —S. P., p. 32.

उसके विवेचन-विश्लेषण के लिए साहित्यिक प्रतिमान अनिवार्य हो जाते हैं; किसी दूसरे निकष पर उसका परीक्षण हो ही कैसे सकता है ? परंतु यह मान लेने से भी काम नहीं चलता क्योंकि कोई भी महान् काव्य केवल साहित्यिक गुणों के कारण ही महान् नहीं होता; उसकी महत्ता के निष्पादक दूसरे तत्त्व भी होते हैं। उदाहरणार्थ, रामचरितमानस केवल काव्य-गुणों के कारण महान् नहीं है, बल्कि वह इसलिए भी महान् है कि भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक परंपरा में जो कुछ भी उत्कृष्ट और उत्तम है उसका सार उसमें निहित है।

नैतिक प्रतिमान काव्य के निर्णायक रहे हैं, हैं और आगे भी रहेंगे। किंतु प्रश्न है कि नैतिकता ही क्या है या उसके उपादान क्या हैं ? इसके उत्तर में इलियट कहते हैं कि साहित्यिक कृतियों का नैतिक निर्णय प्रत्येक पीढ़ी द्वारा स्वीकृत नैतिक संहिता के अनुसार ही हुआ करता है। इसका तात्पर्य यह कि प्रत्येक पीढ़ी की अपनी नैतिक संहिता होती है और कोई पीढ़ी उस नैतिक संहिता का स्वयं पालन करे या न करे, साहित्यिक कृतियों की नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय उसी से किया करती है।[७३] यदि साहित्य में कोई चीज आपत्तिजनक है तो इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वर्तमान पीढ़ी उससे अभ्यस्त नहीं है।[७४] यह जानी हुई बात है कि जिस चीज से एक पीढ़ी को आघात पहुंचता है, उसे ही दूसरी पीढ़ी शांत भाव से स्वीकार कर लेती है। इससे यही प्रमाणित होता है कि लोगों के नैतिक निर्णय के आधार कितने कमजोर हैं। इलियट और रिचर्ड्स के नैतिकता-विषयक विचारों में पर्याप्त साम्य है। इलियट की नैतिकता-संबंधी मीमांसा के निष्कर्ष ये हैं :

१. काव्य स्वायत्त है। अतः उसका परीक्षण काव्य के रूप में ही होना चाहिए; उसके लिए किसी अन्य साधन का उपयोग उचित नहीं है।

२. किंतु काव्य के उत्कर्ष का निर्णय केवल साहित्यिक मानदंडों से ही नहीं, बल्कि नैतिक, धार्मिक आदि साहित्येतर मानदंडों से भी हुआ करता है। इसलिए उनका परित्याग संभव नहीं है।

३. नैतिकता कोई नियत वस्तु नहीं है; देश-काल के अनुसार उसमें अंतर पड़ता है। इसलिए स्थान-विशेष और काल-विशेष में जो नैतिक माना जाता है वही दूसरे स्थान और काल में अनैतिक घोषित हो जाता है। इस स्थिति में 'अनैतिक' केवल वह है, जिससे हम अभ्यस्त नहीं हैं।

४. काव्य के निर्णय के लिए नैतिकता का निकष आवश्यक होते हुए भी उसका कोई निश्चित, अव्यभिचरित रूप नहीं है, जिसे हर जगह और हर समय काम में लाया जा सके। जब नैतिकता का कोई निश्चित प्रतिमान ही नहीं है तो उससे काम लेना और न लेना बराबर है।

७३. Moral judgments of literary works are made only according to the moral code accepted by each generation, whether it lives according to that or not. —S. P., p. 32.

७४. We find in practice that what is 'objectionable' in literature is merely what the present generation is not used to. —S. P., p. 33.

सब कुछ कहने के बावजूद यह स्पष्ट नहीं है कि नैतिकता के प्रश्न पर इलियट के विचार क्या हैं और काव्य से नैतिकता का संबंध क्या है।

मूल्यांकन

१. इलियट आधुनिक युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ कवि हैं बल्कि आलोचनात्मक चित्तवृत्ति के समर्थ व्याख्याता भी हैं। उनकी अधिसंख्य कृतियां आज के विसंवादी और व्यवस्थाहीन विश्व में संवाद और व्यवस्था लाने के प्रयोजन से प्रेरित हैं। उनके प्रसिद्ध काव्य वेस्टलैंड का उपसंहार होता है बृहदारण्यक उपनिषद् के इस उद्धरण से :

दत्त। दयध्वम्। दमयत।
शांतिः शांतिः शांतिः।

किसी भी रचना का उपसंहार-वाक्य साभिप्राय होता है क्योंकि लेखक उसमें कथ्य की अंतिम छाप छोड़ना चाहता है। बृहदारण्यक के इस उद्धरण में युगीन समस्याओं का निदान भी है और समाधान भी। आधुनिक सभ्यता स्वार्थान्ध, द्वेषग्रस्त और भोगलीन है जिसके अनिवार्य फल हैं विध्वंस, दु:ख एवं नैराश्य। पिछले दो विश्वयुद्ध इसे भली भांति प्रमाणित कर चुके हैं। इस दुःस्थिति से यदि बचना है तो स्वार्थ के बदले त्याग, द्वेष के बदले प्रेम एवं भोग के बदले संयम को छोड़ कोई दूसरा मार्ग नहीं है। 'दत्त' अर्थात् दो; केवल अपने लिये पूंजी मत बटोरो; उसमें दूसरों का भी हिस्सा है; उससे उन्हें वंचित मत करो। 'दयध्वम्' अर्थात् दया करो; सभी प्राणियों से प्रेम करो; अपने ही समान उनके योग-क्षेम की भी चिंता करो। 'दमयत' अर्थात् इंद्रियों का दमन करो; अबाध भोग विनाश का कारण है; अत: इंद्रियों को वश में रखो। **दान, दया और दमन** से ही शांति स्थापित हो सकती है और शांति से ही सुख प्राप्त हो सकता है। नैतिकता का ह्रास ही मनुष्य की सभी आधि-व्याधियों का मूल है; उसका उन्मूलन किये विना शांति एवं सुख के सारे प्रयास निष्फल होंगे।

कवि और आलोचक के रूप में इलियट ने इस टेक को बार-बार दुहराया है और एक नयी संवेदनशीलता के प्रसार की भूमिका तैयार की है।

२. इलियट ने आलोचना पर न तो कोई स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है, न कोई नियम गढ़ा है, न कोई सिद्धांत प्रस्तुत किया है और न कोई संप्रदाय स्थापित किया है। फिर भी, उनकी उक्तियों की सारवत्ता और शक्तिमत्ता ने अंग्रेजी आलोचना की दिशा बदल दी है और यह कहना कठिन है कि भविष्य का इतिहासकार उनके कवि-रूप को अधिक महत्त्व देगा या आलोचक-रूप को। इलियट पर प्रभाव अनेक आलोचकों का है किंतु किसी का भी उन्होंने पूर्णत: अनुगमन नहीं किया है। उदाहरणार्थ, उनकी आलोचना में काव्य की अवैयक्तिकता, काव्य की स्वतंत्र कलात्मक सार्थकता (individual artistic significance) तथा शब्द-अर्थ का सहभाव, ये अरस्तू की देन हैं। काव्यभाषा के लिए जनसाधारण की भाषा की वकालत के पीछे स्पष्ट ही वर्ड्सवर्थ की प्रेरणा है। कवि को भाषा का परिरक्षक (preserver) तथा संवर्धक (enricher) मानने एवं शब्दप्रयोग में अर्थ के प्रति सर्वाधिक सतर्कता बरतने की

विशेषताएं उन्होंने इतालवी कवि दांते से ली हैं। यद्यपि दांते और वर्ड्सवर्थ की भाषाविषयक धारणाओं में आपाततः विरोध दीखता है; जहां दांते काव्य में भव्यतम शब्दों के प्रयोग के आग्रही हैं, वहां वर्ड्सवर्थ सामान्यतम शब्दों के, किंतु दोनों की संगति दुष्कर नहीं है। दांते लैटिन जैसी समृद्ध, परिनिष्ठित और प्रौढ़ भाषा के स्थान पर इतालवी जैसी अनगढ़ लोकभाषा के व्यवहार का प्रस्ताव कर उसमें साहित्यिक गरिमा की प्रतिष्ठा करना चाहते थे; वर्ड्सवर्थ निर्जीव रूढ़ि से काव्यभाषा को मुक्त करना चाहते थे क्योंकि उनके युग की अंग्रेजी में गरिमा की नहीं, सजीवता की कमी थी। वर्ड्सवर्थ इस कमी को दूर करने को उत्सुक थे। इसलिए वस्तुतः दांते और वर्ड्सवर्थ के भाषादर्शों में विरोध नहीं है। दांते का बल **भव्यता और सटीकता** पर है, वर्ड्सवर्थ का **शक्ति और सजीवता** पर। इलियट की दृष्टि में दोनों अनुकरणीय हैं। इलियट ने काव्य में लय एवं संगीत के स्वरूप पर या काव्य पढ़ने के समय अविश्वास के स्थगन (suspension of disbelief) पर जो कुछ कहा है या काव्य-बोध को तर्कात्मक से अधिक अंतःप्रज्ञात्मक बताया है, उस पर **कोलरिज** के प्रभाव की छाया है। अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में फ्रांसीसी प्रतीकवादी आलोचकों के नेता **रेमी द गुर्मों** से प्रभावित होकर ही इलियट ने काव्य की स्वायत्तता का, और नैतिकता, धर्म या राजनीति से उसकी निरपेक्षता का उद्घोष किया था। काव्य का मूल्य केवल सौंदर्यात्मक (aesthetic) होता है, यह गुर्मों की ही प्रतिध्वनि है। इस अंश में कलावादी अंग्रेज आलोचक **वाल्टर पेटर** के प्रभाव की संभावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बाद में मैथ्यू आर्नल्ड के प्रभाव से इलियट को इस अतिवादी धारणा में संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई। यद्यपि इलियट ने आर्नल्ड की मान्यताओं का उपहासपूर्वक खंडन किया है और उन्हें आलोचक से अधिक साहित्य का प्रचारक कहा है पर सच्चाई यह है कि इलियट की आलोचना पर सबसे अधिक प्रभाव आर्नल्ड का ही है। इसलिए सेयाँ लुसी का यह कथन सही है कि आर्नल्ड के साहित्य-विषयक दृष्टिकोण में जो सिद्धांत अंतर्निहित हैं उनका इलियट ने विस्तार, विकास और स्पष्टीकरण किया है। इलियट ने उस विचार में इतना परिवर्तन कर दिया है कि वह पहचान में नहीं आता; बीज शानदार फसल बन गये हैं मगर बोया उन्हें आर्नल्ड ने ही है।[७५] इलियट के आलोचना-सिद्धांत के प्रायः सभी तत्त्व बीज-रूप में आर्नल्ड के दो निबंधों—'दि फंक्शन ऑफ क्रिटिसिज़्म' तथा 'दि लिटररी इन्फ़्लुअंस ऑफ दि अकैडमीज़' में पाये जाते हैं। इन दो निबंधों के अतिरिक्त आर्नल्ड के अन्य निबंधों (जैसे 'दि स्टडी ऑफ पोइट्री') से भी इलियट ने कुछ-न-कुछ ग्रहण किया है। निम्नलिखित अंशों में इलियट पर आर्नल्ड का प्रभाव बहुत स्पष्ट है :

७५. Indeed Eliot...can almost be considered as the extender, developer and clarifier of a theory latent in Arnold's view of literature. Eliot has done so much for the idea that it is almost unrecognisable : the seeds have become a noble crop but Arnold sowed them.

—T. S. Eliot and the Idea of Tradition, p. 28.

(i) सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक उन्नयन में काव्य की साधनता मानना।
(ii) समग्र यूरोप को एक बौद्धिक संगठन (intellectual confederation) कहना और दूसरे देशों से भी उत्तम विचारों को ग्रहण करना।
(iii) ग्रीस और रोम की महान् कृतियों को अमूल्य तथा अनुपेक्षणीय आदर्श समझना।
(iv) इतिहास-बोध और परंपरा की धारणा की स्वीकृति।
(v) आभिजात्यवादी (classical) प्रतिमानों का समर्थन।
(vi) कलाकृति की वस्तुनिष्ठता (objectivity) का आग्रह।
(vii) रुचि का परिष्कार।
(viii) कविता का संरचनात्मक सामंजस्य (structural harmony)।
(ix) सर्जनात्मक तथा आलोचनात्मक व्यापारों में समन्वय।

अंतर केवल इतना है कि आर्नल्ड सर्जनात्मक व्यापार की तुलना में आलोचनात्मक व्यापार को हीन कहते हैं किंतु इलियट दोनों को समान महत्त्व देते हैं और एक को दूसरे का पूरक मानते हैं।

३. इलियट कलाकार और उसके सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिवेश में अनिवार्य संबंध मानते हैं। जैसा हमने पहले संकेत किया है, यह आर्नल्ड के प्रभाव का परिणाम है अन्यथा आरंभ में इलियट काव्य की स्वायत्तता तथा निरपेक्ष्ता के पोषक थे। इस प्रकार उनमें कलावाद और उपयोगितावाद, दोनों का मिश्रण पाया जाता है।

४. इतिहास-बोध और परंपरा की धारणाओं के अंतर्गत अतीत के समग्र साहित्य को वर्तमान के लिए और दूसरे देशों के साहित्यों को किसी एक देश के लिए सार्थक तथा उपादेय मानना इलियट की उल्लेख्य देन है।

५. परंपरा की तरह काव्य की अवैयक्तिकता का सिद्धांत भी इलियट के लेखन में सर्वत्र अनुस्यूत है। रोमांटिक भावधारा की अतिवैयक्तिकता के विरोध में इलियट ने अवैयक्तिकता का सिद्धांत प्रस्तुत किया। अवैयक्तिकता का ही एक प्ररोह वस्तुनिष्ठता भी है। इलियट काव्य और आलोचना दोनों में अवैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्ठता के समर्थक हैं। वस्तुतः अवैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्ठता आभिजात्यवादी (classical) अवधारणाएं हैं जिन्हें साहित्य के लिए वे हितकर समझते हैं। इलियट ने १९२८ में अपने को 'साहित्य में आभिजात्यवादी, राजनीति में राजभक्त और धर्म में ऐंग्लो-कैथलिक'[७६] घोषित किया था। जॉन हेवर्ड इसे 'परंपरा के मूल्य में विश्वास का ही त्रिविध अभिकथन (affirmation)' कहते हैं, जो सर्वथा संगत है।

६. इलियट सर्जन-प्रक्रिया में कवि के मन का सचेत योगदान नहीं मानते बल्कि उसे केवल एक माध्यम मानते हैं जिसमें विविध और अनमिल भाव, संवेदन तथा विचार मिश्रित हो, एक बिलकुल नया रूप धारण कर लेते हैं जो उनके पहले रूपों

७६. Classicist in literature, royalist in politics and anglo-catholic in religion.
—For Lancelot Andrews, Preface.

से निर्मित होकर भी उनसे सर्वथा भिन्न होता है। इसे 'ट्रैडिशन ऐंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' शीर्षक लेख में इलियट ने उत्प्रेरक (catalyst) के दृष्टांत से स्पष्ट किया है। विभिन्न भावों, संवेदनों तथा विचारों का सम्मिश्रण अनिर्वचनीय रूप में घटित होता है। वे भाव, संवेदन तथा विचार कवि के अपने ही हों, यह आवश्यक नहीं; बल्कि अपने न हों तो अधिक अच्छा। यदि अपने हों भी तो सर्जन के क्षणों में उनकी वैयक्तिकता का परिहार हो जाता है और वे अवैयक्तिक, वस्तुनिष्ठ, सौंदर्यात्मक अनुभूतियों में परिणत हो जाते हैं जिनमें कवि के व्यक्तित्व का कोई चिह्न नहीं रह जाता। इसे ही इलियट ने वैयक्तिकता का परिहार (escape from personality) कहा है। तात्पर्य कि कोई भी काव्य कवि के अपने भावों से जितना असंपृक्त होगा उतना ही रमणीय होगा और उसका साधारणीकरण (संप्रेषण) भी उतना ही सुकर होगा।

७. इलियट काव्यानुभूति को विशिष्ट अनुभूति मानते हैं रिचर्ड्स की तरह सामान्य अनुभूति नहीं। पर्यायतः काव्यानंद लौकिक आनंद से भिन्न अर्थात् विशिष्ट है। इस अंश में इलियट की मान्यता भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यता के निकट है जिसमें काव्यानंद को अलौकिक माना गया है।

८. आरंभ में इलियट ने आलोचना के दो उद्देश्य माने थे : कलाकृति का विशदन और रुचि का परिष्कार। तेंतीस वर्षों के बाद 'द फ्रंटियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' नामक निबंध (१९५६) में उन्होंने दो दूसरे उद्देश्य सामने रखे : बोध और आस्वाद। आलोचना के साधन के रूप में तुलना और विश्लेषण ज्यों के त्यों रहे। तो आलोचना के उद्देश्य हैं :

(क) कलाकृति का विशदन (elucidation of works of art)।
रुचि का परिष्कार (correction of taste)।

(ख) बोध (understanding)।
आस्वाद (enjoyment)।

इनके साधन हैं : तुलना (comparison) तथा विश्लेषण (analysis)।

यद्यपि आगे चलकर इलियट ने विशदन और रुचि-परिष्कार की अपेक्षा बोध और आस्वाद को प्रश्रय दिया पर बोध और आस्वाद में विशदन और रुचि-परिष्कार गतार्थ नहीं होते। इनकी अलग-अलग उपादेयता है, साथ ही इनमें कोई विरोध भी नहीं है। अतः चारों को आलोचना के उद्देश्य मानने में कोई क्षति नहीं है।

९. भाषा-प्रयोग में इलियट बेहद सतर्क हैं। स्पष्टता और शब्द-अर्थ का पूर्ण सामंजस्य उन्हें अत्यंत काम्य हैं। दांते के जिन भाषा-गुणों की उन्होंने प्रशंसा की है वे उनमें भी वर्तमान हैं; उदाहरणार्थ, शब्द प्रयोग में चरम मितव्ययिता; रूपक, उपमा, शाब्दिक सौंदर्य और लालित्य में परम संयम। इलियट की दृष्टि में भाषा की पूर्णता के सर्वोच्च निदर्शन दांते हैं। स्वभावतः उनके गुणों को इलियट ने अनुकरणीय माना है और अपनी भाषा में आहित करने का प्रयास भी किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इलियट को इसमें भरपूर सफलता मिली है। इलियट की

भाषा, चाहे गद्य की हो, चाहे पद्य की, अत्यंत स्वच्छ, सटीक, प्रसन्न एवं प्रांजल है। उसमें अलंकरण नहीं है, फिर भी नैसर्गिक सौंदर्य है। यत्र-तत्र व्यंग्य का प्रयोग उनकी भाषा को अधिक प्रभावी बना देता है। आधुनिक जीवन की जटिलता के उपयुक्त भाषा में जो सूक्ष्मता और व्यंजकता होनी चाहिए, वह इलियट की भाषा में अपनी पराकाष्ठा पर है।

१०. अंग्रेजी में व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात कोलरिज ने किया था। आर्नल्ड ने उसे आगे बढ़ाया, ऐसा तो नहीं कह सकते क्योंकि उनमें कोलरिज की पकड़ और अंतर्दृष्टि नहीं थी, फिर भी उन्होंने उसे कायम रखा। व्यावहारिक आलोचना को दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इलियट को है। कहीं-कहीं (जैसे मिल्टन और शैली की आलोचना में) व्यक्तिगत धारणाओं से आविल होने पर भी उनकी आलोचना में जो तलस्पर्शिता तथा सारग्राहिता है, वह विरल है। उसकी व्यापकता भी श्लाघ्य है। अंग्रेजी के अतिरिक्त फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी साहित्यों के प्रमुख कवियों का पुनर्मूल्यांकन कर इलियट ने अपने साहित्यिक सार्वभौमता के सिद्धांत को व्यवहार में परिणत किया है। उनका पुनर्मूल्यांकन वाच्यार्थ में पुनर्मूल्यांकन है; घिसीपिटी बातों को दुहराने वाला इश्तहारी पुनर्मूल्यांकन नहीं है।

११. बहुतों के अनुसार, इलियट अमेरिकी नई आलोचना (New Criticism) के जनक हैं, हालांकि उन्होंने स्वयं इसपर अपना संकोच (embarrassment) व्यक्त किया है।

१२. सेयां लुसी के अनुसार, इलियट संस्कृतियों, धर्मों, प्रजातियों और समूहों के सर्जनात्मक तनाव (creative tension) में विश्वास करने वाले कलाकार हैं। तनाव का अभिप्राय संघर्ष नहीं, बल्कि शक्तियों का संतुलन (balance of forces) है। इलियट की 'परंपरा' प्रकारांतर से संतुलन की ही वस्तु है। यह संतुलन (तनाव) अनेकधा दृष्टिगत होता है; जैसे स्थायी मूल्यों और गतिशील काल के बीच, अतीत और वर्तमान के बीच, लेखक और उसके युग के बीच, लेखक और पाठक के बीच, अंतःप्रेरणा और शिल्प के बीच, जीवंत रूप और आरोपित आकृति के बीच, साहित्य और जीवन के बीच, विकासशील व्यक्ति और विकसित कृति के बीच। इलियट की साहित्यिक अवधारणा जैव है जो सतत विकासशील और वर्धिष्णु है।

१३. इलियट की आलोचना में कहीं-कहीं विरोध और असंगतियां भी दिखायी देती हैं। उनके अनुसार यह विचारों में विकास का अनिवार्य परिणाम है। बात बहुत दूर तक ठीक भी है। यदि कोई लेखक पचास वर्षों तक एक ही बात दुहराता रहे तो इसका अर्थ है कि उसके चिंतन में कुछ भी प्रगति नहीं हुई है। जो चिंतनशील और ग्रहणशील लेखक है उसे अपने विचारों में परिवर्तन या संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होगी ही। इसे विरोध न कहकर विकास कहना ही उपयुक्त है।

प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री मेकियावेली के संबंध में इलियट ने कहा है कि "वे रचनात्मक तो हैं पर सिद्धांत-निर्माता नहीं; उनके विचारों की आवृत्ति ही हो सकती है,

संक्षेपण नहीं हो सकता।"७७ यह उक्ति स्वयं इलियट पर भी चरितार्थ है। कवि और आलोचक के रूप में इलियट को जो ख्याति और मान्यता मिली, वह किसी दूसरे को अपने जीवन-काल में शायद ही मिली हो।

७७. Though he is constructive, he is not a system builder; and his thoughts can be repeated but not summarized. —For Lancelot Andrews, p. 46.

ईवर आर्मस्ट्रॉंग रिचर्ड्स

(१८९३-१९७९)

बीसवीं सदी के आलोचकों में यश और प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से आई० ए० रिचर्ड्स (Ivor Armstrong Richards) का गौरवपूर्ण स्थान है। केंब्रिज विश्वविद्यालय से आचार-विज्ञान (moral science) में स्नातक-उपाधि पाने के बाद 'केंब्रिज स्कूल ऑफ़ इंग्लिश' में आलोचना-सिद्धांत पर भाषण देने के लिए उन्हें एकाएक निमंत्रण मिल गया। यह अवसर रिचर्ड्स के लिए महान् अवदान सिद्ध हुआ। उनकी सभी महत्त्वपूर्ण कृतियां मूलतः 'केंब्रिज स्कूल ऑफ़ इंग्लिश' में प्राप्त अनुभवों पर आधारित हैं। रिचर्ड्स बहुश्रुत हैं और मनोविज्ञान में अभिनिविष्ट हैं। स्वभावतः उनकी आलोचनात्मक कृतियों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का प्राधान्य पाया जाता है। 'दि फ़ाउंडेशन्स ऑफ़ ईस्थेटिक्स' नामक ग्रंथ के प्रकाशन (१९२२) से रिचर्ड्स आलोचना के क्षेत्र में उतरे। इस ग्रंथ के अन्य दो सहलेखक थे—सी०के० ऑग्डेन और जेम्स वुड, जो रिचर्ड्स के स्नातक-कक्षा के सहपाठी भी थे। 'फ़ाउंडेशन्स' में सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ न मानकर ग्रहीता (पाठक या दर्शक) पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में देखने का आग्रह है अर्थात् सौंदर्य की स्थिति किसी वस्तु में नहीं बल्कि दर्शक के मन पर पड़ने वाले उसके प्रभाव में होती है। **ग्रहीता के मानसिक प्रभाव या प्रतिक्रिया** का यह सूत्र रिचर्ड्स की सभी उत्तरवर्ती कृतियों में अनुस्यूत है। वे काव्य का सौंदर्य भी काव्य में देखने के बदले उससे उत्पन्न होने वाले भाव में देखने का प्रस्ताव करते हैं। 'दि मीनिंग ऑफ़ मीनिंग' (अर्थ का अर्थ) नामक दूसरी कृति ऑग्डन और रिचर्ड्स के संयुक्त लेखकत्व में १९२३ में प्रकाशित हुई। इसमें अर्थ-संबंधी प्राचीन या समसामयिक मतों का खंडन कर अपने मत की समीचीनता प्रमाणित करने का प्रयास है। इसकी उल्लेख्य उपलब्धि है : भाषा का संकेतात्मक (symbolic) तथा रागात्मक (emotive) रूपों में विभाजन, जिनकी व्याख्या आगे की जाएगी। १९२४ में रिचर्ड्स का 'दि प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' (साहित्यिक आलोचना के सिद्धांत) नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ जिसने मनोविज्ञान पर आधारित आलोचना की एक नयी पद्धति प्रस्तुत की। इस ग्रंथ में निरूपित सिद्धांतों के विनियोग से 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' (१९२९) का निर्माण हुआ। रिचर्ड्स के और भी अनेक ग्रंथ निकले जैसे 'साइंस एंड पोइट्री' (१९२६), 'दि फिलॉसॉफ़ी ऑफ़ रेटॉरिक' (१९३६) आदि किंतु आलोचक के रूप में उनकी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा दो ही ग्रंथों के कारण है और वे हैं 'दि प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज्म' तथा 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म'। वाट्सन ने ठीक ही

कहा है कि इस ग्रंथ (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म) के साथ रिचर्ड्स के अधिकांश प्रभाव की अवधि समाप्त हो जाती है।[१] १९३९ में रिचर्ड्स अमेरिका में बस गये और जीवन के अंत (१९७९) तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे।

कोलरिज के समान रिचर्ड्स का ज्ञान भी व्यापक है। अर्थविज्ञान, मनोविज्ञान, मानवविज्ञान, सौंदर्यशास्त्र आदि का उन्होंने अपने सिद्धांत-निरूपण में उन्मुक्त उपयोग किया है। अर्थविज्ञान और मनोविज्ञान तो उनके उपजीव्य ही हैं क्योंकि उनकी आलोचना-पद्धति इन्हीं दो पर मुख्यतः आधारित है। साहित्येतर शास्त्रों के अतिशय (और कुछ हद तक अनावश्यक) प्रयोग से रिचर्ड्स का विषय-प्रतिपादन नीरस एवं जटिल हो गया है। इसमें उनकी अभिव्यंजना की नैसर्गिक दुरूहता की देन भी कम नहीं है। अपने प्रतिपादन की शुष्कता और जटिलता से रिचर्ड्स स्वयं भी अनवगत नहीं हैं। शुष्कता की उपमा उन्होंने स्वयं 'सहारा' से दी है और कहा है कि "जिस भाषा में कतिपय स्पष्ट कथन भी अभिव्यक्त हैं, वह भी अनावश्यक रूप में विकर्षक (repellent) प्रतीत हो सकती है।"[२] 'दि मीनिंग ऑफ़ मीनिंग' के संबंध में कैरिंग्टन ने जो कहा है वह 'प्रिंसिपुल्स' पर भी लागू है। कैरिंग्टन का कहना है कि "यह पुस्तक जिस शैली में लिखी गयी है वह चिढ़ पैदा करने वाली है। इसमें अकारण अस्पष्टता है जिससे ऐसी धारणा बनती है कि लेखक सुबोध ढंग से अपनी बात कहने के बदले पाठक को उसकी लघुता और अज्ञान का एहसास कराने में अधिक दिलचस्पी रखते हैं।"[३] फिर भी कुछ लोग रिचर्ड्स के लेखन को प्रांजल (lucid) कहते हैं। निश्चय ही उनके 'ल्युसिड' का अर्थ प्रचलित अर्थ से भिन्न है। हमें कभी-कभी ऐसा लगता है कि रिचर्ड्स की दुरूहता से आतंकित होकर भी बहुतों ने उनकी महत्ता स्वीकार कर ली अन्यथा उनके सिद्धांतों में खामियां कम नहीं हैं। हम वाट्सन के इस कथन से सहमत हैं कि "रिचर्ड्स के सिद्धांत भयंकर रूप से दोषपूर्ण हैं।"[४]

'प्रिंसिपुल्स' के प्रथम अध्याय का शीर्षक है : "आलोचना-सिद्धांतों की अराजकता" (The Chaos of Critical Theories)। इसमें रिचर्ड्स ने अब तक की समस्त आलोचनात्मक उपलब्धियों को एक वाक्य में धूलिसात् कर दिया है : "यह बिना अतिरंजना के कहा जा सकता है कि प्रचलित आलोचना-सिद्धांत का निर्माण जैसे तत्त्वों से हुआ है वे हैं—कुछ अनुमान, भर्त्सनाओं का बाहुल्य, अनेक प्रखर असंबद्ध उक्तियां, कतिपय

१. With this book...Richards's period of major influence ends.
—Watson, G., The Literary Critics; p. 197.

२. The language in which some of the more obvious remarks are couched may seem unnecessarily repellent.
—Principles, Preface; pp. 2-3.

३. I personally find it most irritatingly written, and in places quite gratuitously obscure ; it gives me the impression, perhaps quite unjustly, that the authors are more interested in making the reader feel small and ignorant than in explaining pellucidly to him just what they want to say.
—Carington, Whately; Matter, Mind and Meaning; p. 54.

४. Richards' theories are appallingly vulnerable.
—The Literary Critics; p. 196.

भव्य वितर्क, प्रचुर वक्तृता तथा अनुपयुक्त कविता, अपरिमेय मतभेद (confusion), पर्याप्त मताग्रह, अनल्प पूर्वग्रह, झक और सनक। रहस्यवाद का अतिरेक, किंचित् यथार्थ कल्पना, नाना प्रकीर्ण अंतःप्रेरणाएं, अर्थगर्भ संकेत एवं विशृंखल सार-संकलन।"[५] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह यौवनसुलभ आत्मविश्वास का ('प्रिंसिपुल्स' तीस वर्ष की उम्र की कृति है) उद्‌गार है। ढाई हजार वर्षों की परंपरा को इतने हलके-फुलके ढंग से नकारना परिणतवुद्धि के लिए संभव नहीं है।

रिचर्ड्‌स का कहना है कि आलोचना-विषयक कुछ **मौलिक प्रश्नों** पर अब तक विचार हुआ ही नहीं है; जैसे, कोई कविता पढ़ने पर उसकी अनुभूति का मूल्य क्या है? एक अनुभूति दूसरी अनुभूति से क्यों श्रेष्ठ है? एक चित्र की तुलना में दूसरे चित्र को क्यों पसंद किया जाए? संगीत कैसे सुना जाए कि उसमें व्यतीत क्षण सर्वाधिक मूल्यवान् सिद्ध हों? किसी कलाकृति के संबंध में एक विचार दूसरे विचार की अपेक्षा क्यों अच्छा नहीं माना जाता? इन मौलिक प्रश्नों के साथ आलोचना से इन **प्रारंभिक प्रश्नों** के उत्तर की भी अपेक्षा की जाती है कि चित्र, कविता या संगीत कहते ही किसे हैं? अनुभूतियों की तुलना कैसे की जा सकती है? मूल्य क्या है?[६] इन्हीं से जुड़ा यह **प्रधान प्रश्न** भी अब तक अछूता ही है कि कलाओं का मूल्य क्या है? वे सर्वोत्तम मनों के तीव्रतम क्षणों की साधना के योग्य क्यों हैं? मानव-व्यापारों के समुदाय में उनका (कलाओं का) स्थान क्या है?[७]

रिचर्ड्‌स की धारणा है कि ये प्रश्न आज तक अनुत्तरित हैं। हमारी धारणा है कि रिचर्ड्‌स की यह धारणा अयुक्त है। प्रत्येक देश और प्रत्येक युग ने इन प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। काव्यशास्त्र के विकास का इतिहास इसका साक्षी है। हां, यह बात और है कि उसमें आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग नहीं हुआ है। स्वयं रिचर्ड्‌स के सिद्धांत इन प्रश्नों का कहां तक समाधान कर पाये हैं, यह हम आगे देखेंगे।

"मेरे विचार में आलोचना **अनुभूतियों के पृथक्करण** तथा **मूल्यांकन** का प्रयास है। यह हम तब तक नहीं कर सकते जब तक अनुभूतियों के स्वरूप का कुछ ज्ञान न हो अथवा मूल्यांकन एवं संप्रेषण के सिद्धांत न हों।"[८] रिचर्ड्‌स के आलोचना-सिद्धांत का यह सार-सूत्र है। इसके विश्लेषण के निम्नलिखित निष्कर्ष हैं :

५. A few conjectures, a supply of admonitions, many acute isolated observations, some brilliant guesses, much oratory and applied poetry, inexhaustible confusion, a sufficiency of dogma, no small stock of prejudices, whimsies and crotchets, a profusion of mysticism, a little genuine speculation, sundry stray inspirations, pregnant hints and random apercus; of such as these, it may be said without exaggeration, is extant critical theory composed.

६. Principles; p. 5-6.

७. Principles; p. 7.

८. Criticism, as I understand it, is the endeavour to discriminate between experiences and to evaluate them. We cannot do this without some understanding of the nature of experience or without theories of valuation and communication.

—Principles; p. 2.

१. आलोचना के दो उद्देश्य हैं : एक तो कलात्मक **अनुभूतियों का पृथक्करण** अर्थात् किसी कलाकृति से मन में जो विभिन्न अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं उनका अंतर समझना और दूसरा, उन **अनुभूतियों का मूल्यांकन** अर्थात् तारतम्य-निर्धारण अर्थात् यह देखना कि एक अनुभूति दूसरी अनुभूति से क्यों अच्छी या बुरी है, क्यों श्रेष्ठ या हीन है ?

२. इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए तीन चीज़ें जरूरी हैं : पहली चीज तो यह कि अनुभूति के स्वरूप का कुछ ज्ञान हो क्योंकि उसके बिना अनुभूतियों का पारस्परिक भेद ही नहीं समझा जा सकता ? जब तक स्वरूप-ज्ञान नहीं तब तक भेद-ज्ञान कैसे संभव है ? दूसरी चीज यह कि जब मूल्यांकन करना है तो मूल्यांकन के कुछ सिद्धांत भी होने चाहिए। जैसे तौलने के लिए बाट आवश्यक हैं, वैसे ही कलाकृति का मूल्य निर्धारित करने के लिए भी कुछ सिद्धांत आवश्यक हैं। चूंकि कलाकार अपनी अनुभूतियों को किसी माध्यम की सहायता से दूसरों तक (संप्रेषित कर) उनके मन में वैसी ही अनुभूतियां उत्पन्न करना चाहता है, इसलिए इस प्रक्रिया का अर्थात् संप्रेषण का ज्ञान भी अपरिहार्य है।

तात्पर्य कि आलोचना के---

१. उद्देश्य हैं : (क) अनुभूतियों का पृथक्करण।
(ख) अनुभूतियों का मूल्यांकन।

२. साधन हैं : (क) अनुभूतियों के स्वरूप का ज्ञान।
(ख) मूल्यांकन के सिद्धांत का ज्ञान।
(ग) संप्रेषण के सिद्धांत का ज्ञान।

अनुभूति, मूल्य और संप्रेषण, इन तीनों का संबंध मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान को उपजीव्य बनाने का कारण है आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का आग्रह और वैज्ञानिकता का आग्रह इसलिए कि वैज्ञानिक युग में कोई भी वस्तु तब तक स्वीकार्य नहीं हो सकती जब तक वह विज्ञान पर आश्रित न हो। रिचर्ड्स के लिए मनोविज्ञान ही विज्ञान है क्योंकि दूसरा कोई विज्ञान साहित्यालोचन में उपयोगी नहीं हो सकता। मनोविज्ञान को विज्ञान मानते समय रिचर्ड्स यह भूल जाते हैं कि वह उस अर्थ में विज्ञान नहीं है जिस अर्थ में भौतिकी या रसायन। विज्ञान का लक्षण है कार्य-कारणभाव की व्याप्ति अर्थात् कारण-विशेष के रहने पर कार्य-विशेष अनिवार्यतः उत्पन्न हो। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन दो भाग और ऑक्सीजन एक भाग मिला देने पर जल बन जाता है। इस अनुपात में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से जल बनेगा ही। कारण और कार्य की इसी व्याप्ति अर्थात् नित्य संबंध पर विज्ञान निर्भर करता है। किंतु मनोविज्ञान में कारण-कार्य की व्याप्ति सदा नहीं रहती; इसीलिए वह आनुभाविक विज्ञान (empirical science) कहलाता है। जैसे गुलाब का फूल देखने पर हर आदमी के मन में एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया हो, यह आवश्यक नहीं। कोई उसपर मुग्ध हो सकता है; कोई हलकी-सी प्रसन्नता व्यक्त कर सकता है; कोई तटस्थ रह सकता है; किसी की उंगली में कभी गुलाब का कांटा चुभने से घाव हो गया हो तो गुलाब के प्रति वह अपनी अरुचि भी व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार शास्त्रीय संगीत का तान-आलाप सुनकर कोई तो झूम उठता है

और कोई ऊंघने लगता है। तात्पर्य कि मनोविज्ञान के निष्कर्ष न तो सदा एकरूप होते हैं और न अव्यभिचरित (निरपवाद)। इसलिए वह सीमित अर्थ में ही विज्ञान है। आजकल तो राजनीति, समाज और शैली के साथ भी विज्ञान जोड़ दिया गया है पर इतने से ही राजनीतिविज्ञान, समाजविज्ञान और शैलीविज्ञान विज्ञान नहीं बन जाते। हां, जिन्हें विज्ञान शब्द से मोह हो वे इससे मिथ्या संतोष भले ही कर लें। रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान का जो पल्ला पकड़ा वह कुछ ऐसे ही मोह के वशीभूत होकर। उन्हें विज्ञान चाहिए था, कर्मणा नहीं तो नाम्ना ही सही; वह मनोविज्ञान में मिल गया और उसकी आधारशिला पर उन्होंने अपनी आलोचना का प्रासाद खड़ा कर लिया। मनोविज्ञान-संबंधी इस आग्रह की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है जिसकी संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शैली (१७९२-१८२२) के एक मित्र थे टॉमस लव पीकॉक। पीकॉक स्वयं कवि थे और कवि से भी बढ़कर उपन्यासकार। व्यंग्य की प्रखरता उनकी विशेषता थी। विनोद और गंभीरता की मिली-जुली प्रेरणा से लिखित उनका एक प्रबंध १८२० ई० में प्रकाशित हुआ—'दि फ़ोर एजेज़ ऑफ पोइट्री' (कविता के चार युग)। पीकॉक के अनुसार कालक्रम से काव्य के चार युग हुए हैं: १. लौहयुग; २. स्वर्णयुग; ३. रजतयुग; ४. पीतलयुग।[९] **लौहयुग** का काव्य वास्तविक वीरों का अनगढ़ प्रशस्तिगान है। **स्वर्णयुग** के काव्य में पूर्वजों की गाथाओं का सिंहावलोकन है जिसे इतिहास का शैशवकाल कह सकते हैं। **रजतयुग** का काव्य या तो प्राचीन वीरगाथाओं का अनुकरण है या सामाजिक आलोचना। **पीतलयुग** में प्राचीनता को फिर से ग्रहण करने का विकृत प्रयास पाया जाता है। पीकॉक के अनुसार युगों का यह चक्र अनवरत चलता रहता है। प्राचीन काल में इतिहास और दर्शन का विकास काव्य के ह्रास का कारण बना और आधुनिक युग में विज्ञान का विकास काव्य के ह्रास का सबसे बड़ा कारण है। आज जब दर्शन और विज्ञान सत्य के अनुसंधान के समर्थ साधन के रूप में उपलब्ध हैं तब काव्य के मिथकों और स्वप्नचित्रों की क्या उपादेयता है? पीकॉक कहते हैं कि "हमारे युग में कवि सभ्य समुदाय में अर्ध-बर्बर है। वह अतीत में जीता है। उसके विचार, भाव, साहचर्य सभी बर्बर व्यवहारों, विलुप्त रीतियों और खंडित अंधविश्वासों से संबद्ध हैं। उसकी बुद्धि की गति केकड़े की तरह पीछे की ओर है।"[१०]

आगे चलकर पीकॉक कहते हैं: "चाहे किसी मात्रा में काव्य का विकास-परिष्कार क्यों न हो, उससे निश्चय ही किसी-न-किसी उपयोगी अध्ययन की उपेक्षा होगी और सचमुच यह देखकर गहरा खेद होता है कि जो मस्तिष्क श्रेष्ठतर वस्तुओं के योग्य हैं वे बौद्धिक प्रयास की ऐसी खोखली, निरुद्देश्य विडंबनाओं की अर्थहीन अकर्मण्यता में बीज बोने के लिए भाग दौड़ करते हैं। नागरिक समाज के शैशव-काल में काव्य मानसिक शोरगुल था

९. Wimsatt, W.K. & Brooks, C.
—Literary Criticism : A Short History; p. 416.

१०. A poet in our times is a semi-barbarian in a civilized community. He lives in the days that are past. His ideas, thoughts, feelings, associations, are all with barbarious manners, obsolete customs and exploded superstitions. The march of his intellect is like that of a crab, backward.
—Quoted in Literary Criticism : A Short History; p. 417.

जो बुद्धि का अवधान जगाने के काम आता था किंतु परिपक्व मस्तिष्क के लिए बचपन के खिलौनों को गंभीर व्यवसाय बनाना वैसा ही हास्यास्पद है जैसा किसी सयाने का मूंगे से अपने मसूड़ों को रगड़ना या चांदी की घंटियों की रुनझुन से नींद बुलाने के लिए रोना।"[११]

पीकॉक के व्यंग्य की इस करारी चोट से कवि-वर्ग ही नहीं, आलोचक-वर्ग भी विचलित हो उठा। खतरा काव्य पर ही नहीं, धर्म पर भी दिखायी पड़ने लगा। शैली ने 'दि डिफेन्स ऑफ पोइट्री' लिखकर पीकॉक की काव्यविषयक मान्यताओं के खंडन की भूमिका प्रस्तुत की। उसके बाद विज्ञान और काव्य के आपेक्षिक महत्त्व और उपयोगिता पर लिखने की परंपरा-सी चल पड़ी। किसी ने कम लिखा, किसी ने अधिक लिखा पर लिखा बहुतों ने। वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, आर्नल्ड की आलोचना के प्रसंग में हम यह देख चुके हैं। पीकॉक की चोट से साहित्यिक समुदाय इतना आविष्ट (obsessed) रहा कि पूरी एक शताब्दी बीत जाने पर भी उसका असर कम नहीं हुआ। रिचर्ड्स का विज्ञान, वैज्ञानिकता आदि का बार-बार नाम लेना बहुत कुछ उसी का परिणाम है; उनके अचेतन में संभवत: पीकॉक की भर्त्सना बैठी है। विज्ञान का आश्रय लेकर वे पीकॉक की भर्त्सना से आलोचना की रक्षा करना चाहते हैं।

विज्ञान का सामना विज्ञान से ही संभव है, यह सोचकर रिचर्ड्स अपनी आलोचना-पद्धति को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का संरंभ रचते हैं। चूंकि मनोविज्ञान को छोड़कर और कोई विज्ञान-नामधारी विषय आलोचना में अधिक सहायक नहीं हो सकता, इसलिए वे मनोविज्ञान को पकड़ते हैं और अपनी आलोचना-पद्धति को हर तरह से 'वैज्ञानिक' बनाने का प्रयास करते हैं। यही नहीं, अपनी धारणा को स्पष्टतर करने के लिए 'साइंस एंड पोइट्री' (१९२६) नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखते हैं।

हमारा खयाल है कि पीकॉक के विचारों से न तो इतना आतंकित होने की आवश्यकता थी और न उन्हें इतना तूल देने की। पीकॉक ने विज्ञान का सिर्फ एक हौवा खड़ा कर दिया अन्यथा उनके विचारों में ही कौन-सी वैज्ञानिकता है? काव्य और संस्कृति को चार युगों में बांटना यादृच्छिक नहीं तो और क्या है? किसी एक व्यक्ति के कहने से काव्य का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता और यदि काव्य सचमुच ऐसी छूईमुई है तो किसी दिन वह आपसे-आप समाप्त हो जाएगा और किसी के बचाये नहीं बचेगा। अनेक समाजवादी देशों में धर्म को उखाड़ फेंकने की कोशिश हुई पर धर्म उखड़ा नहीं। वैसे ही विज्ञान के आक्रमण से काव्य (और काव्य समस्त ललित साहित्य का उपलक्षण है) निरस्त हो

११. In whatever degree poetry is cultivated, it must necessarily be to the neglect of some branch of useful study; and it is a lamentable thing to see minds, capable of better things, running to seed in the specious indolence of these empty aimless mockeries of intellectual exertion. Poetry was the mental rattle that awakened the attention of intellect in the infancy of civil society; but for the maturity of mind to make a serious business of the playthings of its childhood, is as absurd as for a grown man to rub his gums with coral, and cry to be charmed asleep by the jingle of silver bells.
—Quoted by David Daiches in Critical Approaches to Literature; p. 130.

जाएगा, इस भय का भी कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है। गद्य के विकास से काव्य का रंग सर्वत्र कुछ फीका पड़ गया है पर फीका ही पड़ा है, मिटा नहीं है और उसका स्थान कहानी, उपन्यास, नाटक ने ले लिया है; ये काव्य के ही सगोत्र हैं।

वैज्ञानिक आविष्टता (obsession) के परिणामस्वरूप ही कलानुभूति को विशिष्ट सौंदर्यात्मक मानसिक अवस्था मानने वाले दार्शनिकों तथा आलोचकों से रिचर्ड्स सहमत नहीं हैं। वे 'सौंदर्यात्मक अवस्था' (aesthetic state) को मरीचिका (phantom) की संज्ञा देते हैं। कांट आदि दार्शनिकों और बहुसंख्यक सौंदर्यालोचकों की मान्यता है कि सौंदर्यानुभूति में एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया होती है जो सामान्य से भिन्न हुआ करती है। कांट ने कला-जन्य आनंद को निस्संग (disinterested), सार्वभौम (universal), अबौद्धिक (unintellectual) बताते हुए कहा है कि वह ऐंद्रिय आनंद से भिन्न कोटि का आनंद है।[१२] तात्पर्य कि ऐंद्रिय आनंद लौकिक है किंतु कला-जन्य आनंद 'अलौकिक' (अद्वितीय-sui generis) है। क्लाइव बेल जैसे सौंदर्यशास्त्री या ब्रैडले जैसे कलावादी इसी मत के समर्थक हैं। भारतीय काव्यशास्त्र भी रसानुभूति (काव्यानंद) को अलौकिक ही मानता है।

रिचर्ड्स का तर्क है कि आधुनिक मनोविज्ञान में लौकिक और अलौकिक अनुभूति का भेद अमान्य है। मन की संरचना ऐसी नहीं है कि उसमें कोई अनुभूति लौकिक रूप में हो और कोई अलौकिक रूप में। अलौकिक जैसे शब्द परंपरागत अमूर्त चिंतन की विरासत हैं, अतः वैज्ञानिक विचारणा में अग्राह्य हैं। वे कहते हैं कि जब हम कोई चित्र देखते हैं या कविता पढ़ते हैं या संगीत सुनते हैं तब कुछ भी ऐसा नहीं करते जो गैलरी जाते समय या सुबह कपड़े पहनते समय नहीं कर रहे थे।[१३] अंतर यदि है तो केवल यही कि "साधारण अनुभूतियों की तुलना में सौंदर्य की अनुभूतियों का संघटन अधिक सूक्ष्म होता है किंतु वे नयी और भिन्न कोटि की वस्तु बिलकुल नहीं होतीं।"[१४] आगे वे फिर कहते हैं: "जिस रूप में अनुभूति हमारे भीतर उत्पन्न होती है, वह भिन्न है, और नियमतः यह अनुभूति अधिक जटिल, और यदि हम सफल हुए तो, अधिक एकरूप होती है। परंतु हमारी क्रिया मूलतः भिन्न प्रकार की नहीं होती।"[१५]

वदतोव्याघात का यह अच्छा उदाहरण है। रिचर्ड्स एक ही सांस में दो परस्पर-विरोधी बातें बार-बार कह रहे हैं पर मताग्रह के कारण इसे देख नहीं पाते।

१२. Principles, p. 11.

१३. When we look at a picture, or read a poem, or listen to music, we are not doing something quite unlike what we were doing on our way to the Gallery or when we dressed in the morning.

—Principles; p. 16.

१४. They are only...a finer organization of ordinary experiences and not in the least a new and different kind of thing.

—Principles; p. 16

१५. The fashion in which the experience is caused in us is different, and as a rule the experience is more complex and, if we are successful, more unified. But our activity is not of a fundamentally different kind.

—Principles; p. 17.

आप कहते हैं कि साधारण अनुभूतियों की अपेक्षा सौंदर्यात्मक अनुभूतियों का **संघटन अधिक सूक्ष्म** होता है पर वे भिन्न कोटि की नहीं होतीं। अब भेद किसे कहते हैं ? संघटन की सूक्ष्मता का भेद भेद नहीं तो और क्या है ? फिर, आप कहते हैं कि सौंदर्यात्मक अनुभूति जिस **रूप में** हमारे भीतर **उत्पन्न** होती है वह सामान्य अनुभूति से **भिन्न** है; साथ ही सामान्य अनुभूति की तुलना में वह **नियमतः** अधिक **जटिल** होती है किंतु क्रिया भिन्न प्रकार की नहीं होती। उत्पत्ति के रूप में भेद है ही; संघटन में भेद है ही; सरलता-जटिलता का भेद है ही। अब और क्या होता तो आप भेद मानते ? आग और पानी का भेद ही भेद नहीं कहलाता ? शास्त्रचर्चा में सूक्ष्म भेद भी महान् भेद माना जाता है। जो भेद आप स्वयं स्वीकार करते हैं उन्हीं के लिए अन्य आचार्य 'अलौकिक' शब्द का व्यवहार करते हैं। अलौकिक का अर्थ इतना ही है कि वह लौकिक अर्थात् सामान्य से भिन्न है। कपड़े पहनते समय की अनुभूति में क्या वही तन्मयता, वही आत्म-विस्मृति है जो शेक्सपियर की कोई ट्रैजेडी पढ़ते या देखते समय होती है ? औरों ने जो बात एक 'अलौकिक' शब्द से कह दी है उसी के लिए आप अनेक शब्दों की व्यूह-रचना कर पाठक को कथ्य तक पहुंचने से रोक रहे हैं।

कला-संबंधी अनुभूति सामान्य अनुभूति से भिन्न नहीं होती, यह प्रतिपादित कर रिचर्ड्स यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि अब तक आलोचना में जिस भाषा का प्रयोग होता रहा है वह भी त्रुटिरहित नहीं है। "हाल तक भाषा प्रायः उन सारी वस्तुओं को हमसे छिपाने में ही सफल रही है जिनके विषय में हम बात करते हैं।[१६] एक वाक्य में समग्र वाङ्मय के अपलाप का यह साहस वस्तुतः प्रशंसनीय है। रिचर्ड्स के भाषा-विवेचन के बाद भी अभिव्यंजना-पद्धति में हमने कोई कोई अंतर नहीं पाया।

रिचर्ड्स का कहना है कि आलोचना के लिए ऐसी शब्दावली काम में लायी जाती रही है जो वक्तव्य को स्पष्ट करने के बदले और भी धूमिल कर देती है। ऐसे शब्द हैं construction (निर्माण), form (रूप,) balance (संतुलन), composition (रचना), design (परिरूप), unity (अन्विति), expression (अभिव्यंजना), जो सभी कलाओं में प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह काव्यालोचन में rhythm (लय), stress (बल), plot (कथानक), character (चरित्र) आदि शब्द प्रचलित हैं।[१७] इन शब्दों का व्यवहार इस रूप में होता है मानो वस्तुओं के ये आत्मगत धर्म हों। हम निरंतर इस तरह बात करते हैं मानो धर्म वस्तुओं में रहते हों, जबकि कथन का रूप वस्तुतः उचित यह है कि उनसे हमारे भीतर एक-न-एक प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है।[१८] किसी चित्र को देखने पर, जहां कहना यह चाहिए कि वह हमारे भीतर ऐसी अनुभूति उत्पन्न करता है जो किन्हीं रूपों में मूल्यवान् है, वहां हम यह कहा करते हैं कि अमुक

१६. Indeed language has succeeded until recently in hiding from us almost all the things we talk about. —Principles; p. 21.

१७. Principles, p. 21.

१८. We continually talk as though things possess qualities when what we ought to say is that they cause effects in us of one kind or another. —Principles p. 21.

चित्र सुंदर है।[१९] इस प्रकार के कथन से स्वभावत: ऐसी धारणा बनती है कि सौंदर्य वस्तु में रहता है, जो गलत है। यह तर्क उपस्थित करते समय रिचर्ड्स भूल जाते हैं कि धर्म-धर्मी में अभेद होता है। सौंदर्य वस्तु-निरपेक्ष धर्म नहीं है। यदि होता तो जो प्रभाव वस्तु-विशेष से उत्पन्न होता है, वही वैसी दूसरी वस्तुओं से क्यों नहीं उत्पन्न होता ? ताजमहल को देखने से जो सौंदर्यानुभूति होती है, वही आगरे के रेलवे स्टेशन को देखने से क्यों नहीं होती अथवा वैसी सौंदर्यात्मक प्रतिक्रिया ताजमहल से ही क्यों होती है ? यदि किसी वस्तु से कोई विशेष प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है तो मानना पड़ेगा कि उसमें वह विशेषता (धर्म) है। रिचर्ड्स के तर्क का रूप बहुत कुछ ऐसा है कि आग जलाती तो है किंतु उसमें दाहकता नहीं मानी जा सकती। चित्र मूल्यवान् अनुभूति उत्पन्न करता तो है किंतु उसे सुंदर नहीं कहा जा सकता। लियोनार्दो दा विंची के प्रसिद्ध चित्र 'मोना लिसा' से या अजंता के भित्ति-चित्रों से जो मूल्यवान् अनुभूति उत्पन्न होती है वही गांव की दीवारों पर अंकित रंगीन रेखाचित्रों से क्यों नहीं होती ? शेक्सपियर के नाटकों में यदि कोई वैशिष्ट्य नहीं है तो वही अनुभूति दूसरे नाटककारों के नाटकों से क्यों नहीं जागृत होती ?

दूसरी चीज यह है कि रिचर्ड्स आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली की रिक्तता और निरर्थकता तो सिद्ध करते हैं पर उनके अभाव में काम कैसे चलेगा, इसका कोई निर्देश नहीं करते। यहां भी रिचर्ड्स विरोधाभास से नहीं बच पाते। वे एक ओर तो design, form, rhythm, expression आदि शब्दों को आलोचनात्मक चर्चा में शून्य (vacua)[२०] से अधिक महत्त्व नहीं देते किंतु स्वयं इनका प्रयोग करते हैं, इन्हें अनिवार्य भी मानते हैं;[२१] दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि स्पष्टता के लिए इनके बदले अधिक उपयुक्त शब्दों की आवश्यकता है पर वे अधिक उपयुक्त शब्द कभी सामने नहीं आते। तब ऐसा लगता है कि रिचर्ड्स केवल खंडन के आनंद के लिए खंडन करते हैं।

रिचर्ड्स आलोचना के दो भेद करते हैं: **आलोचनात्मक** (critical) और **प्राविधिक** (technical)। आलोचनात्मक (critical) में अनुभूति के मूल्य का वर्णन होता है और प्राविधिक (technical) में अनुभूति की उत्पत्ति के साधनों का। लय, छंद, तुक, अलंकार आदि का विचार प्राविधिक आलोचना के अंतर्गत आएगा। "अनुभूतियों को उत्पन्न करने वाले साधनों से संबद्ध सभी उक्तियां

१९. We are accustomed to say that a picture is beautiful, instead of saying that it causes an experience in us which is valuable in certain ways. Few competent persons are nowadays so deluded as actually to hold the mystical view that there is a quality Beauty which inheres or attaches to external objects.
—Principles; p, 20-21

२०. Principles; p. 20.

२१. In spite of all manner of confusions and inconveniences, these current ways of speaking are retained. For emotive purposes they are indispensable, but for clarity, for the examination of what is happening, translations are equally a necessity.
—Principles; p. 22.

प्राविधिक हैं किंतु आलोचनात्मक उक्तियों का संबंध अनुभूतियों के मूल्यों से है, साथ ही उन तर्कों से भी, जिनकी सहायता से किसी अनुभूति को मूल्यवान् या मूल्यहीन समझा जाता है।"[२२] रिचर्ड्स बड़ी स्पष्टता से कहते हैं कि "आलोचनात्मक टिप्पणियां मनोवैज्ञानिक टिप्पणियों की शाखामात्र हैं और मूल्य की व्याख्या के लिए न तो नैतिक (ethical) विचारों की आवश्यकता है और न तात्त्विक (metaphysical) विचारों की।"[२३] आलोचना को मनोविज्ञान की शाखा कहना न केवल उसके क्षेत्र को संकुचित करना है, बल्कि उसके प्रयोजन को भी सीमित करना है। दूसरी चीज यह कि आलोचनात्मक तथा प्राविधिक भेद भी सार्थक नहीं हैं। बिना प्राविधिक के आलोचनात्मक निर्णय होगा कैसे ? एक कृति से दूसरी कृति का गुणात्मक अंतर प्राविधिक पक्ष से ही तो स्पष्ट होता है। कथाशरीर एक होने पर भी क्यों रामचंद्रिका' की अनुभूति वैसी मूल्यवान् नहीं है जैसी रामचरितमानस की ? जिन कारणों से उनके मूल्यों में अंतर होता है उन्हीं का विवेचन प्राविधिक पक्ष में आता है। छंद को ही ले लें। रामचरितमानस की कथा आरंभ से अंत तक चौपाई के प्रवाह में शांत-स्तिमित गति से आगे बढ़ती जाती है जिसके साथ पाठक की अनुभूति भी निर्बाध रहती है। इसके प्रतिकूल रामचंद्रिका में हर कदम पर छंद-परिवर्तन से अनुभूति धक्के खाती रहती है; उसे कभी एकतान होने का अवसर नहीं मिलता। इसलिए प्राविधिक पक्ष को बहिरंग (extrinsic या external) कहना आलोचना को एकांगी बनाना है। प्रविधि और मूल्य अन्योन्याश्रित हैं।

मूल्य-सिद्धांत (A Theory of Value)

रिचर्ड्स के अनुसार आलोचना के दो आधार-स्तंभ हैं: (१) मूल्य का लेखा (account of value) तथा (२) संप्रेषण का लेखा (account of communication)।[२४]

'मूल्य' मूलतः अर्थशास्त्र, या यों कहें कि राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था का शब्द है, किंतु इसका क्षेत्र-विस्तार हो गया है। अर्थशास्त्र से इसका प्रवेश दर्शनशास्त्र में हुआ, फिर मनोविज्ञान में और मनोविज्ञान से साहित्य में। कुछ दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र में मूल्य के अन्वेषण को १९वीं शताब्दी की महत्तम उपलब्धि माना है। मूल्य की सामान्य परिभाषा यह है कि मूल्य किसी वस्तु का वह धर्म (गुण) है जिसमें उसका परिशंसन

२२. All remarks as to the ways and means by which experiences arise or are brought about are technical, but critical remarks are about the values of experiences and the reasons for regarding them as valuable, or not valuable. —Principles; p. 23.

२३. That critical remarks are merely a branch of psychological remarks and that no special ethical or metaphysical ideas need be introduced to explain value. —Principles; p. 23.

२४. The two pillars upon which a theory of criticism must rest are an account of value and an account of communication. —Principles; p. 25.

(appreciation) अथवा रुचि (interest) निहित हो, अर्थात् कोई वस्तु यदि हमें रुचिकर प्रतीत होती है या पसंद आती है तो वह हमारे लिए मूल्यवान् है। ऐसी रुचि या पसंदगी का संबंध प्रथमतः अनुभूति से होता है और अंततः इच्छा तथा प्रवृत्ति (tendency) से; अर्थात् किसी वस्तु की इच्छा हुई, फिर उसे प्राप्त करने की प्रवृत्ति हुई, प्राप्त होने पर रुचिकर या प्रीतिकर अनुभूति हुई तो वह हमारे लिए मूल्यवान् बन गयी। तात्पर्य की मूल्य और अनुभूति पर्याय हैं; मूल्य और मूल्य की अनुभूति में कोई भेद नहीं है। यही मूल्य की मनोवैज्ञानिक धारणा है और इस आधार पर जिस मूल्य-सिद्धांत का विकास हुआ है उसे ही मनोवैज्ञानिक मूल्य-सिद्धांत कहते हैं। मूल्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं; जैसे आर्थिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सौंदर्यात्मक आदि। मूल्य के विचार का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि मूल्य-मीमांसा (axiology) नामक एक स्वतंत्र शास्त्र विकसित हो गया है।

रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत को समझने के लिए उनके द्वारा परिकल्पित मानसिक प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। जैसा हम देख चुके हैं, रिचर्ड्स आलोचना को मनोविज्ञान की एक शाखामात्र मानते हैं; स्वभावतः उनके मूल्य-सिद्धांत की सारी परिकल्पना मनोविज्ञान पर आधारित है।

इस संबंध में एक बात ध्यान में रखने की है कि मनोविज्ञान शब्द किसी एक सुनिश्चित विषय का बोधक नहीं रह गया है। मनोविज्ञान की दर्जनों शाखाएं हो गयी हैं जो परस्पर-भिन्न ही नहीं, परस्पर-विरोधी भी हैं। अतः केवल मनोविज्ञान कहने से बात साफ नहीं होती। रिचर्ड्स ने अपने सिद्धांत-निरूपण में जिस मनोविज्ञान का उपयोग किया है वह मनोविज्ञान की दो सर्वथा भिन्न शाखाओं का मिश्रण है। वे शाखाएं हैं: व्यवहारवादी (behaviouristic) मनोविज्ञान, तथा मनोविश्लेषण (psycho-analysis)। उन्होंने इन दोनों से कुछ-कुछ ग्रहण किया है और इनके मिले-जुले रूप से अपने मनोविज्ञान का ढांचा गढ़ा है जिसपर उनकी आलोचना-पद्धति आश्रित है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि इन दोनों की मान्यताओं तथा परिणामों का 'गेस्टाल्ट' (gestalt) संप्रदाय के प्रायोगिक और सैद्धांतिक अनुसंधानों के आलोक में संशोधन आवश्यक हो सकता है।[२५]

काव्यानुभूति की व्याख्या के क्रम में रिचर्ड्स पहले मानव मन की क्रिया (action एवं प्रक्रिया (process) की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार "मन आवेगों (impulses) का तंत्र (system) है।"[२६] आवेग को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं: "हमने आवेग उस प्रक्रिया को कहा है जिसमें कोई मानसिक घटना घटित होती है; उस प्रक्रिया का आरंभ होता है किसी उद्दीपन से और अवसान होता है किसी कार्य में।"[२७] अर्थात्

२५. Principles; p. 63.
२६. The mind is a system of impulses. —Principles; p. 23.
२७. The process in the course of which a mental event may occur, a process apparently beginning in a stimulus and ending in an act, is what we have called an impulse. —Principles; p. 86.

आवेग मन की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है जो किसी उद्दीपन (stimulus) से उत्पन्न होकर किसी कार्य में परिणत हो जाती है। तात्पर्य कि आवेग की उत्पत्ति के लिए सर्व-प्रथम उद्दीपन आवश्यक है; उद्दीपन से मानसिक प्रतिक्रिया होती है; और, वह मानसिक प्रतिक्रिया-मात्र न रहकर कार्यरूप में परिणत होती है; उद्दीपन—मानसिक प्रतिक्रिया—कार्य। चूंकि उद्दीपनों का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इसलिए आवेगों की उत्पत्ति भी कभी अवरुद्ध नहीं होती। ज्ञानेंद्रियों की सहायता से जिस किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, वह उद्दीपन बनकर मन में आवेग की सृष्टि करता है। अतः चेतन अवस्था में आवेगों की उत्पत्ति का क्रम लगातार चलता रहता है। रिचर्ड्स आवेगों के दो भेद करते हैं : (१) इच्छा (appetency) और (२) द्वेष (aversion),[२८] इच्छा प्रवृत्ति-मूलक आवेग है और द्वेष निवृत्तिमूलक। इसीलिए मनुष्य इच्छा की संतुष्टि के लिए जितना प्रयत्नशील रहता है उतना ही द्वेष की निवृत्ति के लिए क्योंकि एक की अनुभूति अनुकूल होती है और दूसरे की प्रतिकूल। रिचर्ड्स के मूल्य का संबंध इच्छाओं की संतुष्टि से है।

आवेगों की परिणति कार्य में हुआ करती है किंतु आवेगों की अनेकता और भिन्नता के कारण कार्य की प्राथमिकता का निर्धारण आसान नहीं होता। एक आवेग अपनी ओर खींचता है तो दूसरा अपनी ओर। मान लीजिए कि आंखें किसी रूप-माधुरी का पान करने में लीन हैं तब तक कान कहीं से आती हुई आर्त ध्वनि को सुनकर उधर उन्मुख हो पड़ते हैं। अब इन दो उद्दीपनों से उत्पन्न दो भिन्न आवेगों का संघर्ष स्वाभाविक है। दुविधा है कि रूप-माधुरी का पान करते रहें अथवा आर्त ध्वनि की दिशा का संधान करें ? मन ऐसे संघर्षों से शायद ही कभी मुक्त होता हो क्योंकि आवेगों की लहरें लगातार उठती रहती हैं। यह संघर्ष अर्थात् आवेगों की आपसी खींचतान तब तक जारी रहती है जब तक किसी कार्य-विशेष के पक्ष में निर्णय नहीं हो जाता किंतु एक निर्णय हुआ नहीं कि दूसरा उपस्थित है। प्रत्येक नयी अनुभूति एक नये आवेग को जन्म देती रहती है। इसलिए आवेगों का संघर्ष या हलचल या खींचतान, जो भी कहिए, शांत नहीं हो पाती हालांकि काम्य उसका शांत होना ही है क्योंकि उसके शांत न होने से मन को न चैन मिलता है, न आराम, न सुख। मन की सबसे काम्य स्थिति वह है जिसमें संघर्षरत सभी आवेग संतुष्ट होकर शांत हो जाएं किंतु यह असंभव-प्राय है। तब दूसरी काम्य स्थिति वह है जिसमें अधिकतम आवेग संतुष्ट हों और न्यूनतम आवेग कुंठित हों। कुछ आवेग तो आपसे-आप शांत हो जाते हैं; कुछ प्रबलतर विरोधी आवेगों से दबा दिये जाते हैं और कुछ सप्रयास शांत किये जा सकते हैं। जहां इन तीनों में कोई विकल्प संभव नहीं होता वहां आवेग आजीवन कष्ट के कारण बनते हैं। मानसिक विक्षेप उसी का अन्यतम परिणाम है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उद्दीपन (stimulus) के प्रति आवेगों की अनुक्रिया (response) इतनी सुसंघटित (organised) और तीव्र (intense) होती है कि क्षणिक अनुभूति में युगों की अनुभूति समाहित-सी प्रतीत होने लगती है।

२८. Principles; p. 47.

देहात में गाये जाने वाले निर्गुण की एक पंक्ति अनुभूति की इस दुर्लभता और सार्थकता को बड़े सटीक ढंग से व्यक्त करती है: "मूरख के संग रात, छैल संग एक घड़ी।" अरसिक के साथ रातभर में जो आनंद नहीं मिलता वह रसिक (छैल) के साथ एक घड़ी में मिल जाता है। काव्य इस दुर्लभ और सार्थक क्षण की उपलब्धि का सबसे बड़ा साधन है क्योंकि कलाओं का उद्भव असाधारण व्यक्तियों के जीवन के ऐसे क्षणों से होता है जब अपनी अनुभूतियों पर उनका अधिकतम नियंत्रण तथा अधिकार होता है; उनकी विभिन्न क्रियाओं में सर्वोत्तम सामंजस्य रहता है; स्वार्थों की स्वाभाविक संकीर्णता और अस्तव्यस्त विमूढ़ता का स्थान जटिल रूप में निष्पन्न शांति ले लेती है।[२९]

कवि की ऐसी ही सुघटित, सुव्यवस्थित, समन्वित, संतुलित मनःस्थिति से उद्भूत कला भावक की मनःस्थिति को उसी रंग में रंग देती है और आवेगों के संघर्ष की विरति से भावक को परम शांति और विश्रांति (poise) की अनुभूति होती है।

अब रिचर्ड्स की मूल्य-धारणा पर ध्यान दें। प्रिंसिपुल्स के पृ० ४७-४८ पर रिचर्ड्स ने मूल्य की तीन बार परिभाषाएं दी हैं पर तीनों में एक ही बात शब्दों के हेर-फेर से दुहरायी गयी है। (१) "कोई भी वस्तु, जो इच्छा को संतुष्ट करती है, मूल्यवान् है।"[३०] (२) दूसरी परिभाषा है: "विभिन्न जटिल रूपों में भावना और इच्छा की संतुष्टि की क्षमता मूल्य है।"[३१] इस परिभाषा का थोड़ा विस्तार इस रूप में सामने आता है: (३) "ऐसी कोई भी वस्तु मूल्यवान् है जो समान या अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा को बिना कुंठित किये किसी इच्छा को संतुष्ट करती है।"[३२] इस परिभाषा में दो बातों पर बल है: एक तो किसी इच्छा की संतुष्टि और दूसरी, यह कि जिस इच्छा की संतुष्टि हो रही है, उसके समान या उससे अधिक महत्त्वपूर्ण कोई इच्छा कुंठित न हो अर्थात् दब न जाए। चूंकि सारा जीवन इच्छाओं की संतुष्टि का ही प्रयास है, इसलिए सबसे मूल्यवान् वस्तु वह है जिससे अधिकतम इच्छाओं की अधिकतम संतुष्टि हो। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि जो वस्तुएं इच्छापूर्ति में साधक नहीं हैं, वे मूल्यहीन हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दृष्टि से अच्छी और बुरी इच्छाओं में कोई भेद नहीं रह जाता। देवालय और मदिरालय जाने का महत्त्व समान है और देवालय के बदले यदि मदिरालय जाने की सुविधा उपलब्ध हो जाती है तथा मदिरा पीने की इच्छा संतुष्ट हो जाती है तो वह मूल्य-

२९. They (the arts) spring from and perpetuate hours in the lives of exceptional people, when their control and command of experience is at its highest... the different activities are most exquisitely reconciled, hours when habitual narrowness of interests or confused bewilderment are replaced by an intricately wrought composure. —Principles; p, 32.

३०. Anything is valuable which satisfies an appetency. —Principles; p. 47.

३१. Value as capacity for satisfying feeling and desire in various intricate ways. —Principles, p. 47.

३२. Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more important appetency. —Principles; p. 48.

वान् है। इसलिए रिचर्ड्स की दृष्टि में "नैतिकता सिर्फ दुनियादारी है और आचार-संहिता इष्टसिद्धि की सामान्यतम व्यवस्था की अभिव्यक्ति है।"[३३] आवेगों की अर्थात् इच्छाओं की संतुष्टि को मूल्य का एकमात्र आधार मान लेने पर नैतिकता या आचार की गति और हो ही क्या सकती है ?

किसी को गलतफहमी न हो जाए, इसलिए रिचर्ड्स आगाह करते हैं कि "जिस संघटन (organisation) और व्यवस्थापन (systematisation) की बात मैं बार-बार दुहराता रहा हूं, वह मूलतः सचेत योजना का काम नहीं है। हम नियमतः मानसिक अराजकता की स्थिति से अधिक संघटन की स्थिति में कैसे जाते हैं, इसकी हमें कोई जानकारी नहीं है।"[३४] तात्पर्य कि मानसिक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं और प्रक्रियाओं के संबंध में हम बिलकुल अंधकार में हैं। मन का सारा व्यापार अचेतन के तिमिराच्छन्न गह्वर में आपसे-आप चलता रहता है। उसी गह्वर में काव्य की सृष्टि भी होती है और काव्य की अनुभूति भी। काव्य की अनुभूति के क्षणों में कुछ ऐसी मादकता छा जाती है कि आवेग अपना युद्ध बंदकर शांत बैठ जाते हैं और जैसे काव्य का सम्मोहन समाप्त होता है, वैसे ही उठकर वे फिर ताल ठोकने लगते हैं। आवेगों की विश्रांति में ही काव्य की मूल्यवत्ता है। इसी मूल्य की स्थापना के लिए रिचर्ड्स पाठक से मनोविज्ञान का 'सहारा' पार करवाते हैं और अब तक की सारी आलोचनात्मक उपलब्धियों को बकवास बताते हैं।

यदि मूल्य-सिद्धांत की समीक्षा करें तो अनेक असंगतियां अनायास उठ खड़ी होती हैं :

१. हम पहले भी संकेत कर चुके हैं कि जिस नींव (मनोविज्ञान) पर रिचर्ड्स सामान्यतः अपने आलोचना-सिद्धांत की, और विशेषतः अपने मूल्य-सिद्धांत की, इमारत खड़ी करते हैं, वह बहुत कच्ची और कमजोर है। एक तो मनोविज्ञान से विज्ञान का तकाजा पूरा नहीं होता क्योंकि वह सच्चे अर्थ में विज्ञान नहीं है। दूसरी चीज यह कि अभी वह निर्माणावस्था में है; रोज नयी-नयी मान्यताएं सामने आ रही हैं जो पुरानी मान्यताओं को झुठला देती हैं, बहुत बार नकार भी देती हैं। इसलिए उनकी प्रामाणिकता और फलतः उपयोगिता संदिग्ध बन जाती है। ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान की एकांगी एवं तात्कालिक (अस्थायी) मान्यताओं पर किसी स्थायी और परिनिष्ठित आलोचना-सिद्धांत का निर्माण दुष्कर है।

२. एक ओर तो रिचर्ड्स बड़ी दृढ़ता से आवेगों की शांति तथा विश्रांति की बात कहते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते हैं मानसिक अराजकता की स्थिति से संघटन की स्थिति में हम कैसे जाते हैं, इसकी हमें कुछ भी जानकारी नहीं है। यदि मानसिक

३३. Thus morals become purely prudential and ethical codes merely the expression of the most general schemes of expediency.

—Principles; p. 48.

३४. To guard against a possible misunderstanding it may be added that the organisation and systematisation of which I have been speaking...are not primarily an affair of conscientious planning...we pass as a rule from a chaotic to a better organised state by ways which we know nothing about.

—Principles; p. 57.

व्यापारों की जानकारी है ही नहीं तो आवेगों की शांति की जानकारी कैसे होती है ? अचेतन के अगम्य गह्वर के व्यापारों का अनुमान तो संभव है पर निश्चयात्मक ज्ञान (जिसका दावा रिचर्ड्स करते हैं) संभव नहीं।

३. आवेगों की संतुष्टि, फलतः शांति, का प्रश्न उठाकर रिचर्ड्स काव्य को मानसिक चिकित्सा का साधन प्रतिपादित कर बैठते हैं जो काव्यालोचन की समस्त परंपरा का ही प्रत्याख्यान नहीं करता बल्कि काव्य के स्वीकृत उद्देश्य का भी प्रत्याख्यान कर डालता है। जैसा रेने वेलेक ने कहा है, "यह समझना कठिन है कि मन की कल्पित शांत स्थिति साहित्य के पाठक के लिए कहां तक उपयोगी है ? ऐसा प्रत्येक सिद्धांत, जो पाठक के मन पर पड़ने वाले प्रभाव पर आश्रित है, मूल्यों की पूर्ण अराजकता तथा अंततः निष्फल संदेहवाद का अनिवार्य कारण बनेगा। रिचर्ड्स ने स्वयं यह निष्कर्ष निकाला है कि 'अच्छे काव्य को पसंद और बुरे काव्य को नापसंद करने का महत्त्व इस बात से निश्चय ही कम है कि ये दोनों हमारे मन को व्यवस्थित करने का साधन हैं।' इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी क्षणिक मानसिक आवश्यकताओं के अनुसार काव्य अच्छा या बुरा हुआ करता है; कला-कृति की वस्तुगत संरचना को देखने से इनकार करने की तर्क-संगत परिणति अराजकता में होती है।"[३५] तात्पर्य कि कोई काव्य अपने-आपमें न अच्छा है, न बुरा; उसकी अच्छाई-बुराई का निर्णय इस बात से होगा कि वह आवेगों को कहां तक शांत कर पाता है। जेम्स ने ठीक ही कहा है कि "इस सौंदर्य-मीमांसा का पूरा संबंध वस्तु के बदले उसके परिणाम से है। क्योंकि आवेगों का संतुलन तथा सामंजस्य, जिनकी उत्पत्ति महान् काव्य से मानी जाती है, बेहोशी की किसी निर्दोष दवा से भी उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में बेहोशी की दवा और काव्य, ये दोनों ही मूल्यवान् अनुभूतियों के समान उद्दीपक सिद्ध होते हैं।"[३६]

४. डेविड डेचेज़ ने रिचर्ड्स के इस मत में निहित एक और कठिनाई का निर्देश किया है और वह यह है कि काव्य-मूल्य के संबंध में मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर अधिकांशतः आधारित रिचर्ड्स की जो सामान्योक्तियां हैं, उन्हें कोई भी महत्त्वपूर्ण

३५. Richards...is primarily interested in the therapeutic effects of poetry...It is difficult to see in what use this supposedly poised state of mind of the reader is for the study of literature...Every theory which puts the onus on the effects in the individual mind of the reader is bound to lead to a complete anarchy of values and ultimately to barren skepticism. Richards has himself drawn this conclusion, saying that "it is less important to like 'good' poetry and to dislike 'bad' than to be able to use them both as a means of ordering our minds." This would mean that poetry is good or bad according to my momentary psychic needs ! and anarchy is the logical consequence of refusing to see the objective structure of a work of art.
—Wellek, Rene', Concepts of Criticism; p. 265.

३६. The whole regard of this aesthetic is away from the object to its results ; for, presumably a balance and reconciliation of impulses, such as great poetry is said to afford, might conceivably be produced by a harmless drug, in which case poetry and drug are alike stimuli productive of valuable experiences.
— James, D.G., Scepticism and Poety; P. 57

समसामयिक मनोविज्ञानी स्वीकार नहीं करता।[३७] डेचेज़ का कहना है कि रिचर्ड्स के सिद्धांत के संबंध में विवाद का केंद्रबिंदु यह रहा है कि कवि द्वारा अधिगत तथा योग्य पाठक में संप्रेषित जिस मानसिक शांति का वे वर्णन करते हैं, वह सच है या मनगढ़ंत।[३८] तात्पर्य कि रिचर्ड्स द्वारा कल्पित मूल्य-सिद्धांत काव्यालोचकों के लिए तो अमान्य है ही, मनोविज्ञानियों द्वारा भी समर्थित नहीं है। अतः न तो वह उपादेय है और न प्रामाणिक।

५. आवेगों की शांति (संतुष्टि) को काव्य का प्रयोजन कहकर रिचर्ड्स सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट सामान्यतः सभी प्रयोजनों का, और विशेषतः आनंद का, मूलोच्छेद कर देते हैं। अरस्तू विरेचन के द्वारा भावों के उपशम की बात कहकर भी आनंद का खंडन नहीं करते किंतु रिचर्ड्स के मत में आनंद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। 'प्रिंसिपुल्स' के बारहवें अध्याय में आनंद (pleasure) की मीमांसा करते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि "कविता को आनंद के लिए पढ़ना कविता के प्रति अपूर्ण अभिवृत्ति का परिचायक है। स्पष्टतः हमारी रुचि कविता में होनी चाहिए, न कि उसे सही ढंग से पढ़ने जैसे किसी उपजात (by-product) में। यदि हम आनंद को सामने रखते हैं तो हमारे अवधान की अवस्थिति ही गलत हो जाती है।"[३९] वे आगे फिर कहते हैं: "यह मानना की कोई कुशल पाठक आनंद के लिए कविता पढ़ने बैठता है, वैसा ही हास्यास्पद (absurd) है जैसा यह मानना कि कोई गणितज्ञ आनंद के लिए समीकरण (equation) हल करता है।"[४०]

रिचर्ड्स की यह मान्यता मौलिक तो है किंतु यह परंपरा-विरुद्ध ही नहीं, शास्त्र-विरुद्ध ही नहीं बल्कि अनुभव-विरुद्ध भी है। मैं परंपरा या शास्त्र शब्द का प्रयोग किसी रूढ़, निष्प्राण, विवेकहीन तत्त्व के लिए नहीं कर रहा, बल्कि उसके लिए जो सभी देशों के, सभी कालों के, सर्वोत्तम विचारों के अनादि-अनंत प्रवाह द्वारा समर्थित एवं प्रमाणित है। मैं अपने को भी निस्संकोच भाव से काव्य का 'कुशल पाठक' मानता हूं और अपने अनुभव के आधार पर बल देकर कहना चाहता हूं कि मैं मुख्यतः आनंद के लिए ही काव्य पढ़ता हूं। आवेगों के उपशम के लिए तो बाजार में न जाने कितनी नशीली चीजें बिकती हैं पर उन्हें कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी, सूर, रवींद्र, प्रसाद के काव्य के समानांतर रखने में मुझे निश्चय ही संकोच होगा।

६. मूल्य-सिद्धांत के संबंध में रैन्सम का कहना है कि रिचर्ड्स का काव्य-

३७. His generalizations about the value of poetry, which are in large measure based on psychological notions which no important contemporary psychologist accepts.

—Daiches, David, Critical Approaches to Literature; p. 141.

३८. Critical Approaches to Literature; p. 139.

३९. To read a poem for the sake of the pleasure which will ensure, if it is successfully read, is to approach it in an inadequate attitude. Obviously it is the poem in which we should be interested, not in a by-product of having managed successfully to read it. The orientation of attention is wrong if we put the pleasure in the forefront. —Principles; p. 97,

४०. Principles, p. 97.

संरचना-विषयक लेखा न केवल शुद्ध परिकल्पना है, बल्कि इसे स्वीकार कर लेने पर आलोचना ही निर्मूल हो जाएगी। रिचर्ड्स के कथनानुसार, यदि हम यह मान लें कि 'संतुलित विश्रांति' की स्थिति "उद्दीपक वस्तु की संरचना में बिलकुल नहीं होती" बल्कि हमारी 'अनुक्रिया' (response) में होती है, तो "काव्य-वस्तु के विश्लेषण" की आलोचना का श्रम निरर्थक हो जाता है। यही नहीं, कवि द्वारा कविता को विशिष्ट 'आकृति' प्रदान करने का श्रम भी निरर्थक सिद्ध होता है।"[४१] तात्पर्य कि रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत को स्वीकार करने पर कविता का संरचनात्मक विश्लेषण सर्वथा अनुपयोगी हो जाता है क्योंकि मूल्य-सिद्धांत में पाठक पर कविता का पड़नेवाला प्रभाव ही सब कुछ है। कविता की वस्तु-योजना, शब्द-प्रयोग, शब्द-अर्थ का व्यंजक सहसंबंध, छंद, लय, तुक आदि का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता क्योंकि रिचर्ड्स के मत से कविता तो केवल अनुभूति है; अतः अनुभूति के अतिरिक्त किसी वस्तु की चर्चा अप्रासंगिक और निरर्थक है। यह तो है आलोचक की दृष्टि से। कवि की दृष्टि से मूल्य-सिद्धांत में असंगति यह है कि कवि कविता को आकृति-विशेष में ढालने की, शब्दों में अधिकतम व्यंजना भरने की, भावानुकूल छंद-लय के प्रयोग आदि की जो चेष्टा करता है, वह भी व्यर्थ। तो आलोचक और कवि, दोनों की चेष्टा की निरर्थकता मूल्य-सिद्धांत का अनिवार्य परिणाम है।

रिचर्ड्स आवेगों की संतुष्टि को मूल्य का ही आधार नहीं मानते बल्कि काव्य के वर्गीकरण का भी आधार मानते हैं। आवेग दो प्रकार के होते हैं: सजातीय (homogenous) तथा विजातीय (heterogenous)। सजातीय आवेगों में विरोध नहीं होता किंतु विजातीय आवेगों में विरोध होता है। उदाहरणार्थ, हर्ष और गर्व सजातीय आवेग हैं; दोनों साथ रह सकते हैं; ये एक-दूसरे को बाधित नहीं करते। इसके प्रतिकूल कुछ आवेग ऐसे हैं जो विजातीय हैं अर्थात् परस्पर-विरोधी हैं; अतः एक साथ नहीं रह सकते, जैसे भय और हर्ष या भय और करुणा। जहां भय होगा वहां हर्ष की स्थिति संभव नहीं है; हर्ष तभी हो सकता है जब भय समाप्त हो जाए। इसलिए सजातीय या अविरोधी आवेगों में सामंजस्य स्थापित करने की अपेक्षा विजातीय या विरोधी आवेगों में सामंजस्य स्थापित करना कहीं अधिक कठिन है। वस्तुतः सजातीय आवेगों में तो सामंजस्य स्वतः वर्तमान रहता है, उसके लिए प्रयास की आवश्यकता ही नहीं है। किंतु विजातीय या विरोधी आवेगों की एकत्र योजना (सामंजस्य) में कवि-कौशल को प्रयास करना पड़ता है।

इस आधार पर रिचर्ड्स काव्य के दो भेद करते हैं। एक को वे अपवर्जी (exclusive) कहते हैं और दूसरे को अंतर्वेशी (inclusive)। अपवर्जी काव्य में, जैसा नाम से

४१. Ransom points out that Richards' account of the relevant poetic structure is not only a mere hypothesis, but that this particular hypothesis, if accepted, would destroy criticism. For if the 'balanced poise' is, as Richards says it is, in our 'response' and not at all 'in the structure of the stimulating object,' then the labour of criticism in 'analysing the poetic object' is vain. Vain also was the labour of the poet in putting the poem into a particular 'shape'.

—Literary Criticism : A Short History; p. 620.

ही स्पष्ट है, अन्य आवेगों का अपवर्जन (exclusion) हो जाता है; या तो एक ही आवेग रहता है या एक से अधिक आवेग हुए तो वे सजातीय होते हैं और विजातीय (विरोधी) आवेग सर्वथा अपवर्जित (excluded) हो जाते हैं। यहां आवेगों की संतुष्टि विजातीय आवेगों के अपवर्जन (exclusion) से होती है। किंतु जहां विजातीय आवेगों का अंतर्वेशन (inclusion) अर्थात् संश्लेषण (synthesis) होता है, तात्पर्य कि विरोधी आवेगों में सामंजस्य-स्थापन के द्वारा अनुभूति में व्यवस्था आती है, वह अंतर्वेशी (inclusive) काव्य है और अपवर्जी (exclusive) की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अंतर्वेशी काव्य का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है दुःखांतक (tragedy), जिसमें भय (fear) और करुणा (pity) जैसे विरोधी भावों का संश्लेषण पाया जाता है। इससे जो संतुलित विश्रांति (balanced poise) उत्पन्न होती है वह अपवर्जी काव्य की तुलना में कहीं अधिक गंभीर और स्थायी होती है। इसलिए उसका मूल्य भी अधिक है। रिचर्ड्स के अनुसार "साहित्य में दुःखांतक (ट्रैजेडी) श्रेष्ठतम तथा विरलतम वस्तु है।"

कला और नैतिकता (Art and Morals)

कला और नैतिकता के पारस्परिक संबंध का विवाद बहुत पुराना है। एक मत नैतिकता से रहित कला को हेय बताता है तो दूसरा कला को नैतिकता से मुक्त रखना चाहता है। इन दोनों विरोधी मतों में किसी एक के पक्ष में इदमित्थम् कहना कठिन है क्योंकि इन्हें लेकर कलाकारों तथा आलोचकों में आदिकाल से वैमत्य चला आ रहा है। रिचर्ड्स ने कलागत मूल्य के विचार के संदर्भ में नैतिकता के प्रश्न पर भी विचार किया है। वे उन आलोचकों में हैं जो नैतिकता से रहित कला का समर्थन नहीं करते। जो लोग कला को नैतिकता से अलग रखना चाहते हैं, उनपर व्यंग्य करते हुए रिचर्ड्स कहते हैं कि ये लोग संभवतः नैतिकता को पुरोहित-वर्ग या पुलिस की ही जिम्मेवारी समझते हैं।

"ये अधिकारी बेहद अयोग्य हैं, यह मामूली चिंता की बात है क्योंकि इनके प्रमाद इतने हास्यास्पद हैं कि उनका प्रभाव अल्पकालीन ही होता है पर इससे भी बड़ी बात यह है कि इनके अविवेक (indiscretion), अभद्रताएं (vulgarities) और अनर्गलताएं (absurdities) इस धारणा को प्रोत्साहित करती हैं कि नैतिकता का कलाओं से कोई संबंध नहीं है।"[४२] अविवेक, अभद्रता, अनर्गलता जैसे कड़े शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि कला में नैतिकता की सत्ता स्वीकार न करनेवालों को रिचर्ड्स कितनी भर्त्सना का पात्र मानते हैं। आगे वे फिर कहते हैं: "स्थिर बुद्धि और संतुलित निर्णय वाले व्यक्तियों के द्वारा कला के व्यापक सामाजिक तथा नैतिक पक्षों की सामान्य उपेक्षा से मूढ़ता के प्रसार के लिए निर्बाध क्षेत्र मिल जाता है और अच्छे आलोचक संकोच में पड़ जाते हैं। यदि अयोग्यों की हरकतों से योग्य उदासीन हो जाते हैं तो जो बुराई और हानि होती है

४२. That these authorities are sadly incompetent is a minor disadvantage. Their blunderings are as a rule so ridiculous that the effects are brief. What is more serious is that these indiscretions, vulgarities and absurdities encourage the view that the arts have no connection with morality.
—Principles, p. 34.

वह न अस्थायी होती है और न तुच्छ; यही नहीं, वह क्रमशः बढ़ती जाती है। यह वैसा ही है जैसा कि नीम हकीमों के डर से अच्छे चिकित्सक भाग खड़े हों। मन के स्वास्थ्य के लिए आलोचक की उतनी ही आवश्यकता है जितनी शरीर के स्वास्थ्य के लिए चिकित्सक की।"[४३]

उपर्युक्त विचारों से प्रतीत होता है कि रिचर्ड्स कला में नैतिकता के घोर समर्थक हैं किंतु उनकी नैतिकता की धारणा प्रचलित तथा परंपरागत नैतिकता की धारणा से सर्वथा भिन्न है। जैसा हम देख चुके हैं, रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति मुख्यतः व्यवहारवादी मनोविज्ञान (behaviouristic psychology) एवं मनोविश्लेषण (psychoanalysis) पर आश्रित है। इनमें व्यवहारवादी मनोविज्ञान से उन्होंने उद्दीपन-अनुक्रिया (stimulus-response) का संप्रत्यय (concept) लिया है और मनोविश्लेषण से इच्छाओं की संतुष्टि (satisfaction of the appetencies) का और इनके मेल से मूल्य-सिद्धांत का निर्माण किया है। रिचर्ड्स की दृष्टि में मूल्यवान् वह है जिससे इच्छाओं की संतुष्टि होती है अर्थात् अधिक से अधिक आवेगों (impulses) के उपशम से व्यक्ति में संघटन (organisation) या व्यवस्थापन (systematisation) आता है क्योंकि मानसिक अराजकता की स्थिति में महत्त्वपूर्ण तथा महत्त्वहीन आवेग समान रूप से कुंठित होते हैं। फलतः संघटन बाधित होता है और संघटन के अभाव में मूल्य का लोप हो जाता है।"[४४]

रिचर्ड्स के अनुसार, नैतिकता की समस्या मूल्य की समस्या से भिन्न नहीं है। "नैतिकता की समस्या अर्थात् जीवन से हम अधिकतम मूल्य कैसे प्राप्त करें यह समस्या, वस्तुतः संघटन (organisation) की समस्या बन खड़ी होती है। संघटन की यह समस्या व्यक्ति-विशेष के जीवन से ही संबद्ध नहीं है बल्कि व्यक्तियों के जीवन के पारस्परिक समंजन (adjustment) से भी संबद्ध है।"[४५] इसका निष्कर्ष यह हुआ कि नैतिकता और मूल्य में कोई भेद नहीं है और मूल्यवत्ता इच्छाओं की संतुष्टि में है, इसलिए नैतिकता भी इच्छाओं की संतुष्टि में ही है :

नैतिकता = मूल्य = इच्छाओं की संतुष्टि।

इससे यह निष्कर्ष दुर्निवार हो जाता है कि नैतिकता, मूल्य और इच्छाओं की संतुष्टि समानार्थक हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रिचर्ड्स की यह स्व-कल्पित नैतिकता नैतिकता की स्वीकृत धारणा से पूर्णतः भिन्न है। इच्छाओं की संतुष्टि को नैतिकता का आधार

४३. Principles, p. 35.

४४. Without system, needless to say, value vanishes, since in a state of chaos important and trivial impulses alike are frustrated.

—Principles, p. 59,

४५. The problem of morality then, the problem of how we are to obtain the greatest possible value from life, becomes a problem of organisation, both in the individual life and in the adjustment of individual lives to one another.

—Principles, p. 38,

मान लेने पर अनैतिक नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं जाती क्योंकि मनुष्य जो भी कर्म-अकर्म करता है, वह अपनी इच्छाओं की संतुष्टि के लिए ही।

रिचर्ड्स का कहना है कि वे "एक ऐसी नैतिकता की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं जो परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर अपने मूल्यों में भी परिवर्तन लाएगी; वह नैतिकता गुह्यता (occultism), निरपेक्षता (absolute) तथा यदृच्छा (arbitrariness) से मुक्त होगी; वह नैतिकता मानवीय कार्य-कलाप में कलाओं के स्थान और मूल्य का जैसा निरूपण करेगी वैसा आज तक किसी नैतिकता ने नहीं किया है।"[४६] तात्पर्य कि रिचर्ड्स द्वारा प्रस्तुत नैतिकता में तीन विशेषताएं होंगी :

१. वह नैतिकता **परिस्थिति-सापेक्ष** होगी अर्थात् परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित हुआ करेगी। परिस्थिति बदलेगी तो नैतिकता भी बदल जाएगी अर्थात् गतिशील (dynamic) होगी, स्थिर (static) नहीं। एक शब्द में कहें तो वह नैतिकता शुद्ध 'अवसरवादी' होगी, "जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै" की नीति का अनुसरण करनेवाली।

२. अभी जो नैतिक मान्यताएं प्रचलित हैं, वे कई दोषों से ग्रस्त हैं। उदाहरणार्थ, कुछ ऐसी हैं जिनका कोई तर्क-संगत आधार नहीं दीखता; उनमें एक प्रकार की **गुह्यता (रहस्यमयता)** है; जैसे जादू-टोना, अंधविश्वास आदि के द्वारा नियंत्रित आचार।

कुछ मान्यताएं ऐसी हैं जो निरपेक्ष हैं—जिनमें देश, काल, परिस्थिति आदि का कोई नियमन नहीं है, जिनका सर्वदा और सर्वत्र पालन होना चाहिये। 'सत्यं वद', 'अहिंसा परमो धर्मः' आदि वाक्य निरपेक्ष नैतिकता के उदाहरण हैं। किंतु रिचर्ड्स का कहना है कि ऐसी विषम परिस्थितियां आ जाती हैं जिनमें सच बोलना किसी के विनाश का कारण बन सकता है। वहां सच बोलने का औचित्य संदिग्ध नहीं हो जाता क्या? इसी तरह यदि आततायी से सामना हो जाए या राष्ट्र पर सैनिक आक्रमण हो जाए तो अहिंसा को धर्म मानना कहां तक संगत होगा?

यादृच्छिक (arbitrary) नैतिकता के बड़े अच्छे उदाहरण हैं अस्पृश्यता या विधवा-विवाह का निषेध। मनुष्य मनुष्य का स्पर्श न करे! पत्नी के मरने पर पुरुष चाहे जितने विवाह कर ले किंतु पति के मरने पर पत्नी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक यंत्रणा की ज्वाला में जलते हुए सारा जीवन बिताए, इससे बढ़कर यादृच्छिक (मनमानी) नैतिकता और क्या हो सकती है?

३. रिचर्ड्स की नैतिकता का तीसरा पक्ष है मानवीय कार्य-कलाप में कलाओं के स्थान और महत्त्व का ऐसा निरूपण जैसा आज तक नहीं हुआ है। इस मिथ्या अहंकार पर टिप्पणी अनपेक्षित है।

४६. The attempt to outline a morality which will change its values as circumstances alter, a morality free from occultism, absolutes and arbitrariness, morality which will explain, as no morality has yet explained, the place and value of the arts in human affairs.

—Principles; p. 58.

रिचर्ड्स को नैतिकता का यह नया प्रतिमान इसलिये प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ी कि पुराने प्रतिमान अनुपयोगी हो चुके हैं और "जीर्ण नैतिक सिद्धांतों से बढ़कर मानवता के लिये कोई दूसरा दुर्भाग्य नहीं है"।[४७] "प्रश्न है कि यह स्थिति उत्पन्न ही क्यों होती है? इसलिये कि जिस गति, मात्रा और अनुपात में परिस्थितियां बदलती हैं, आचार नहीं बदलते। परिस्थितियां आगे निकल जाती हैं; आचार पीछे छूट जाते हैं। स्वभावत: दोनों के बीच खाई पैदा हो जाती है जिससे व्यवस्थापन (systematisation) में बाधा पड़ती है। इसलिये वांछनीय यह है कि आचार और परिस्थितियां साथ-साथ चलें जिससे व्यवस्थापन बाधित न हो। 'वस्तुत: सार्वजनिक आचार की एक सुदृढ़ तथा सामान्य पद्धति का निर्माण इतना आवश्यक, पर साथ ही इतना कठिन है कि जब तक कोई अच्छी पद्धति उपलब्ध न हो जाए तब तक किसी भी साधन को उचित माना जा सकता है।"[४८] स्पष्ट है कि रिचर्ड्स की दृष्टि में, महत्त्व साध्य का है, साधन का नहीं किंतु साधन सदोष होने पर साध्य निर्दोष रह पाएगा क्या?

रिचर्ड्स के अनुसार सत्-असत्, भले-बुरे की परंपरागत मान्यताओं में संशोधन या परिवर्तन की आवश्यकता इसलिये है कि मानवविज्ञान (anthropology) ने कुछ नये तथ्य प्रस्तुत कर दिये हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि सत् (अच्छा) के संबंध में विभिन्न प्रजातियों (races), अभ्यासों (habits) और सभ्यताओं (civilisations) के लोगों की धारणाएं परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं। इस भिन्नता को सावधान बच्चे भी अनुभव करते हैं किंतु शिक्षा के द्वारा उनके वैज्ञानिक प्रयास दमित कर दिये जाते हैं। तात्पर्य कि विभिन्न समाजों की नैतिकता-संबंधी मान्यताओं में अत्यधिक अंतर हुआ करता है; जैसे कहीं सार्वजनिक रूप में भोजन करना जीवन का सामान्य क्रम है तो कहीं वह अभद्रता की पराकाष्ठा है। शत्रु को क्षमा करना कहीं तो प्रशस्य माना जाता है और कहीं जघन्य। हिंदुओं में चचेरे भाई-बहन के बीच विवाह वर्जित है पर मुसलमानों में अनुमत। ऐसी स्थिति में किसे अच्छा कहें, किसे बुरा? किसे नैतिक कहें, किसे अनैतिक? "मनुष्य-जाति के परिवर्तनशील नैतिक निर्णयों से जो अवगत हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि किसी वस्तु की स्वीकृति या अस्वीकृति के पीछे हमारी वर्तमान और व्यतीत परिस्थितियां तथा आवश्यकताएं काम करती हैं।"[४९] रूपांतरण केवल बाह्य जगत् में ही नहीं होता, मनुष्य के मनोजगत् में भी होता है—उसके आवेग, इच्छाएं तथा प्रवृत्तियां बिलकुल नया रूप ग्रहण कर लेती हैं। परिणामस्वरूप उनमें नया व्यवस्थापन (systematisation) भी आवश्यक हो जाता है। मूल्य के प्रसंग में हमने देखा है कि सतत संघर्षरत आवेगों में

४७. None of the afflictions of humanity are worse than its moral principles.
—Principles; p. 57.

४८. It is so necessary and so difficult to secure a stable and general system of public behaviour that any means whatever are justifiable, failing the discovery of better.
—Principles; p. 56.

४९. Few people acquainted with the varying moral judgments of mankind will doubt that circumstances and necessities, present and past, explain our approval and disapproval.
—Principles; p. 45.

व्यवस्थापन लाने का एक ही उपाय है और वह है उनमें अधिक से अधिक की संतुष्टि। रिचर्ड्स का कहना है कि नैतिक विकास में आवेगों के परस्पर-विरोध का सर्वातिशायी महत्त्व है क्योंकि व्यवस्थापन का उत्कर्ष इस बात पर निर्भर करता है कि कितने आवेग संतुष्ट हुए और कितने असंतुष्ट रह गये। निश्चय ही वह व्यवस्थापन (systematisation) या संघटन (organisation) सर्वोत्तम कहा जाएगा जिसमें मानव संभावनाओं का अपक्षय (waste) न्यूनतम हो।[५०]

"सामाजिक जीवन में अपेक्षित एकरूपता स्थापित करने के लिये ईश्वरेच्छा, विवेक, धर्मोपदेश, वर्जना, तात्कालिक अंतःप्रज्ञा, दंड-संहिता, जनमत जैसे बढ़िया और कारगर साधन काम में लाये जाते हैं। इनकी तथा आचार (custom), परंपरा (convention) और अंधविश्वास (superstition) की सहायता से संगत व्यवस्थापन (coherent systematisation) के द्वारा अधिक संतुष्टि पाने के प्रयास को, जो नैतिकता का मूलाधार है, असाधारण रूप में आवृत और आच्छन्न कर दिया जाता है। इससे बड़ी कठिनाइयां और अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अब तक गठित सारे समाज अपक्षय और क्लेश से भयंकर सीमा तक पीड़ित रहे हैं।"[५१]

यदि हमें मालूम न होता कि उपर्युक्त मंतव्य रिचर्ड्स का है तो हम इसे फ्रायड का भी मान लेते। फ्रायड का अनुगमन करते हुए रिचर्ड्स बार-बार दुहराते हैं कि इच्छाओं की संतुष्टि न होने से ही सारे संकट या अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इच्छाओं के दमन से बढ़कर व्यक्ति या समाज के लिए दूसरा कुछ भी घातक नहीं है। इसलिए मनुष्य को सर्वदा और सर्वथा इच्छाओं की संतुष्टि के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। इच्छाओं की संतुष्टि ही परम पुरुषार्थ है, परम मूल्य है, परम नैतिकता है। "मूल्य क्या है और कौन-सी अनुभूतियां सर्वाधिक मूल्यवान् हैं, यह हम तब तक नहीं समझ पाएँगे जब तक पाप और पुण्य जैसी अमूर्त धारणाओं के शब्द-जाल में फंसे रहेंगे।"[५२] इसलिए "आचारशास्त्र के कबाड़खाने और अंधविश्वासों के प्रक्षेप से नैतिक प्रश्नों को अलग रखना निहायत जरूरी

५०. That organisation which is least wasteful of human possibilities is, in short, the best.

—Principles; p. 52.

५१ The wills of Gods, the Conscience, the Catechism, Taboos, Immediate Intuitions, Penal Laws, Public Opinion, Good Form, are all more or less ingenious and efficient devices with the same aim—to secure the uniformity which social life requires. By their means and by custom, convention and superstition, the underlying basis of morality, the effort to attain maximum satisfaction through coherent systematisation, is veiled and disguised to an extra-ordinary degree...All societies hitherto achieved, however, involve waste aud misery of appalling extent.

—Principles; p. 56.

५२. What value is and which experiences are most valuable will never be understood so long as we think in terms of those large abstractions, the virtues and the vices.

—Principles; p. 61.

है।" रिचर्ड्स के अनुसार "सर्वाधिक मूल्यवान् मनःस्थितियां वे हैं जो मानव-व्यापारों में अधिकतम तथा व्यापकतम समन्वय स्थापित करने में समर्थ हैं और जिनमें न्यूनतम प्रतिरोध, संघर्ष, अतृप्ति और नियंत्रण पाये जाते हैं। सामान्यतः मनःस्थितियां उसी मात्रा में मूल्यवान् होती हैं जिस मात्रा में वे अपक्षय (waste) और कुंठा (frustration) को कम करती है।"[५३]

रिचर्ड्स का निष्कर्ष है: "मूल्य का अस्तित्व अनुक्रिया (response) तथा अभिवृत्ति (attitude) के सूक्ष्म विशेषों (minute particulars) में मानने के बदले हम उसे आचार के सामान्य नियमों एवं अमूर्त विधानों (abstract prescriptions) की अनुकूलता में ढूंढ़ने की कोशिश करते रहे हैं।"[५४] कहने का अभिप्राय यह कि एक तो हम आचार-विषयक पात्रापात्र, देश-काल आदि का विचार बिना किये सामान्य नियम बनाते हैं; दूसरे, उन नियमों का कोई ठोस, तर्कसंगत आधार नहीं होता; और फिर भी, चाहते हैं कि सभी उनका अनुसरण करें। रिचर्ड्स के अनुसार, यह दृष्टि ही गलत है। आचार या मूल्य का निर्धारण व्यक्ति की अनुक्रिया या अभिवृत्ति की सूक्ष्म विशिष्टता के आधार पर ही होना चाहिए। किन्हीं भी दो व्यक्तियों की अनुक्रियाओं या अभिवृत्तियों में अंतर होना अनिवार्य है। अतः उनके लिए एक ही नियम उपयुक्त नहीं हो सकता। उनके आचार अथवा नैतिकता का विधान उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही करना उचित है जिससे उनके आवेग असंतुष्ट न रहें, इच्छाएं अतृप्त न रहें क्योंकि नैतिकता या मूल्य की सर्वाधिक सार्थकता सभी प्रकार की कुंठाओं को रोकने में है। यह काम जिस खूबी से कवि या कलाकार करते हैं उस खूबी से आचारशास्त्री नहीं। यही कारण है कि आचारशास्त्री उनकी उपेक्षा करते हैं। चूंकि जीवन में परिष्कृत आचरण केवल अनुक्रियाओं की परिष्कृत व्यवस्था से उत्पन्न होता है, इसलिए वह इतना सूक्ष्म होता है कि सामान्य नैतिक नियम उसे छू भी नहीं सकते। इसलिए आचारशास्त्री के द्वारा कला की उपेक्षा एक प्रकार की अयोग्यता है। यही कारण है कि शेली ने बल देकर कहा है कि नैतिकता की आधारशिला उपदेशक नहीं, कवि तैयार करते हैं। कुरुचि तथा अपरिष्कृत अनुक्रियाएं केवल दोष नहीं हैं; वस्तुतः वे बुराइयों की जड़ हैं जिनसे दूसरे दोष निकलते हैं। कोई भी जीवन उत्तम नहीं हो सकता जिसमें प्राथमिक अनुक्रियाएं दुर्घटित (disorganised) तथा मतिभेद-ग्रस्त (confused) हों।[५५] निष्कर्ष कि आचारवादी की अपेक्षा कलाकार द्वारा निर्दिष्ट नैतिकता अधिक ग्राह्य है क्योंकि उसमें विधि-निषेध का कोई बंधन नहीं होता।

१. रिचर्ड्स की नैतिकता-संबंधी रूपरेखा अविकल रूप में फ्रायड से गृहीत है।

५३. The most valuable states of mind then are those which involve the widest and most comprehensive coordination of activities and the least curtailment, conflict, starvation and restriction. States of mind in general are valuable in the degree in which they tend to reduce waste and frustration.
—Principles, p. 59.

५४. Principles, p. 61.

५५. Principles, p. 62.

अतः जो दोष फ्रायड के मनोविश्लेषण में हैं, वे अनायास इसमें भी विद्यमान हैं।

एक तो रिचर्ड्स का यह दावा कि वे नैतिकता की सर्वथा नयी रूपरेखा दे रहे हैं, यथार्थ से बहुत दूर है। उनके पहले फ्रायड इसे अधिक विशद रूप में उपस्थापित कर चुके हैं किंतु आचारशास्त्र या काव्यशास्त्र ने ही नहीं, मनोविज्ञान के अन्य संप्रदायों ने भी उसे स्वीकार नहीं किया। मनोविज्ञान के दर्जनों संप्रदायों में मनोविश्लेषण भी एक संप्रदाय है। अतः उसकी स्थापनाएं अंशतः ही सही हैं। ऐसी परिस्थिति में मनोविश्लेषण के आधार पर निर्मित सिद्धांत सभी नैतिक समस्याओं का समाधान कैसे कर सकता है?

२. नैतिकता का कोई सामान्य आधार न मानकर यदि व्यक्ति की इच्छा-तुष्टि को ही आधार मानें तो समाज में जो उच्छृंखलता और अराजकता फैलेगी, उसकी कल्पना भी कठिन है। उस अराजकता से उत्पन्न आवेगों का संघर्ष सभी कलाकारों के सम्मिलित प्रयास से भी शांत नहीं होगा।

३. यह ठीक है कि नैतिकता के सामान्य नियमों में रूढ़ि, वर्जना (taboo), अंधविश्वास जैसे तत्त्व घुसकर उसे मलिन बना देते हैं किंतु इसमें दोष आचारशास्त्र (ethics) का नहीं, बल्कि उसके द्वारा विहित नियमों पर चलने वाले व्यक्तियों या समाजों का है। यदि चिकित्सा से रोगी मर जाए तो चिकित्सा का अधिकार इंजीनियर को नहीं सौंप देंगे। समय के प्रवाह में प्रत्येक वस्तु दूषित हुआ करती है; आचार भी अपवाद नहीं है। इसीलिये समय-समय पर सुधारकों का आविर्भाव होता है जो दोषों को हटाकर आचार में शुद्धता लाने का प्रयास करते हैं।

४. रिचर्ड्स द्वारा निरूपित नैतिकता की अग्राह्यता और अनुपादेयता का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा कि विगत साठ वर्षों में उसे कहीं मान्यता नहीं मिली।

५. सत्-असत्, कर्म-अकर्म, नैतिक-अनैतिक का निर्धारण इतना कठिन और जटिल है कि 'इच्छाओं की संतुष्टि' के सरल सूत्र से उसका आत्यंतिक निर्णय नहीं हो सकता।

६. स्वयं रिचर्ड्स वैयक्तिक संघटन (organisation) के साथ सामाजिक संघटन को भी आवश्यक बताते हैं। तब समाज के लिये उपयोगी नैतिकता का आदर्श 'सूक्ष्म विशेषों' (minute particulars) से कैसे निर्मित होगा क्योंकि 'विशेषों' का संबंध व्यक्ति से है, समाज से नहीं।

७. रिचर्ड्स का कहना है कि कोई भी व्यवस्थापन (systematisation) सर्वोच्च स्थान का अधिकारी नहीं हो सकता। मनुष्यों में भेद अनिवार्य है: प्रकृति से, प्रवृत्ति से, परिस्थिति से, वृत्ति (पेशे) से नाविक, चिकित्सक, गणितज्ञ और कवि के व्यवस्थापन सदा समान नहीं हो सकते। वस्तुतः समाज में कोई भी व्यवस्थापन ऐसा नहीं जो सबके लिये एक-सा उपयोगी और हितकारी हो। अतः परिस्थितियों के भेद से मूल्यों का और अंततः नैतिकता का भेद भी अनिवार्य हो जाता है। इसका अर्थ हुआ कि नैतिकता वैयक्तिक वस्तु है, सामाजिक नहीं। किंतु बिलकुल यही तर्क सामाजिक नैतिकता के पक्ष में भी दिया जा सकता है। रिचर्ड्स कहते हैं कि जो व्यवस्थापन या संघटन एक व्यक्ति के लिये उपयोगी है, वह दूसरे के लिये उपयोगी नहीं होगा। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य अलग होगा, नैतिकता अलग होगी। पर इसका जो परिणाम होगा, उसकी ओर

रिचर्ड्स का ध्यान नहीं है। व्यक्ति को ही मूल्य या नैतिकता का आधार मान लेने पर समाज की स्थिति क्या होगी ? व्यक्ति तो समाज का ही अंग है, समाज से बाहर उसका योगक्षेम नहीं चल सकता, और समाज में रहने के लिये सामाजिक स्तर पर व्यक्तियों का संघटन आवश्यक है किंतु स्वार्थ का थोड़ा-बहुत त्याग बिना किये सामाजिक संघटन संभव नहीं। रिचर्ड्स के अनुसार, व्यक्तियों की इच्छाओं की संतुष्टि में ही मूल्य की स्थिति है, नैतिकता की स्थिति है। यदि समाज के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छाओं की संतुष्टि में ही लीन और केन्द्रित रहें तो समाज कहां जाएगा ? एक ठोस उदाहरण लें। किसी गांव या मुहल्ले में एक अविवाहिता रूपवती युवती है। अनेक व्यक्ति (मान लीजिए पांच) उसपर आकृष्ट हैं और पांचों उसे प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हैं। अब यदि चार व्यक्ति अपनी इच्छा का दमन कर विरत नहीं होते तो परिणाम की भयंकरता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। जिन लोगों ने इच्छाओं के दमन को नैतिकता का आधार माना है, उन्होंने व्यक्ति और समाज दोनों के योगक्षेम को ध्यान में रखा है। इच्छा की तात्कालिक संतुष्टि के स्थायी परिणाम यदि अनर्थकारी हों तो उस पर नियंत्रण न रखना अनर्थ को जानबूझकर आमंत्रण देना होगा। इसलिये "इच्छाओं की संतुष्टि" का नुस्खा सुनने में जितना मुफीद लगता है, उतना है नहीं। इसे मूल्य या नैतिकता का सर्वोच्च नियामक मानना न तो व्यक्ति के लिए निरापद् है और न समाज के लिए।

संप्रेषण-सिद्धांत (A Theory of Communication)

रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति का दूसरा आधार-स्तंभ है संप्रेषण-सिद्धांत।

कलाएं वह माध्यम हैं जिनके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है। अनुभूतियाँ मानव-मात्र को होती हैं और किसी-न-किसी रूप में उन्हें दूसरों तक संप्रेषित करते भी सभी हैं क्योंकि लोक-व्यवहार का वह अनिवार्य अंग हैं। राग-द्वेष, प्रेम-सहानुभूति पारस्परिक संप्रेषण के ही फल हैं किंतु संप्रेषण की क्षमता सब में एक-जैसी नहीं होती। कलाकार और जनसाधारण की अनुभूति में तात्त्विक अंतर नहीं होता, अंतर होता है अनुभूति की अभिव्यक्ति में। बहुतों की अनुभूति गूंगे का गुड़ है; गूंगा गुड़ के स्वाद का अनुभव तो करता है पर उसे कह नहीं पाता; जिसे वाणी का वरदान प्राप्त है वह उसे कहता भी है। इस क्षमता में कवि एक कदम और आगे है; वह केवल कहता ही नहीं बल्कि इस ढंग से कहता है कि दूसरे को भी वह अनुभूति अपनी-जैसी प्रतीत होने लगती है और तब मन में आता है कि "सोचा तो मैंने भी ऐसा बहुत बार था मगर इस ख़ूबी से कह नहीं पाया।"[५६] प्रभावी अभिव्यंजना को ही संप्रेषण कहते हैं और संप्रेषण में समर्थ व्यक्ति को ही कलाकार। इसके लिए अनुभूति की तीव्रता से अधिक जरूरी है उसका संघटन और संघटन से भी अधिक जरूरी है अभिव्यंजना के माध्यम का असाधारण प्रयोग-कौशल जो अनुभूति को रूपायित कर सके।

रिचर्ड्स के अनुसार, "संप्रेषण का अर्थ न तो अनुभूति का यथावत् (हूबहू) अंतरण

५६. What oft was thought but ne'er so well-expressed.

—Pope, A., An Essay on Criticism.

(strict transference) है और न दो व्यक्तियों के बीच अनुभूति का तादात्म्य (identical experience) बल्कि कुछ अवस्थाओं में विभिन्न मनों की अनुभूतियों की अत्यंत समानता ही संप्रेषण है।"[५७] "संप्रेषण तब होता है जब वातावरण पर किसी मन की ऐसी क्रिया होती है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो उठता है, और दूसरे मन की अनुभूति पहले मन की अनुभूति के समान होती है, साथ ही उस अनुभूति से अंशतः प्रेरित भी। दोनों अनुभूतियां थोड़ी या अधिक समान हो सकती हैं और दूसरी अनुभूति पहली पर आश्रित हो सकती है"।[५८]

संप्रेषण की प्रक्रिया के संबंध में रिचर्ड्स के उपर्युक्त मंतव्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:

१. संप्रेषण के लिए आवश्यक है कि **एक मन की अनुभुति से दूसरा मन प्रभावित** हो, अर्थात् उसमें भी वैसी ही अनुभूति उत्पन्न होने की भूमिका बन जाए।

२. **दोनों अनुभूतियों में समानता** हो अर्थात् जिस अनुभूति के प्रभाव-स्वरूप दूसरी अनुभूति उत्पन्न हो, वे दो दोनों समान हों।

३. दूसरी (उत्पाद्य) अनुभूति पहली (उत्पादक) अनुभूति से प्रेरित हो अर्थात् दूसरी अनुभूति स्वतंत्र रूप से उत्पन्न न होकर पहली अनुभूति से उत्पन्न हो।

४. संप्रेषण के लिए दोनों अनुभूतियों में समानता का होना ही पर्याप्त है; समानता की मात्रा का प्रश्न गौण है। समानता बहुत कम भी हो सकती है और बहुत अधिक भी। यों, समानता जितनी अधिक होगी, संप्रेषण उतना ही सुगम और सफल होगा।

अनुभूति की समानता की मात्रा का निर्धारण अनेक कारणों से होता है; जैसे, संप्रेषक (कलाकार) की अभिव्यंजना-क्षमता; भावक (ग्रहीता) की योग्यता, सहृदयता सुरुचि, अवधान आदि। जब तक कलाकार में अभिव्यंजना की असाधारण क्षमता न हो और भावक में विशिष्ट सहृदयता तथा ग्रहणशीलता न हो, तब तक उनकी अनुभूति में समानता या तो स्थूल रूप में ही संभव है या बिलकुल असंभव है। अनुभूति में समानता निरपेक्ष वस्तु नहीं है; उसका संबंध संस्कार, शिक्षा, जीवन-पद्धति, परिस्थिति, वातावरण आदि से है। खुले फुटपाथ पर ग्रीष्म की जलती दुपहरी और जाड़े की ठिठुरन-भरी रात बिताने वाला भिखमंगा राष्ट्रपति-भवन की राजसी सुख-सुविधा की कल्पना भी नहीं कर सकता। किसी देहाती मजदूर की संवेदनशीलता कितनी भी सजग और

५७. Communication defined as strict transference of or participation in identical experience does not occur...All that occurs is that, under certain conditions, separate minds have closely similar experiences.

—Principles, p. 176.

५८. Communication takes place when one mind so acts upon its environment that another mind is influenced, and in that other mind an experience occurs which is like the experience in the first mind, and is caused in part by that experience...The two experiences may be more or less similar and the second may be more or less dependent upon the first.

—Principles, p. 177.

तीव्र क्यों न हो, फ़ाइव-स्टार होटल के वैभव-विलास को हृदयंगम करना उसके लिए अशक्य है। इस तरह की विषम स्थितियों में अनुभूति की समानता स्थूल रूप में भी प्रायः अलभ्य है। संप्रेषण की सफलता के लिए असाधारण मात्रा में अनुभूति की समानता (exceptional fund of common experience) अपेक्षित है।

रिचर्ड्स जिसे संप्रेषण कहते हैं, वह भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण का ही एक रूप है। संप्रेषण-सिद्धांत की तुलना में साधारणीकरण का अधिक विशद और व्यापक विवेचन हमारे यहां उपलब्ध है।

संप्रेषण को रिचर्ड्स कलाकार की अचेतन (unconscious) प्रक्रिया मानते हैं। उनका कहना है कि कलाकृति के निर्माण के समय कलाकार संप्रेषण के लिए ज्ञानपूर्वक प्रयत्न नहीं करता। पूछने पर वह ऐसा उत्तर दे सकता है कि संप्रेषण अनपेक्षित या गौण प्रश्न है और जिस वस्तु का वह निर्माण कर रहा है, वह अपने-आप में सुंदर है अथवा उस (कलाकार) के लिए तुष्टिकर है अथवा उसके व्यक्तिगत भावों का व्यंजक है। दूसरे लोग भी उसका अध्ययन या उसकी अनुभूति करेंगे, यह बात उसे सर्वथा आकस्मिक और अनावश्यक प्रतीत हो सकती है किन्तु संप्रेषण की सचेत उपेक्षा से संप्रेषण का महत्त्व रंचमात्र भी कम नहीं होता। कलाकृति को 'ठीक' (right) बनाने की प्रक्रिया का अपरिमित संप्रेषणात्मक महत्त्व है। दूसरी चीज यह कि जितनी दूर तक कोई कलाकृति कलाकार की अनुभूति से मेल खाती है उतनी ही दूर तक वह दूसरों में तत्समान अनुभूति जगा पाती है।[५९]

यहां रिचर्ड्स दो बातें कह रहे हैं:

१. एक तो यह कि **संप्रेषण अचेतन प्रक्रिया** है। कलाकार या कवि संप्रेषण के प्रति सचेत-सजग नहीं रहता, उसे रहना भी नहीं चाहिए अन्यथा उसकी कृति निम्न कोटि की हो जाएगी।

२. कलाकार की **अनुभूति** और **कलाकृति में** जितना संवाद (मेल) होगा, उसी के अनुपात में उसकी संप्रेषण-क्षमता भी होगी।

दूसरी मान्यता में तो नहीं किन्तु पहली मान्यता में अनेक विप्रतिपत्तियां हैं।

संप्रेषण अचेतन प्रक्रिया है, यह कथन न तो कवि-परंपरा द्वारा समर्थित है और

५९. In the course of his work he is not as a rule deliberately and consciously engaged in a communicative endeavour. When asked, he is more likely than not to reply that communication is an irrelevant or at best a minor issue, that he is making is something which is beautiful in itself, or satisfying to him personally or expressive...of his emotions. That other people are going to study it and to receive experiences from it may seem to him merely accidental, inessential circumstance. But this conscious neglect of communication does not in the least diminish the importance of the communication aspect...The very process of getting the work 'right' has itself...immense communicative consequences...The degree to which it accords with the relevant experience of the artist is a measure of the degree to which it will arouse similar experiences in others.

—Principles; p. 26-27.

न रचना-प्रक्रिया की संकुलता (complexity) को देखते हुए संगत। काव्य में विषय-वस्तु के चयन से लेकर परिसमाप्ति तक चेतना सक्रिय रहती है। शब्द-प्रयोग या अलंकार-योजना में पग-पग पर सचेत चिंतन अपेक्षित होता है। किसी शब्द के बीसों पर्यायों में स्थल-विशेष पर कौन-सा पर्याय सर्वाधिक उपयुक्त है, यह निर्णय करना अचेतन प्रक्रिया का काम नहीं है; एक-एक पर्याय की अंतर्निहित अर्थच्छाया (nuance of meaning) को देखकर उसे स्वीकार या अस्वीकार करना पड़ता है। व्यंजकता के सूक्ष्मतम स्वारस्य का निर्धारण अचेतन प्रक्रिया से शक्य नहीं है। इसी तरह भाव को मूर्त रूप देने के लिए बिम्ब-विधान या अप्रस्तुत-योजना को अचेतन-सिद्ध मानना उसके पीछे विद्यमान कल्पना की सक्रियता को खंडित करना है। सचेत न रहने पर छंदोभंग हो जाना अदना-सी बात है। छेनी से आहिस्ता-आहिस्ता तराश कर जब मूर्तिकार निर्जीव पत्थर को सजीव, सलोनी मूर्ति में ढाल देता है तो क्या वह अचेतन व्यापार की निर्मिति होती है ? एक छेनी गलत पड़ जाए तो "विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्" वाली कहावत चरितार्थ हो जाए। चित्रकार द्वारा रंगों का चुनाव, रंगों का मिश्रण, कैन्वस पर किसी दृश्य या भाव का सावधान, संतुलित अंकन यदि अचेतन-सिद्ध है तो प्रतिभा के चमत्कार का अवकाश कहां माना जाए ?

रिचर्ड्स कलाकार के स्वांतःसुख या आत्मतृष्टि का प्रश्न उठाकर अचेतन प्रक्रिया का समर्थन करते हैं पर केवल स्वांतःसुख के लिए कोई कलाकार रचना में प्रवृत्त होता है क्या ? यदि कोई तुलसीदास के 'स्वांतःसुखाय' का उदाहरण दे तो वह बहुत युक्त नहीं होगा क्योंकि कुछ ही आगे "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" कहकर उन्होंने अपना उत्तर-पक्ष स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः 'स्वांतःसुखाय' परांतःसुखाय का विरोधी नहीं, बल्कि उस युग के संस्कृताग्रही पंडितों के आक्रमण का कवच है, 'भाषा-निबंध' पर नाक-भौं सिकोड़नेवालों का मुख-मुद्रण है। तुलसीदास जैसे लोकसंग्रही को 'स्वांतःसुखाय' का पोषक मानना काव्य और काव्यशास्त्र के प्रयोजन का विपर्यास होगा। कालिदास ने अपने को 'कवियशःप्रार्थी' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि काव्य केवल आत्म-विनोद का साधन नहीं है और उससे प्राप्त होनेवाला यश पाठकों की स्वीकृति तथा अनुमोदन का ही पुरस्कार है। वर्ड्सवर्थ ने साफ कहा है कि मेरी कविता पहली बार में तो अनगढ़ रहती है; दूसरी-तीसरी बार के संशोधन के बाद ही वह संतोषजनक होती है। दो-दो तीन-तीन बार का संशोधन अचेतन का काम नहीं हो सकता। इलियट तो यहां तक कहते हैं कि "संभवतः किसी कृति की रचना में लेखक के श्रम का अधिकांश आलोचनात्मक श्रम होता है। छांटने, मिलाने, बनाने, काटने, सुधारने, परखने का भयंकर श्रम जितना आलोचनात्मक है, उतना ही रचनात्मक।"[६०] अन्यत्र वे और भी साफ शब्दों में कहते हैं कि "काव्य लिखने में बहुत कुछ

६०. Probably, the larger part of the labour of an author in composing his work is critical labour; the labour of sifting, combining, constructing, expunging, correcting, testing : this frightful toil is as much critical as creative.
—Eliot, T.S., Selected Essays; p. 30.

ऐसा होता है कि जिसे सचेतन और सुविचारित होना ही है।"[६१] काव्य-प्रक्रिया की चर्चा के प्रसंग में नोबेल-पुरस्कार-विजेता कवि (इलियट) को प्रमाण माना जाय अथवा आलोचक (रिचर्ड्स) को ? तात्पर्य कि रिचर्ड्स का रचना-प्रक्रिया को अचेतन-सिद्ध कहना यथार्थ से दूर है।

रिचर्ड्स की इस मान्यता में स्व-वचन-विरोध भी है। इस बार तो वे कहते हैं कि "मनोविश्लेषक चाहे जो कहें, कवि की मानसिक प्रक्रियाएं अनुसंधान के लिए बहुत लाभप्रद क्षेत्र नहीं हैं"[६२] और दूसरी बार उसी सांस में यह भी कहते हैं कि संप्रेषण अचेतन मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है। यदि कवि की मानसिक प्रक्रियाओं का अनुसंधान लाभप्रद है ही नहीं, और उसकी ठीक जानकारी है ही नहीं, तो फिर यह कैसे पता लगा कि संप्रेषण अचेतन व्यापार है ?

कविता की परिभाषा (Definition of poetry)

'प्रिंसिपुल्स' के तीसवें अध्याय में कविता की परिभाषा का विचार है। जैसा हम पहले भी देख चुके हैं, रिचर्ड्स केवल अनुभूति को कविता मानते हैं; स्वभावतः कविता की परिभाषा भी वे अनुभूति के आधार पर ही करते हैं। वे यहां तक कहते हैं कि कविता जैसी कोई वस्तु होती है, यह मानना अंधविश्वास है। कहने का अभिप्राय यह कि जो केवल अनुभूति है, उसका वस्तुनिष्ठ अस्तित्व असंगत है। अतएव कविता की परिभाषा में अनुभूति के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व का समावेश युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु अनुभूति के आधार पर भी कविता की परिभाषा करना आसान नहीं है। अनुभूति को कविता कहने पर कुछ प्रश्न अनायास उठ खड़े होते हैं, जैसे किसकी अनुभूति ? कैसी अनुभूति ? आदि। 'किसकी अनुभूति' के उत्तर में रिचर्ड्स चार विकल्प प्रस्तुत करते हैं :[६३]

१. कलाकार की अनुभूति का वह अंश जो प्रासंगिक हो।
२. योग्य पाठक की अनुभूति जिसने कोई भूल नहीं की हो।
३. आदर्श तथा परिपूर्ण (perfect) पाठक की संभावित अनुभूति।
४. हमारी अपनी वास्तविक अनुभूति।

स्पष्टता और सुबोधता के लिए इसे यों प्रस्तुत कर सकते हैं :

(१) कलाकार की अनुभूति।

६१. There is a great deal, in the writing of poetry, which must be conscious and deliberate,
—Eliot, T.S., The Sacred Wood, p. 58.

६२. Whatever the psycho-analysts may over, the mental processes of the poet are not a very profitable field for investigation. —Principles, p. 30.

६३. We may be talking about the artist's experience, such of it as is relevant, or about the experience of a qualified reader who made no mistakes, or about an ideal and perfect reader's possible experience, or about our own actual experience. —Principles, p. 325

(२) योग्य पाठक की अनुभूति।
(३) आदर्श तथा परिपूर्ण पाठक की अनुभूति।
(४) हमारी अपनी अनुभूति।

कलाकार की अनुभूति को कविता कहना वास्तविकता और परंपरा दोनों से असिद्ध है। रिचर्ड्स से भी यह कठिनाई छिपी नहीं है—"यह परिभाषा नहीं टिक सकती क्योंकि कलाकार को छोड़कर और किसी को वह अनुभुति नहीं होती।"[६४] शेष तीनों विकल्पों का संबंध पाठक से है। पाठक की तीन कोटियां कल्पित हैं : योग्य पाठक, आदर्श तथा परिपूर्ण पाठक और स्वयं हम। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तीनों विकल्प परस्पर-संकीर्ण (overlapping) हैं। सबसे पहला प्रश्न तो यह है कि 'योग्य पाठक' में 'योग्य' की पहचान क्या है अर्थात् योग्य किसे कहेंगे ? फिर, 'आदर्श तथा परिपूर्ण पाठक' और 'योग्य' पाठक में क्या अंतर है ? सच्ची बात तो यह है कि कोई भी पाठक सर्वथा आदर्श तथा परिपूर्ण नहीं हो सकता। आलोचक ही इस कोटि में आने का अधिकारी है पर आज तक कोई ऐसा आलोचक हुआ भी क्या जिससे दूसरे असहमत नहीं हुए ? ऐसी स्थिति में उसे आदर्श तथा परिपूर्ण कैसे कहेंगे ? तीसरी कोटि में हम, आप, रिचर्ड्स आदि आते हैं। हम 'योग्य पाठक' क्यों नहीं माने जा सकते ? यदि हम 'योग्य' नहीं हैं तो योग्य है कौन ? इसलिए इन दोनों विकल्पों में कोई स्पष्ट भेद नहीं है। सूक्ष्मता से देखने पर प्रथम और द्वितीय कोटियों में भी भेद नहीं है। "योग्य पाठक जिसने कोई भूल नहीं की हो।" योग्य वह है ही, और भूल उसने कोई की ही नहीं। तब उसे 'आदर्श और परिपूर्ण पाठक' क्यों नहीं माना जा सकता ? आदर्श और परिपूर्ण वही तो है जिससे कोई भूल न हो। तात्पर्य कि पाठकों की तीन कोटियां की कल्पना निस्सार है। काव्यानुभूति के विचार के प्रसंग में शिक्षित, सहृदय, सुरुचिसंपन्न पाठक ही तो योग्य, आदर्श या परिपूर्ण माने जाएंगे। अतः उन्हें पृथक्-पृथक् रखने की कोई सार्थकता नहीं है। पाठकों के इस त्रिविध विकल्प के संबंध में रिचर्ड्स अंतिम रूप से कुछ नहीं कहते। रिचर्ड्स की मान्यता है कि कविता कोई एक अनुभूति नहीं है बल्कि अल्पाधिक समान अनुभूतियों का एक वर्ग है।[६५] उन्होंने वर्ड्सवर्थ की 'वेस्टमिंस्टर ब्रिज' शीर्षक कविता का उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रिचर्ड्स कहते हैं कि 'वेस्टमिंस्टर ब्रिज' लिखते समय वर्ड्सवर्थ के मन की जो वास्तविक अनुभूति थी अर्थात् जिससे प्रेरित होकर उन्होंने यह कविता लिखी, उससे मिलती-जुलती पाठकों की अनुभूतियों का वर्ग ही 'वेस्टमिंस्टर ब्रिज' कविता है।

पहले तो रिचर्ड्स कवि की अनुभूति को कविता मानने से इन्कार करते हैं और बाद में कवि की अनुभूति को ही मानक मानकर उससे मिलती-जुलती पाठक की अनुभूतियों को कविता कहते हैं, यह परस्पर-विरुद्ध है। इस प्रसंग में कुछ बातें ध्यान देने लायक हैं।

६४. But it will not do as it stands since no body but the artist has that experience. —Principles; p. 326

६५. We cannot take any single experience as the poem : we must have a class of more or less similar experiences instead. —Principles; p. 326

एक तो यह कि कवि की अनुभूति का पूर्ण संप्रेषण नहीं हो पाता क्योंकि अनुभूति और अभिव्यंजना का अंतर अनिवार्य है। सिर या पेट के दर्द जैसी साधारण अनुभूति का भी यथावत् संप्रेषण संभव नहीं होता। फिर, कवि की सूक्ष्मतर, जटिलतर अनुभूति या अनुभूतियों का यथावत् संप्रेषण कैसे संभव है? तात्पर्य कि संप्रेषण सदा आंशिक और अपूर्ण हुआ करता है। दूसरी बात यह कि कवि की अनुभूति का जितना संप्रेषण होता है, उसका भी ज्यों-का-त्यों ग्रहण पाठक के लिए अशक्य है क्योंकि कवि और पाठक की अनुभूतियों में ऐकरूप्य स्थापित करने का कोई साधन नहीं है। दोनों में कुछ-न-कुछ भेद होगा ही। तीसरी बात यह कि पाठकों की अनुभूतियों में भी परस्पर भेद अपरिहार्य है। एक ही कविता को अनेक पाठक पढ़ते हैं किंतु उनकी प्रतिक्रिया एक जैसी नहीं होती। व्यक्तिगत शक्ति, रुढ़ि, शिक्षा, सहृदयता, संस्कार, परिवेश आदि की भिन्नता से प्रत्येक पाठक की अनुभूति भिन्न हुआ करती है; फलतः उसकी प्रतिक्रिया भी भिन्न हो जाती है। सच तो यह है कि किन्हीं दो पाठकों की अनुभूतियां और तज्जन्य प्रतिक्रियाएं बिलकुल एक नहीं होतीं। जितने पाठक, उतनी अनुभूतियों की अनंतता के कारण, कविता की भी अनंत परिभाषाएं माननी पड़ेंगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए रिचर्ड्स का सुझाव है कि कवि की अनुभूति से थोड़ा इधर-उधर हटकर भी उससे मिलती-जुलती अनुभूतियों के वर्ग को कविता कहेंगे और इस अनुभूति-वर्ग में से किसी को यदि एक भी अनुभूति होती है तो कहा जाएगा कि उसने वह कविता पढ़ी है।[६६] ऐसी अनुभूति के लिए जरूरी है कि कविता के शब्दों का पाठ लय और धुन के घनिष्ठ संवाद के साथ हो।

इस वक्तव्य के बाद रिचर्ड्स कविता को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करते-हैं: "कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है, जो मानक अनुभूति से, प्रत्येक विशेषता में भिन्न होती हुई भी, किसी विशेषता में एक खास मात्रा से अधिक भिन्न नहीं होती।"[६७]

इस परिभाषा को रिचर्डस ने स्वयं विलक्षण (odd) तथा जटिल (complicated) कहकर दूसरों का भार हलका कर दिया है; फिर भी उन्होंने इसे व्यावहारिक (workable) परिभाषा माना है। इसकी व्यावहारिकता का एक प्रमाण तो यही है कि 'प्रिंसिपुल्स' के अलावा यह परिभाषा और कहीं भी उद्धृत नहीं हुई और हुई भी तो केवल खंडन के लिए।

काव्य या कविता को केवल अनुभूति कहना उसके स्वरूप का ऐसा अपलाप है जिसका समर्थन अत्यंत दुष्कर है। कविता को अनुभूतिमात्र मान लेने पर उसके उत्कर्षापकर्ष के निर्णय का आधार क्या होगा? कविता की उत्तमता का प्रमाण तो पाठक की रुचि-अरुचि, पसंदगी-नापसंदगी ही रह गयी! जो मुझे अच्छी लगी वह अच्छी, जो

६६. Then any one who has had one of the experiences comprised in the class can be said to have read the poem.
—Principles, p. 326

६७. It is the only workable way of defining a poem, namely as a class of experiences which do not differ in any character more than a certain amount, varying for each character, from a standard experience.
—Principles, p. 326-27

अच्छी नहीं लगी वह बुरी ! क्या यह विषयिनिष्ठता (subjectivity) का अतिरेक नहीं है ? कविता का मूल्य कविता के बदले पाठक की प्रतिक्रिया में आ जाने से उसका समग्र संरचनात्मक कौशल निरर्थक हो जाता है, इसका संकेत मूल्य के प्रकरण में हो चुका है।

काव्य-भाषा

रिचर्ड्स ने भाषा के दो रूप माने हैं: वैज्ञानिक (scientific) और रागात्मक (emotive)।[६८] वैज्ञानिक (scientific) के लिए वे कई अन्य पर्यायों का भी प्रयोग करते हैं; जैसे प्रतीकात्मक (symbolic), निर्देशात्मक (referential), सूचनात्मक (informative) आदि। भाषा का यह द्विविध भेद ऑग्डेन के सह-लेखकत्व में लिखित 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' नामक पुस्तक में पहली बार सामने आया। वहां scientific के बदले symbolic शब्द प्रयुक्त हुआ है।

वैज्ञानिक तथा रागात्मक भाषा में रिचर्ड्स के अनुसार निम्नलिखित अंतर हैं :

१. वैज्ञानिक (scientific) भाषा में निरूपण, संसूचन या निर्देशन अभिमत होता है जबकि रागात्मक (emotive) भाषा में भाव का उद्बोधन। अतः एक में भाषा सीधी, सपाट होती है, दूसरी में रमणीयता-संपन्न। प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य भामह ने भी भाषा के दो भेद किये हैं जो रिचर्ड्स के भेद से मिलते-जुलते हैं। वे वैज्ञानिक या निर्देशात्मक भाषा को 'वार्ता' कहते हैं और रागात्मक भाषा को 'वक्रता'।[६९] भामह के अनुसार वार्ता के उदाहरण हैं : सूर्य अस्त हो गया; चंद्रमा चमकने लगा; पक्षी घोंसलों में जा रहे हैं; आदि वाक्य, क्योंकि ये सूचनात्मक हैं, इनमें वक्रता का योग नहीं है। किंतु इन्हीं का निम्नलिखित वर्णन काव्य है क्योंकि इसमें भाव के उद्बोधन की क्षमता है :

अंतरिक्ष में आकुल आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़,
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला।—बच्चन

२. यदि तथ्य के निरूपण या निर्देशन में अंतर पड़ता है तो यह वैज्ञानिक भाषा की असफलता है क्योंकि वैज्ञानिक भाषा का लक्ष्य है तथ्य को यथावत् प्रस्तुत करना; उसमें कुछ जोड़ना, घटाना या कल्पना से काम लेना उचित नहीं है। किंतु रागात्मक भाषा में तथ्य-विषयक बड़े से बड़े भेद या असंगति का भी विशेष महत्त्व नहीं है यदि उससे भाव उद्बुद्ध हो रहा हो। उसमें इतना ही देखना है कि भाव या मनोवृत्ति पर

६८. A statement may be used for the sake of the reference, true or false, which it causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotion and attitude produced by the reference it occasions. This is the emotive use of language.
—Principles, p. 267.

६९. गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ —काव्यालंकार, २/८७

प्रभाव पड़ता है या नहीं।[७०] तात्पर्य कि रागात्मक भाषा में तथ्य-अतथ्य का प्रश्न नितांत गौण है। असत्य होने पर भी यदि कोई उक्ति भाव जागृत करने में समर्थ है तो वह सफल कही जाएगी। उदाहरणार्थ—

फूली चंपक बेलि ते झरत चमेली फूल।

यह उक्ति वनस्पतिविज्ञान की दृष्टि से असत्य है। चंपा की लता से चमेली के फूल कैसे झड़ सकते हैं? पर कवि को ऐसा कहने में कोई हिचक नहीं है कारण कि उसका उद्देश्य तथ्य-निरूपण नहीं, भावोद्दीपन है। इस कथन के द्वारा वह नायिका की चंपकवर्ण देह-यष्टि और निरंतर प्रस्फुटित शुभ्र हास का चित्र प्रस्तुत कर श्रोता के मन में नायिका के प्रति अनुराग जगाना चाहता है। अतः वनस्पतिविज्ञान में यह वर्णन भले ही असत्य या असंगत प्रतीत हो, काव्यशास्त्र में बिलकुल संगत तथा युक्त है। प्रायः सभी कवि-समयख्यातियां कल्पना-प्रसूत एवं वितथ हैं, फिर भी कवि-समुदाय में पूर्णतः स्वीकृत तथा प्रचलित हैं। नायिका के पद-प्रहार से अशोक और मुख-मदिरा के सेक से वकुल पुष्पित हो उठता है! रमणियों के कटाक्ष से या वियोग-वह्नि के ताप से युवकों का हृदय विदीर्ण हो जाता है! कामदेव फूलों के धनुष-बाण से सारे संसार को वश में कर लेता है! घनानंद कहते हैं कि पवन से आग जगती है, यह सुना था पर पानी से आग लगती है, यह आज प्रत्यक्ष देख लिया :

पौन सों जागत आग सुनी ही पै
पानी सों लागत आज मैं देखी।

इसे विज्ञान-विरुद्ध या लोक-विरुद्ध घोषित करना काव्य-जगत् से अपरिचय प्रदर्शित करना है। इस रागात्मक भाषा (चमत्कारपूर्ण उक्ति) की सहायता से कवि विरह की तीव्रता अभिव्यक्त करना चाहता है; पानी से आग लग रही है अर्थात् आंसुओं से विरहाग्नि प्रदीप्त हो रही है।

३. भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग की सफलता के लिए निर्देशों (references) का सही होना ही काफी नहीं है, उनका परस्पर संबंधन (relation) और संयोजन (connection) भी तर्क-संगत होना चाहिए। यह जरूरी है कि वे एक-दूसरे के बाधक न हों। साथ ही इस प्रकार संघटित हों कि आगे के निर्देशों (references) में अवरोध न आने पाए। किंतु रागात्मक भाषा के लिए तर्कसंगत या यौक्तिक विन्यास अपेक्षित नहीं है। बल्कि वह बाधक भी बन सकता है; कभी-कभी बनता भी है। अतः महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निर्देशों से उत्पन्न मनोवृत्तियों का उचित संघटन एवं भावात्मक अंतःसंबंधन (inter-connection) हो; यह चीज निर्देशों के तर्कसंगत संबंधों पर प्रायः निर्भर नहीं किया करती। तात्पर्य कि वैज्ञानिक भाषा में निर्देश सही भी होने चाहिए और तर्कसंगत

७०. For scientific language a difference in the references is itself a failure: the end has not been attained. But for emotive language the widest differences in references are of no importance if the further effects in attitude and emotion are of the required kind. —Principles; p. 268.

ढंग से संबद्ध भी; रागात्मक भाषा में इन दोनों के बिना भी कोई हानि नहीं है।[७१] जैसे

है वहुत बरसी धरित्री पर अमृत की धार;
पर नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार।—दिनकर

इन पंक्तियों में शब्द-विन्यास यौक्तिक नहीं है। होना चाहिए—"अमृत की धार धरित्री पर बहुत बरसी है पर अब तक संसार सुशीतल नहीं हो सका।" शब्दों के इस क्रम-भंग से कविता में कोई क्षति नहीं हुई है, बल्कि इससे लय और छंद की जो निष्पत्ति हुई है उससे ये पंक्तियां अधिक प्रभावी बन गयी हैं। इसके प्रतिकूल तथ्य-निरूपक (वैज्ञानिक) भाषा में यदि क्रमभंग हो जाए तो अर्थ की स्पष्टता भी बाधित हो जाती है। उदाहरणार्थ, "है जाता काम लिया भावाभिव्यंजन का जिनसे कराती है बोध उन सभी माध्यमों का सामान्य रूप से भाषा।" इसका यौक्तिक क्रम होगा—"सामान्य रूप से भाषा उन सभी माध्यमों का बोध कराती है जिनसे भावाभिव्यंजन का काम लिया जाता है।"

रिचर्ड्स ने वैज्ञानिक और रागात्मक भाषा के जो उपर्युक्त अंतर प्रदर्शित किये हैं उनमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है किंतु ये द्विविध भेद काल्पनिक हैं। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, वास्तविक दृष्टि से भी भाषा एक ही होती है; सामान्य भाषा से न तो रागात्मक भाषा का शब्द-भंडार भिन्न होता है और न व्याकरण। रिचर्ड्स स्वयं कहते हैं कि "शब्दों में कोई अंतर्निहित साहित्यिक विशेषता नहीं होती। कोई शब्द अपने-आपमें न तो असुंदर होता है, न सुंदर; न अनाह्लादक, न आह्लादक।"[७२] इससे स्पष्ट है कि रागात्मक भाषा स्वतःसिद्ध नहीं होती, उसकी सिद्धि के लिए सामान्य भाषा में ही कुछ भंगी-भेद करना पड़ता है, कुछ साधन काम में लाने पड़ते हैं, जिनसे समन्वित होने पर भाषा में रागात्मकता आती है। रिचर्ड्स ने उन साधनों की चर्चा किये बिना रागात्मक भाषा को सिद्ध मान लिया है जो ठीक नहीं है। उन्होंने जो चर्चा की भी है वह "दि मीनिंग आफ़ मीनिंग' के अंतिम अध्याय में किंतु एक तो वह अपर्याप्त है; दूसरे, 'प्रिंसिपुल्स' के अध्येता के लिए सुलभ भी नहीं है। साहित्यालोचन पर लिखित प्रस्तुत ग्रंथ (प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म) में इस विषय का स्वतंत्र विवेचन अपेक्षित था।

'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' में रागात्मक भाषा के संबंध में रिचर्ड्स ने जो कुछ कहा है, उसका सारांश निम्नलिखित है: भाषा में रागात्मक तत्त्व की उत्पत्ति का पहला साधन शब्द-विन्यास है। शब्द साक्षात् ध्वनि के रूप में, साथ ही 'साहचर्य' (association) आदि अन्य गौण रूपों में भी भाव को जगाते हैं। शब्दों के ध्वनि-गुणों (sound qualities) का साक्षात् (direct) प्रभाव तो कम ही पड़ता है किंतु लय और तुक से जो संचित (cumulative) और सम्मोहक (hypnotic) प्रभाव उत्पन्न होता है, वह

७१. Principles, p. 268
७२. Words have no intrinsic literary characters. None are either ugly or beautiful, intrinsically displeasing or delightful. —Principles; p. 136

अधिक महत्त्वपूर्ण है।[७३] तात्पर्य कि शब्द-विन्यास, लय (rhythm) और तुक (rhyme) भाषा को रागात्मक बनाने के साधन हैं। परोक्ष (indirect) साधनों में रिचर्ड्स बिंब-विधान (imagery), लक्षणा (metaphor) आदि का उल्लेख करते हैं। स्पष्ट है कि रिचर्ड्स की दृष्टि में शब्द (sound) से उत्पन्न होने वाले प्रभाव रागात्मक भाषा के साक्षात् (direct) साधन हैं और अर्थ (लक्षणा आदि) से उत्पन्न होने वाले प्रभाव परोक्ष (indirect) साधन हैं। आचार्य भामह (७वीं शताब्दी ई०) ने भी अपने से पूर्ववर्ती दो मतों का उल्लेख किया है जिनमें एक मत शब्द को ही काव्य का प्रधान तत्त्व मानता था और अर्थ को गौणतत्त्व।[७४] रिचर्ड्स का उपर्युक्त मंतव्य उससे बहुत कुछ मिलता है।

रिचर्ड्स की अर्थ-संबंधी मीमांसा मुख्यत: 'दि मीनिंग ऑफ़ मीनिंग' नामक ग्रंथ में है। उसकी संक्षिप्त चर्चा 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में भी है। संभवत: इसीलिए 'प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में अर्थ का विचार अत्यल्प है। 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में जो अर्थ-विषयक विचार है, वह काव्यालोचन की पृष्ठभूमि के रूप में क्योंकि जब तक अर्थ का बोध न हो ले तब तक काव्य का आस्वाद संभव नहीं और बोध तथा आस्वाद के अभाव में आलोचना असंभव है। रिचर्ड्स स्वयं कहते हैं कि "समस्त अध्ययन की मौलिक कठिनाई अर्थबोध की समस्या है जो हमारा प्रस्थान-बिंदु है। अर्थ क्या है? जब हम अर्थ तक पहुंचने का प्रयास करते हैं तब वस्तुत: क्या करते हैं? वह कौनसी चीज है जिसे हम समझते हैं?—इन सरल प्रतीत होनेवाले प्रश्नों के उत्तर आलोचना-संबंधी सभी समस्याओं की प्रधान कुंजियां हैं।"[७५]

"साहित्य के अथवा संप्रेषण की किसी अन्य पद्धति के अध्ययन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अर्थ के अनेक प्रकार होते हैं। चाहे हम वक्ता या लेखक के रूप में सक्रिय हों चाहे श्रोता या पाठक के रूप में निष्क्रिय हों; जिस संपूर्ण अर्थ को हम ग्रहण करते हैं, वह प्राय: सदा विभिन्न प्रकार के अनेक सहायक अर्थों का मिश्रण हुआ करता है। भाषा को, विशेषत: काव्य में प्रयुक्त भाषा को, एक नहीं बल्कि अनेक कार्य करने पड़ते हैं और जब तक यह बात हम ठीक से नहीं समझते तब तक आलोचना की बहुत सारी कठिनाइयों के बारे में हमारी धारणा भ्रांत हो सकती है। हमारे प्रयोजन के लिए अर्थ का चार प्रकार्यों (functions), चार प्रकारों (kinds) में विभाजन पर्याप्त होगा।"[७६]

अर्थ के ये चार प्रकार्य या प्रकार हैं: **मुख्यार्थ** (sense), **भावना** (feeling); **वचन-भंगी** (tone) और **उद्देश्य** (intention)।

१. मुख्यार्थ (sense): हम जब भी बोलते हैं तो कुछ कहने के लिए और सुनते हैं तो इस आशा से कि कुछ कहा जाएगा। हम शब्दों का प्रयोग तीन बातों के लिए करते

७३. The Meaning of Meaning, p. 236.
७४. काव्यालंकार, भामह, १/१४
७५. Pratical Criticism p. 180.
७६. Practical Criticism, p. 190-91.

हैं : (क) श्रोता का ध्यान किसी कार्य की ओर आकृष्ट करने के लिए; (ख) श्रोता के विचारार्थ कोई विषय प्रस्तुत करने के लिए और (ग) इन विषयों के संबंध में कुछ विचार जागृत करने के लिए। तात्पर्य कि किसी कार्य या विचार का उपस्थापन मुख्यार्थ है।

२. भावना (feeling) : इन कार्यों या विषयों के संबंध में हमारी कुछ भावनाएं भी होती हैं; उन भावनाओं को अभिवृत्ति (attitude), पक्षपात (bias), निर्देशन (direction), अभिरुचि (interest), चाहे जो कह लें। तो भाषा का प्रयोग इन भावनाओं, अभिवृत्तियों या अभिरुचियों को अभिव्यक्त करने के लिए होता है। बोलने के समान सुनने के समय भी यह प्रक्रिया काम करती रहती है अर्थात् कुछ सुनते समय श्रोता के मन में भी भावनाएं उठती रहती हैं। निष्कर्ष यह कि वस्तुनिर्देश के साथ भावना का अंश भी मिला होता है; भावना से सर्वथा रहित वस्तुनिर्देश शायद ही कभी होता हो। इसलिए अर्थ-विचार में भावना का भी योग अपरिहार्य है।

३. वचन-भंगी (tone) : जिस तरह वस्तु, विषय या कथ्य के साथ कुछ-न-कुछ हमारी भावना भी मिली होती है, उसी तरह श्रोता के प्रति भी हमारी अभिवृत्ति (attitude) हुआ करती है। उदाहरणार्थ, श्रोता के अनुसार ही हम शब्दों का चयन या विन्यास करते हैं। बच्चे को कुछ कहते समय हमारी भाषा वही नहीं होती जो किसी विशिष्ट विद्वन्मंडली में भाषण करते समय होती है। गुरुजन और समवयस्क के साथ हम एक ही तरह से बात नहीं करते। मतलब कि श्रोता के साथ अपने संबंध को ध्यान में रखकर ही हम कुछ कहते हैं और उससे हमारी वचन-भंगी में अंतर आता है।

४. उद्देश्य (intention) : अंततः भाषा के प्रयोग में जाने-अनजाने वक्ता का उद्देश्य या प्रयोजन भी रहता है। चूंकि हम जो कुछ कहते हैं, वह किसी-न-किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ही, इसलिए हमारे उद्देश्य से भी हमारी भाषा नियंत्रित होती है।

तो चार चीजें हुई : हमारा कथ्य; कथ्य के प्रति हमारी भावना; श्रोता के प्रति हमारी अभिवृत्ति और कथन के पीछे हमारा उद्देश्य। प्रकरण के अनुसार इन चारों की मात्रा में अंतर हुआ करता है; जैसे, विज्ञान में मुख्यार्थ प्रधान होता है किंतु काव्य में भावना या अभिवृत्ति प्रधान हो जाती है। जहां भावना की प्रधानता होगी वहां भाषा स्वभावतः रागात्मक हो जाएगी।

लय और छंद (Rhythm and Metre)

"लय और उसका विशिष्ट रूप छंद आवृत्ति (repetition) और आकांक्षा (expectancy) पर निर्भर करते हैं। लय और छंद से संबद्ध सभी प्रभाव प्रत्याशा (anticipation) से उत्पन्न होते हैं। नियमतः यह प्रत्याशा अचेतन हुआ करती है। ध्वनि (sound) और वाग्-गति (speech-movement) के बिंबों के रूप में, अक्षरों के अनुक्रम, मन को आगे के कुछ खास अनुक्रमों के लिए तैयार कर देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप हमारा क्षणिक संघटन संभावित अनुक्रियाओं (stimuli) के समूह में से

किसी एक के ही अनुकूल बन जाता है।"[७७]

रिचर्ड्स के उपर्युक्त मंतव्य की व्याख्या अपेक्षित है। पहले लय को लें। १. लय के लिए दो चीजे आवश्यक हैं: आवृत्ति (repetition) और आकांक्षा (expectancy)। वस्तुतः इन दोनों के मेल से ही लय का निर्माण होता है। लय का क्षेत्र केवल कला ही नहीं, बल्कि जीवन और जगत् भी है। उदाहरणार्थ, हमारे श्वास-प्रश्वास की क्रिया लय से बंधी हुई है। श्वास-प्रश्वास दोनों में आवृत्ति है; एक ही बार श्वास लेकर हम रुक नहीं जाते बल्कि बार-बार श्वास लेते रहते हैं और प्रत्येक श्वास के बाद दूसरे श्वास की आकांक्षा बनी रहती है। यह भी स्मरणीय है कि श्वास की गति बहुत नियमित होती है; एक श्वास के बाद दूसरा श्वास कभी दो सेकंड बाद और कभी दो मिनट बाद नहीं लिया जाता। घड़ी की टिकटिक की तरह वह समान अंतराल पर चलता रहता है। एक दूसरा उदाहरण लें। भीड़ में हर आदमी अपनी चाल से चलता है, उसमें न कोई सिलसिला होता है, न कोई ढंग। इसीलिए पचास हजार आदमियों की भीड़ में भी कोई आकर्षण नहीं होता। इसके प्रतिकूल पचास आदमियों की भी परेड दर्शकों की दृष्टि खींच लेती है कारण कि उसमें आवृत्ति के साथ आकांक्षा है और अनुक्रम है। परेड में शामिल सभी आदमियों के पैर एक बार उठकर रुक नहीं जाते; पैरों के उठने और गिरने की लगातार आवृत्ति होतीं रहती है। प्रत्येक आवृत्ति के बाद दूसरी आवृत्ति की आकांक्षा बनी रहती है; एक बार के बाद दुबारे, तिबारे पैर उठेंगे-गिरेंगे, यह प्रत्याशा (anticipation) ही आकांक्षा (expectancy) है। २. प्रत्याशा और आकांक्षा का क्रम मन के भीतर अचेतन रूप में अपने-आप चलता रहता है अर्थात् इसके लिए हम कोई प्रयास नहीं करते। मन की सहज वृत्ति आगे आनेवाली ध्वनियों और अक्षरों की प्रत्याशा तथा आकांक्षा किया करती है। ३. अक्षरों के अनुक्रम (sequences of syllables) दो तरह से संभव हैं: शुद्ध ध्वनि के रूप में तथा वाक्-गति के बिंब के रूप में (as sounds and as images of speech-movements)। दोनों ही स्थितियों में अक्षरों के एक विशेष प्रकार के अनुक्रमों की प्रत्याशा रहती है अर्थात् इसके बाद ऐसे अक्षर आने चाहिए। ४. हमारे मन का क्षणिक संघटन (क्षणिक इसलिए कि अक्षरों का अनुक्रम गतिशील रहता है) कतिपय संभावित अनुक्रियाओं के समूह में से किसी एक ही अनुक्रिया के लिए तैयार होता है। अक्षरों के अनुक्रम के श्रवण-गोचर होने पर मन की अनुक्रियाओं (responses) का क्षेत्र विस्तृत हो सकता है अर्थात् अनुक्रियाएं अनेकशः घटित हो सकती हैं किंतु हमारा मन उनमें से किसी एक ही अनुक्रिया को तत्काल स्वीकार करता है और शेष को छोड़ देता है। ५. किसी अनुक्रम के उत्तरवर्ती अनुक्रम का प्रभाव बहुत अंतरंगता से हमारे अचेतन उपक्रम पर निर्भर करता है, तात्पर्य

७७ Rhythm and its specialised form, metre, depend upon repetition and expectancy...all rhythmical and metrical effects spring from anticipation. As a rule this anticipation is unconscious. Sequences of syllables both as sounds and images of speech-movement leave the mind ready for certain further sequences rather than for others.. —Principles, p. 134.

कि एक अनुक्रम के बाद दूसरे अनुक्रम का प्रभाव हमारे अचेतन उपक्रम से संबद्ध है।

स्मरण रखना चाहिए कि लय (rhythm) के विषय में रिचर्ड्स ने यहां जो कुछ कहा है वह छंद (metre) पर भी लागू है क्योंकि छंद लय का ही एक विशिष्ट रूप है। लय अपेक्षाकृत उन्मुक्त होता है और छंद मात्राओं या अक्षरों की संख्या अथवा स्थान से बद्ध।

रिचर्ड्स का कहना है कि किसी शब्द या ध्वनि का कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं होता। सचाई यह है कि शब्दों का कोई अंतर्निहित साहित्यिक वैशिष्ट्य होता ही नहीं। कोई शब्द अपने-आप में न तो असुंदर होता है, न सुंदर; न अनाह्लादक, न आह्लादक। प्रत्येक शब्द के अनेक प्रभाव हो सकते हैं जो इस बात पर निर्भर करते हैं कि वह किन स्थितियों में प्रयुक्त हुआ है,[७८] अर्थात् उसके आगे-पीछे कौनसे शब्द हैं, इसका कहां, कैसे विन्यास हुआ है।

शब्द की स्थिति कहां है, इसके साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि काव्य के पाठक की मनःस्थिति कैसी है क्योंकि उसके आंतरिक भाव के अनुसार शब्द की ध्वनि के प्रभाव में अंतर पड़ता है। यदि मन आह्लादित है तो ध्वनि में आह्लाद की प्रतीति होगी और खिन्न है तो खेद की प्रतीति होगी। ध्वनि का प्रभाव भाव के अनुसार ही नहीं, बल्कि अर्थ के अनुसार भी परिवर्तित होता है।[७९] अर्थ के अंतर्गत रिचर्ड्स पूरे प्रकरण को रखते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि प्रकरण के ज्ञान के बिना शब्द का अर्थ नहीं हो सकता। व्याकरणिक नियम, प्रतीति-पर्यवसान की अपेक्षा (necessity of completing the thought), पाठक की कथ्य-विषयक जिज्ञासा, वक्ता का उद्देश्य, मनःस्थिति आदि सभी अर्थ के निर्णायक हेतु हैं। इसलिए केवल ध्वनि में उन गुणों की स्थिति कैसे मान ली जाए जिसका संबंध इतनी सारी चीजों से है? इसका मतलब यह नहीं कि ध्वनि का प्रभाव नगण्य है; बहुत बार तो काव्य का सारा प्रभाव उसी पर निर्भर करता है।

रिचर्ड्स के अनुसार, "अक्षरों के अनुक्रम से जन्य आकांक्षाओं, संतुष्टियों, निराशाओं तथा विस्मयों का ग्रथन (texture) लय है।"[८०] इस परिभाषा में अक्षरों के अनुक्रम से आकांक्षा, संतुष्टि, निराशा और विस्मय की उत्पत्ति की बात कही गयी है। निराशा और विस्मय का तब तक प्रश्न ही नहीं उठता जब तक आकांक्षा न हो; जब आकांक्षा होगी तभी उसकी पूर्ति नहीं होने पर निराशा होगी और पूर्ति से संतुष्टि या

७८. There is, of course, no such thing as the effect of a word or a sound. There is no one effect which belongs to it. Words have no intrinsic characters. None are either ugly or beautiful, intrinsically displeasing or delightful. Every word has instead a range of possible effects varying with the conditions into which it comes. —Principles, p. 136.

७९. The way in which the sound of a word is taken varies with the emotion already in being. But, further, it varies with the sense. —Principles, p. 137

८०. This texture of expectations, satisfactions, disappointments, surprisals, which the sequence of syllables brings about, is rhythm. —Principles, p. 137.

बहुत अच्छी पूर्ति से विस्मय हो सकता है। शब्दों और ध्वनियों की आकांक्षा, संतुष्टि, निराशा और विस्मय का जो चक्र है, उसी से लय की उत्पत्ति होती है।

लय की यह परिभाषा केवल काव्य पर ही लागू नहीं है, बल्कि चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला पर भी लागू है। अनुक्रम की बात पहले भी बारबार कही गयी है। उससे यह न समझना चाहिए कि लय के लिए कालिक अनुक्रम (temporal sequence) अनिवार्य है। कालिक अनुक्रम काव्य, संगीत या नृत्य में ही अपरिहार्य है; चित्र, मूर्ति या भवन में लय की स्थिति क्रमिक (successive) न होकर युगपत् (simultaneous) ही होती है क्योंकि उसमें गति नहीं होती। क्रमिकता गति में ही संभव है, स्थिरता में नहीं। काव्य और संगीत में केवल ध्वनि गतिशील होती है; नृत्य में ध्वनि के साथ सारे अंग भी गतिशील हो जाते हैं। अतः वहां अनुक्रम स्वाभाविक है किंतु चित्र, मूर्ति या भवन जैसी स्थिर वस्तुओं में गति है ही नहीं, इसलिए अनुक्रम भी नहीं है। फिर भी उनमें लय होती है जिसका आधार अनुक्रम के बदले सामंजस्य है।

अब छंद को लें। रिचर्ड्स छंद (metre) को "कालिक लयात्मक अनुक्रम का जटिलतर तथा विशिष्टतर रूप" (more complex and more specialised form of temporal rhythmic sequence) कहते हैं। छंद ऐसा साधन है जिसके द्वारा शब्द एक-दूसरे को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। छंदयुक्त पाठ में आकांक्षा की संकीर्णता तथा निश्चितता (narrowness and definiteness of expectancy) बहुत बढ़ जाती है और यदि तुक का भी प्रयोग हो तो आकांक्षा सुनिश्चित-प्राय हो जाती है। कवि-सम्मेलनों या मुशायरों में जब कवि कविता-पाठ करते होते हैं तो हम देखते हैं कि उनके आधा वाक्य पढ़ते-पढ़ते श्रोता वाक्य का शेषांश स्वयं पूरा करके 'वाह-वाह' करने लगते हैं। एक गजल के निम्नलिखित दो शेर मुलाहज़ा फ़रमाएं :

दिले-नादां तुझे हुआ क्या है ?
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है ?
हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद,
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है।

शायर के मुंह से "दिले नादां तुझे हुआ क्या है; आखिर इस दर्द की···" सुनते-सुनते श्रोता बोल उठते हैं "दवा क्या है"। इसी तरह दूसरे शेर में

हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद
जो नहीं जानते

तक शायर पहुंचा नहीं कि श्रोता ही "वफ़ा क्या है" कहकर शेर पूरा कर देते हैं। यही आकांक्षा की संकीर्णता और सुनिश्चितता है। किसी छंद में आगे क्या आनेवाला है, इसे बिना जाने भी पाठक या श्रोता उसकी लगभग ठीक योजना कर लेते हैं कारण कि वहां विकल्पों के बाहुल्य का अवकाश नहीं होता। यह विशेषता छंदोबद्ध रचना में ही संभव है, गद्य में नहीं। गद्य में आगे आनेवाले शब्दों का क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। रिचर्ड्स लय के समान छंद का भी अस्तित्व उद्दीपन (stimulation) में नहीं बल्कि हमारी अनुक्रिया (response) में मानते हैं अर्थात्

छंद शब्द में नहीं बल्कि हमारे मन में रहता है। लय और छंद को विषयगत (objective) न मानकर विषयिगत (subjective) मानना रिचर्ड्स की सौंदर्य-विषयक सामान्य धारणा के अनुरूप ही है। छंद के प्रत्येक आघात से हमारे भीतर आकांक्षाओं का एक ज्वार उठता रहता है जो असाधारण रूप में व्यापक एवं सहानुभूतिपूर्ण गुंजन या अनुरणन (reverberations) उत्पन्न किया करता है। "छंद सारे शरीर में व्याप्त होनेवाली एक चक्रीय उत्तेजना है, मन के स्रोतों से उमड़नेवाला एक उद्वेल प्रवाह है।"[८१] यहां रिचर्ड्स छंद के स्वरूप के बदले उसके प्रभाव का वर्णन कर रहे हैं। छंद के अनुरणन में कुछ ऐसी अनिवर्चनीय क्षमता होती है कि उससे हमारा तन-मन मस्ती में डूबने-उतराने लगता है। छंद के प्रभाव का यह वर्णन रसास्वाद के प्रकरण में मम्मट के 'सर्वांगीण-मिवालिंगन्' की याद दिलाता है। इसी को कोलरिज ने छंद की 'जादुई शक्ति' कहा है।

गद्य और पद्य में शब्दों के पारस्परिक संबंध की चर्चा करते हुए रिचर्ड्स कहते हैं कि गद्य में पूर्वागत शब्दों का प्रभाव थोड़ा ही आगे बढ़ता है जबकि पद्य में वह बहुत आगे बढ़ जाता है। तुक का प्रयोग होने पर यह प्रभाव और भी बढ़ जाता है। शब्दों के प्रभाव की इसी प्रसरणशीलता के कारण गद्य की अपेक्षा पद्य को याद रखना अधिक सुकर होता है। ऐसा लगता है कि एक शब्द दूसरे शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। इसीलिए एक का उच्चारण करने पर दूसरा अनायास उच्चारण के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

रिचर्ड्स छंद के विचार के संदर्भ में छंदःशास्त्रियों द्वारा अक्षरों के तारत्व-संबंध (pitch-relations of syllables) के निरूपण की उपेक्षा को गंभीर त्रुटि मानते हैं। यह ठीक है कि अक्षरों का कोई निश्चित 'तारत्व' (pitch) नहीं होता, फिर भी उसका उत्थान-पतन छंद में निहित रहता ही है। इसलिए वह भी कवि-कौशल का उतना ही अंश है जितना छंदसंबंधी कोई अन्य वैशिष्ट्य।[८२] रिचर्ड्स बल देकर कहते हैं कि लय या छंद को अक्षरों के ऐंद्रिय पक्ष का कार्य मानना असंगत है। बहुत लोग यह समझते हैं कि लय या छंद के माध्यम से अक्षर केवल श्रवण-गोचर होकर आह्लाद उत्पन्न करते रहते हैं पर बात ऐसी नहीं है। लय या छंद में प्रयुक्त शब्दों का प्रभाव उनके अक्षरों से ही सिद्ध नहीं होता बल्कि उस प्रभाव के पीछे अर्थ और भाव भी काम करते हैं। अर्थ और भाव से रहित अक्षरों का प्रभाव अकल्पनीय है। यह इस बात से भी प्रमाणित है कि हम छंदों की चर्चा करते समय 'गंभीर', 'विषादी', 'प्रसन्न करनेवाला', 'शांत करनेवाला', 'उत्तेजित करनेवाला' आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो सूचित करता है कि छंदों में भावों को सीधे नियंत्रित करने की शक्ति होती है। इसके अतिरिक्त छंद के सामान्य प्रभाव और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कृत्रिमता की प्रतीतिमात्र से छंद सर्वोच्च कोटि की ऐसी "मनोदशा (frame) उत्पन्न कर देता है जिसमें दैनिक जीवन की घटनाओं तथा

८१. Principles, p. 140.
८२. Principles, p. 141.

असंगतियों से काव्यानुभूति (poetic experience) अनायास विलग हो जाती है।"[८३] फलतः काव्यानुभूति के उपयुक्त मानसिक एकाग्रता आ जाती है।

छंद की गति का संबंध नृत्य से माना गया है।[८४] नृत्य की गति के आधार पर ही छंद की गति का निर्माण हुआ है, ऐसा एक मत है। यह मत काव्य की अपेक्षा नृत्य को प्राचीनतर मानता है और नृत्य की गति के अनुकरण पर ही छंदोबद्ध वाग्-गति की कल्पना करता है। रिचर्ड्स इस मत से सहमत हैं और नृत्य तथा छंद के संबंध का समर्थन करते हैं। उनका सुझाव है कि काव्य की गति का अध्ययन भी उतना ही अपेक्षित है जितना ध्वन्यर्थव्यंजना (onomatopoeia) का।

रिचर्ड्स छंद से काव्य का घनिष्ठ संबंध मानते हैं। उनका उपसंहार-वाक्य है: "कठिनतम तथा कोमलतम उक्तियों के लिए छंद प्रायः अनिवार्य साधन है।"[८५]

प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' की चर्चा के विना रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति की चर्चा अधूरी रहेगी। इसलिए उसका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

'प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' के प्रकाशन (१९२४) के पांच वर्षों के बाद १९२९ में प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म का प्रकाशन हुआ। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, 'प्रिंसिपुल्स' आलोचना का सिद्धांत-ग्रंथ है; 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में उन सिद्धांतों का विनियोग है। 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' की योजना मौलिक है। यद्यपि काव्य के मूल्य संप्रेषण भाषा आदि से संबद्ध धारणाओं का जो सूत्र 'दि फ़ाउंडेशन्स ऑफ़ ईस्थेटिक्स' (१९२२ ई०) से आरंभ होता है वह 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' तक अव्याहत रहता है, फिर भी यह ग्रंथ अतिवादों से बहुत कुछ मुक्त है और इसमें प्रतिपादित विचार तथा निष्कर्ष अधिक संतुलित हैं। कई वर्षों के अध्यापन से अधिगत अनुभव एवं ज्ञान की परिपक्वता भी इसमें सुलक्ष्य है।

इस ग्रंथ की रचना के पीछे तीन उद्देश्य[८६] रहे हैं: (१) समसामायिक सांस्कृतिक स्थिति में अभिरुचि रखनेवालों—आलोचकों, दार्शनिकों, शिक्षकों, मनोविज्ञानियों या जिज्ञासुओं—के लिए एक नये ढंग का संलेखन (documentation) प्रस्तुत करना। (२) वैसे लोगों को एक नयी प्रविधि (technique) देना जो इस बात की स्वयं मीमांसा करना चाहते हैं कि काव्य के संबंध में वे क्या सोचते-विचारते हैं और किसी काव्य को वे 'पसंद या नापसंद' करें तो क्यों। (३) शैक्षिक प्रणालियों का एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करना जो प्रचलित प्रणालियों से अधिक उपयुक्त हो; साथ ही, हम जो सुनते तथा पढ़ते हैं, उसके बोध एवं विवेचन को विकसित करने में सहायक हो। तात्पर्य कि **सांस्कृतिक, वैचारिक तथा शैक्षिक** उद्देश्यों की सिद्धि के लिए 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' की रचना हुई है।

८३. Principles, p. 145.
८४. Principles, p. 144.
८५. Principles, p. 146.
८६. Practical Criticism, p. 3.

ग्रंथ की रचना जिस पद्धति से हुई है वह रोचक है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के व्याख्याता के रूप में रिचर्ड्स अच्छी से अच्छी और साधारण से साधारण कविताओं के मुद्रित पन्नों को पाठकों के बीच इस अनुरोध के साथ वितरित करते कि वे पूरी स्वतंत्रता से उन कविताओं पर अपनी टिप्पणियां लिख कर दें। इस प्रयोग में निम्न-लिखित सतर्कताएं बरती जाती थीं।

१. कविताओं के रचियताओं के नाम गुप्त रखे जाते थे। कुछ विरल अपवादों को छोड़कर रचयिता पहचाने नहीं जा सके।

२. एक सप्ताह के बाद वे पन्ने वापस ले लिए जाते थे। संलेखकों (protocols)[८७] के नाम भी गुप्त रखे जाते थे जिससे उन्हें अपनी सम्मति देने में कोई संकोच न हो।

३. कविता के पक्ष या विपक्ष में संलेखकों को प्रभावित नहीं करने का पूरा ध्यान रखा जाता था।

४. प्रत्येक संलेखक से आग्रह था कि उसने जितनी बार वह कविता पढ़ी है उसकी संख्या अपने संलेख में अंकित कर दे। संख्याओं को देखने से पता चला कि किसी कविता को चार बार से कम शायद ही किसी ने पढ़ा था। एक बैठक में कविता का अवलोकन चाहे जितनी बार किया गया, पाठ की संख्या एक ही मानी गयी अर्थात् चार बैठकों में कविता का अवलोकन चार से अधिक बार भी किया गया। इसका अर्थ यह कि कविता का अध्ययन सम्यक् संपन्न हुआ।

५. संलेखकों में कैंब्रिज विश्वविद्यालय के ऐसे अधिसंख्य छात्र थे जो अंग्रेजी में ऑनर्स कर रहे थे (ध्यातव्य है कि कैंब्रिज-ऑक्सफोर्ड की आनर्स उपाधि भारत की एम० ए० उपाधि से श्रेष्ठ मानी जाती है); कुछ संलेखक आनर्स कर चुके थे ; कुछ ऐसे भी थे जो अंग्रेजी के बदले दूसरे विषयों में ऑनर्स कर रहे थे; कुछ संलेखक शिक्षा-जगत् के बाहर के भी थे; संलेखकों में पुरुषों और स्त्रियों की संख्या लगभग बराबर थी।

६. यह बाध्यता नहीं थी कि संलेखक संलेख लौटाएं ही। फिर भी प्रायः ६० प्रतिशत ने टिप्पणी के साथ संलेख लौटाये जो उनकी प्रबल साहित्यिक अभिरुचि का परिचायक है।

यह सब इसलिए किया गया कि कविताओं पर प्राप्त टिप्पणियां अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ (objective) हों जिससे निष्कर्ष वैज्ञानिक हो सकें। संलेखकों के बारे में रिचर्ड्स का कहना है कि हमारी सांस्कृतिक अवस्थाओं में इनसे उच्चतर आलोचनात्मक क्षमता संसार में कहीं भी अन्यत्र मिलेगी, इसकी संभावना नहीं है।

कुल तेरह कविताएं वितरित की गयीं। पाठकों से उनपर सैकड़ों टिप्पणियां प्राप्त हुईं जिनका रिचर्ड्स ने विश्लेषण किया।

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' के चार भाग हैं : पहले भाग में भूमिका है जिसमें इस योजना का, इ-के उद्देश्यों का और टिप्पणियों से प्राप्त निष्कर्षों का संक्षिप्त वर्णन है।

८७. रिचर्ड्स ने टिप्पणी-लेखकों को protocol कहा है जिसका हिंदी रूपांतर हमने 'संलेखक' रखा है।

दूसरे भाग में वितरित १३ कविताओं पर पाठकों अर्थात् संलेखकों से प्राप्त टिप्पणियों का विस्तृत आलोचनात्मक विश्लेषण है। पाठकों की टिप्पणियों के गुण-दोषों पर रिचर्ड्स ने अपनी टिप्पणियां दी हैं। तीसरे भाग में द्वितीय भाग के आधार पर सामान्य अर्थ से लेकर अर्थ की सूक्ष्म छायाओं और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं की तह तक पहुंचने में पाठकों से जो भूलें हुई हैं उनका तथा अलंकार, लय, काव्यरूप आदि का विशद विवेचन है। चौथे भाग में संपूर्ण विश्लेषण का सार तथा अनुशंसाएं हैं।

रिचर्ड्स के अनुसार, इस ग्रंथ का प्रमुख प्रयोजन है "काव्य का तथा उन साधनों का निरूपण जो काव्य के बोध, परिशंसन तथा मूल्यांकन के लिए अपेक्षित हैं। काव्य स्वयं संप्रेषण का एक प्रकार है। वह किस वस्तु का, कैसे संप्रेषण करता है और संप्रेषित वस्तु का क्या मूल्य है, यही देखना आलोचना का विषय है।"[८८]

"सभी आलोचनात्मक प्रयासों, सारी व्याख्या, परिशंसन (appreciation), प्रबोधन (exhortation), प्रशंसा या निंदा का एक, और एकमात्र, लक्ष्य संप्रेषण में सुधार लाना है। यह बात अतिरंजना प्रतीत हो सकती है किंतु व्यवहार में यही है। आलोचनात्मक नियमों और सिद्धांतों के संपूर्ण उपकरण अधिक सूक्ष्म (fine), परिशुद्ध (precise) तथा विवेकपूर्ण (discriminating) संप्रेषण की निष्पत्ति के ही साधन हैं।"[८९] यह ठीक है कि मूल्य का महत्त्व कम नहीं है पर मूल्यवत्ता भी संप्रेषण के द्वारा ही प्रदर्शित की जा सकती है।

स्पष्ट है कि रिचर्ड्स मूल्य और संप्रेषण में संप्रेषण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि मूल्य भी संप्रेषण पर ही निर्भर करता है। वे अतिरंजना की आशंका को स्वीकार करते हुए भी कहते हैं कि सभी आलोचनात्मक प्रयासों का एक और एकमात्र लक्ष्य संप्रेषण में सुधार लाना है अर्थात् **संप्रेषण ही आलोचना का चरम लक्ष्य** है।

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' एक तरह से रिचर्ड्स की संप्रेषण-संबंधी मान्यताओं के समर्थन का प्रयोग है। इसमें उन्होंने संलेखकों की अनुक्रियाओं का विश्लेषण कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि संप्रेषण की सफलता किन कारणों से बाधित तथा अवरुद्ध होती है। चूंकि मुख्यतः संप्रेषण का निरूपण ही आलोचना का मेरुदंड है, अतः संप्रेषण-संबंधी कठिनाइयां प्रकारांतर से आलोचना-संबंधी कठिनाइयां बन जाती हैं। वे निम्नलिखित हैं:

१. सबसे पहली कठिनाई **सामान्य अर्थ-बोध** की है। साधारण से लेकर अच्छे काव्य-पाठक तक इस कठिनाई से मुक्त नहीं हैं। यही नहीं, वे बार-बार अर्थ-बोध में असफल रहते हैं। जहां अर्थ-बोध ही दुष्कर है वहां भावना (feeling), वचन-भंगी (tone) और

८८. To discuss poetry and the ways in which it may be approached, appreciated and judged is, of course, its prime purpose. But poetry itself is a mode of communication, what it communicates and how it does so and the worth of what is communicated form the subject-matter of criticism.
—Practical Criticism, p. 11.

८९. Practical Criticism, p. 11.

उद्देश्य (intention) के ग्रहण में भूल होनास्वाभाविक है। यह कठिनाई साधारण पाठकों और दुरूह काव्यों के ही साथ हो, ऐसा नहीं। न तो प्रसिद्ध विद्वान् इससे वरी हैं और न सरल काव्य।

२. इसी के समानांतर और इससे संवद्ध ऐंद्रिय परिशंसन की कठिनाइयां (difficulties of sensual appreciation) हैं। रिचर्ड्स का कहना है कि मौन पाठ के बावजूद अनुक्रम में आये शब्दों का, आंतरिक श्रोत्र, आंतरिक जिह्वा तथा स्वरतंत्री में, एक रूप व्यक्त हुआ करता है। उनमें गति भी होती है और लय भी। सभी पाठक इन चीजों को ठीक-ठीक पकड़ नहीं पाते। कुछ पाठक तो अनुच्चरित शब्दों के भी रूप और गति को आसानी से हृदयंगम कर लेते हैं और कुछ आयास पूर्वक हृदयंगम कर पाते है। इस अंतर के परिणाम दूरगामी होते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि चुपचाप काव्य पढ़ने पर भी श्रोत्र, जिह्वा और स्वरतंत्री में शब्दों का ध्वन्यात्मक रूप व्यक्त होता है। जो सहृदय और संवेदनशील हैं उनके लिए इस मानसिक रूप का ग्रहण सुकर होता है और जो वैसे नहीं हैं उनके लिए दुष्कर होता है। अतः उनकी अनुक्रियाओं में भी भेद होना स्वाभाविक है।

३. इसके वाद कठिनाई बिंबविधान (imagery), विशेषकर चाक्षुष बिंबविधान (visual imagery) की आती है। अंशतः यह कठिनाई इस बात से उत्पन्न होती है कि हमारी मानसदृष्टि की क्षमता (capacity to visualise) में अत्यधिक अंतर है। एक व्यक्ति के मन में जो बिंबविधान जागृत होता है वह बिलकुल उसी रूप में दूसरे व्यक्ति के मन में जागृत नहीं होता, हो भी नहीं सकता। आलोचना में अंतर का यह एक जबर्दस्त कारण है।

४. **स्मृतिविषयक अप्रासंगिकताओं** (mnemonic irrelevances) का भी प्रवल एवं व्यापक प्रभाव देखा जाता है। काव्य पढ़ते समय बहुत बार ऐसा होता है कि अतीत का कोई व्यक्तिगत दृश्य या घटना, साहचर्य या भाव मन में उपस्थित होकर काव्य के आस्वाद में विघ्न डालने लगता है। तात्पर्य कि बहुत वार काव्य के आस्वाद में अप्रासंगिक स्मृतियां विघ्न डालती हैं जिसके परिणामस्वरूप आलोचना का प्रकृत रूप आच्छन्न होता है।

५. कभी-कभी संप्रेषण **घिसी-पिटी अनुक्रियाओं** (stock responses) में फंस जाता है जिन्हें रिचर्ड्स आलोचना का जाल (critical trap) कहते हैं। घिसीपिटी अनुक्रियाओं के उभारने का अवसर तब मिलता है जब पाठक के मन में पहले से वर्तमान मत या भाव काव्य के अर्थ को ढक देते हैं। उदाहरणार्थ, धर्म अथवा सामाजिक व्यवस्था के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति की कुछ अपनी बद्धमूल धारणाएं होती हैं। उनसे मेल नहीं खानेवाला काव्य जब सामने आता है तो हमारे अपने मत काव्य के अर्थ तक पहुंचने में रुकावट पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य के अर्थ के बदले हम अपने मत को ही काव्य का अर्थ मान लेते हैं जो उस काव्य से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह का आरोपित अर्थ आलोचना को कभी वस्तुनिष्ठ नहीं होने देगा।

३. **अतिभावुकता** (sentimentality) एक ऐसा खतरा है जिसपर अधिक कहने की

जरूरत नहीं है। भावुकता के अतिरेक से मानसिक संतुलन ठीक नहीं रह पाता। स्वभावतः हमारी अनुक्रिया भी असंतुलित हो जाती है जिसका प्रभाव आलोचना पर पड़ता है।

७. **अवरोध** (inhibition) बहुत कुछ भावुकता का विलोम है। जहां भावुकता में मन अनायास द्रवित हो उठता है, वहां अवरोध में प्रयास से भी द्रवित नहीं होता; अड़ियल घोड़े की तरह अपनी जगह से डिगता ही नहीं। इन्हीं लोगों को भारतीय नाट्यालोचन में 'काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' कहा गया है। रंगशाला की लकड़ी, दीवार, पत्थर को जैसे रसानुभूति नहीं होती, वैसे ही कुछ पाठकों और प्रेक्षकों को भी काव्यानुभूति नहीं होती। संस्कृत के आलंकारिकों ने वृद्ध मीमांसकों, वैयाकरणों आदि को इसी श्रेणी में रखा है।

८. **सिद्धांतमूलक आसंजन** (doctrinal adhesions) भी कष्टकर समस्या उत्पन्न करते हैं। प्रचुर काव्य, विशेषतः धार्मिक काव्य, इसका उदाहरण है। धार्मिक काव्य में, सही या गलत, कुछ मत और विश्वास व्यक्त रहते हैं जिन्हें स्वीकार करना या जिनसे सहमत होना सभी पाठकों के लिए संभव नहीं होता। इसके फलस्वरूप मूल्यांकन अस्तव्यस्त हो जाता है।

९. **प्राविधिक पूर्वकल्पनाओं** (technical presuppositions) के प्रभाव भी संप्रेषण की सफलता में बाधक होते हैं। कभी कोई प्रविधि (technique) रुचिकर प्रतीत हुई तो हम चाहते हैं कि आगे भी वह उसी रूप में काम में लायी जाए और ऐसा नहीं होने पर हमें असंतोष होता है। इसी तरह किसी विशेष प्रयोजन के लिये यदि कोई प्रविधि कभी अनुपयुक्त प्रमाणित हो गयी तो हम उसे सर्वथा त्याज्य मान लेते हैं। ये दोनों ही भूलें ऐसी हैं जिनमें साधन को ही साध्य मान लिया जाता है। रिचर्ड्स प्राविधिक विवरणों को आलोचना का बाह्य, अतः गौण, तत्त्व मानते हैं। उन्हें महत्त्व देने का अर्थ है, साध्य के बदले साधन को महत्त्व देना। तात्पर्य कि काव्य में कार्य-कारण-संबंध का ध्यान नहीं रखने से गड़बड़ी पैदा होती है।

१०. **सामान्य आलोचनात्मक पूर्वग्रह** (general critical preconceptions) अनंत रूपों में काव्य और पाठक के बीच व्यवधान उपस्थित करते हैं। ये पूर्वग्रह काव्य की प्रकृति और मूल्य के संबंध में सचेत-अचेत रूप से मन में बैठे सिद्धांतों के परिणाम होते हैं। कुछ सिद्धांत मन में न जाने कब, किधर से घर कर लेते हैं; जैसे काव्य की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए, काव्य का मूल्य ऐसा होना चाहिए, और वे तदनुरूप काव्य की ही मांग करते हैं। कहना अनपेक्षित है कि इस प्रकार के पूर्वग्रह काव्य की तटस्थ आलोचना को बाधित और विषयिनिष्ठता (subjectivity) को प्रोत्साहित करते हैं।

रिचर्ड्स के अनुसार, काव्य के समीचीन अध्ययन और मूल्यांकन की अर्थात् आलोचना की ये दस प्रमुख बाधाएं या कठिनाइयां हैं। इनके बीच सर्वत्र स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। उदाहरणार्थ, ९ और १० में या ८ और १० में बहुत अंतर नहीं है। इस सांकर्य को रिचर्ड्स भी मानते हैं पर सुविधा के लिए उन्होंने दस भेद कर दिये हैं।

जैसा हमने देखा है, 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' के लेखन के मूल में तीन उद्देश्य रहे हैं :

सांस्कृतिक, आलोचनात्मक तथा शैक्षिक। चूंकि हमारा विचार-क्षेत्र रिचर्ड्स के आलोचना-पक्ष तक ही सीमित है, इसलिये उन्होंने सांस्कृतिक-शैक्षिक पक्षों पर जो कुछ कहा है, वह प्रस्तुतोपयोगी नहीं होने से यहां नहीं दिया जा रहा है।

मूल्यांकन

१. अंग्रेजी साहित्य में पहली बार व्यापक और व्यवस्थित सौंदर्यशास्त्र (काव्यशास्त्र) के निर्माण का श्रेय रिचर्ड्स को है। उनके पहले आलोचकों ने प्रकीर्ण रूप में ही आलोचनात्मक प्रश्नों पर विचार किया था किंतु रिचर्ड्स ने आलोचना का एक पूर्ण और स्वतंत्र शास्त्र प्रस्तुत किया।

२. रिचर्ड्स की धारणा है कि आज के वैज्ञानिक युग में वही आलोचना मान्यता प्राप्त कर सकती है जो वैज्ञानिक हो अर्थात् वैज्ञानिक उपादानों से निर्मित हो। इसके लिए उन्होंने मनोविज्ञान को अपनी आलोचना-पद्धति का आधार बनाया है, साथ ही मानव-विज्ञान, अर्थविज्ञान जैसे नव-विकसित अनुशासनों का भी उपयोग किया।

३. रिचर्ड्स ने काव्य पर ग्रहीता (भावक) की दृष्टि से विचार किया है, स्रष्टा (कलाकार) की दृष्टि से नहीं। स्रष्टा (कलाकर) के मनोविज्ञान को उन्होंने 'अध्ययन का निष्फल (बंजर) क्षेत्र' कहा है। इस अंश में इलियट से उनका स्पष्ट अंतर है। इलियट ने काव्य की मीमांसा मूलतः स्रष्टा (कलाकार) की दृष्टि से की है।

४. रिचर्ड्स की मूल्य-मीमांसा के केन्द्र में व्यक्ति है, समाज नहीं। उनके अनुसार कला का उद्देश्य है, मानसिक अराजकता की स्थिति से संघटन और व्यवस्था में संक्रमण। यह व्यक्ति में ही संभव है, इसलिये उन्होंने अपनी समग्र मीमांसा के मूल में—चाहे वह मूल्य की मीमांसा हो, चाहे नैतिकता की—व्यक्ति को ही रखा है। शायद उनका यह सोचना हो कि यदि व्यक्तियों में संघटन और व्यवस्था आ जाती है तो समाज में आप से आप आ जाएगी। जो व्यक्ति स्वच्छंदतावाद (romanticism) और सौंदर्यवाद (aestheticism) जैसे व्यक्तिवादी काव्यांदोलनों का विरोधी हो, उससे आशा यह की जाती है कि वह समाज के परिप्रेक्ष्य में कला की मीमांसा करेगा पर इस आशा की पूर्ति नहीं होती। रिचर्ड्स व्यक्ति तक ही सीमित रह जाते हैं। ऐसा इसलिये भी होता है कि मनोविज्ञान की जिन शाखाओं पर उनकी आलोचना-पद्धति आश्रित है, वे व्यक्ति-मूलक हैं। आर्नल्ड की तरह समाज और संस्कृति की बात रिचर्ड्स कभी-कभी उठाते तो हैं पर उसका पल्लवन नहीं करते।

५. रिचर्ड्स के मत में **मूल्य** और **संप्रेषण**, ये दो ही आलोचना के आधार-स्तंभ हैं। मूल्य का संबंध आवेगों की संतुष्टि से है, अतः मूल्य का निरूपण मनोविज्ञान का विषय है और संप्रेषण का संबंध भाषा से है, अतः उसका निरूपण अर्थविज्ञान का विषय है। यही कारण है कि रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति मनोवैज्ञानिक या अर्थ-वैज्ञानिक (semantic) कही जाती है।

६. रिचर्ड्स भाषा के दो भेद मानते हैं: **वैज्ञानिक** तथा **रागात्मक**। वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग तथ्य-कथन के लिये होता है और रागात्मक भाषा का भाव-संचार के

लिए। भाषा के इस द्वैविध्य में कतिपय विप्रतिपत्तियां हैं : (क) रिचर्ड्स के कथन का यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि भाषा का यह द्वैविध्य निसर्ग-सिद्ध है किंतु बात ऐसी नहीं है। भाषा एक ही होती है; उसमें रागात्मकता लाने के लिए कुछ साधनों का सहयोग अपेक्षित होता है। (ख) रिचर्ड्स जब कहते हैं कि विज्ञान में तथ्य-कथन (statement) होता है और काव्य में मिथ्या-कथन (pseudo-statement) तो काव्य का अवमूल्यन हो जाता है और वह भी उस व्यक्ति के द्वारा जो काव्य में मूल्य की प्रतिष्ठा को आलोचना का सर्वस्व मानता है। सत्य से रहित कोई कथन मूल्यवान् कैसे हो सकता है और समाज के सांस्कृतिक उन्नयन का साधक कैसे बन सकता है ? फिर, काव्यमात्र को मिथ्या-कथन घोषित करना भी विपर्यस्त कल्पना है। यह ठीक है कि काव्य का सत्य लौकिक सत्य से सदा एकरूप नहीं होता किंतु इसीलिए उसे मिथ्या-कथन नहीं कहा जा सकता। अरस्तू ने सत्य के ही दो भेद माने। एक को उन्होंने ऐतिहासिक सत्य कहा और दूसरे को काव्यगत सत्य। यही नहीं, उन्होंने काव्यगत सत्य को ऐतिहासिक सत्य से श्रेष्ठ भी बताया क्योंकि ऐतिहासिक सत्य का संबंध विशेष (particular) से है पर काव्यगत सत्य का सामान्य (universal) से।

७. रिचर्ड्स का कहना है कि आलोचना के दो पक्ष हैं : (क) **आलोचनात्मक** और (ख) **प्राविधिक**। आलोचनात्मक पक्ष में अनुभूतियों के मूल्य का वर्णन होता है। और प्राविधिक पक्ष में उन साधनों का, जिनसे अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। आलोचनात्मक पक्ष साध्य (end) है और प्राविधिक पक्ष साधन (means) प्रश्न उठता है कि क्या आलोचना के ये दो भेद संगत हैं ? क्या इनमें साध्य-साधन-भाव संबंध है ? निश्चय ही काव्य की अनुभूति में वे तत्त्व भी समवेत रहते हैं जिनसे वह अनुभूति उत्पन्न होती है; यदि उन तत्त्वों को अलग कर दें तो वह अनुभूति उत्पन्न होगी ही नहीं। वस्तुतः उन तत्त्वों के योग से ही वह अनुभूति उत्पन्न होती है। इसलिए अनुभूति के सहायक तत्त्वों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। फलतः आलोचना का यह द्विभाजन (dichotomy) युक्तियुक्त नहीं है।

८. रिचर्ड्स के अनुसार, 'संतुलित विश्रांति' (balanced poise) का संबंध भावक की अनुक्रिया (response) से है, कलाकृति की संरचना से नहीं। किंतु इसे स्वीकार करने पर कलाकृति के विश्लेषण का श्रम व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। यदि अनुभूति में कलाकृति की संरचना का कोई महत्त्व है ही नहीं तो वह अच्छी हो या बुरी, एक ही बात है; उसके विश्लेषण से क्या लाभ ? परिणामतः आलोचना की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है।

९. कलात्मक अनुभूति में कोई विशिष्टता (अलौकिकता) होती है, इसे रिचर्ड्स नहीं मानते। उनका कहना है कि कलात्मक अनुभूति मनुष्य की अन्य (लौकिक) अनुभूतियों से अभिन्न होती है; अंतर इतना ही है कि उसका संघटन सामान्य अनुभूतियों की तुलना में अधिक सूक्ष्म होता है। परंतु विचारकों का एक बहुल बड़ा वर्ग (जिसमें कांट, क्लाइव बेल, रोजर फ्राइ, इलियट आदि पश्चिम के तथा आनंदवर्धन, कुंतक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि भारत के आचार्य आते हैं) काव्यानुभूति

को विशिष्ट (अलौकिक) अनुभूति मानता है।

१०. रिचर्ड्स काव्य के प्रयोजनों में आनंद को स्थान नहीं देते। उनके अनुसार काव्य का एकमात्र प्रयोजन आवेगों की संतुष्टि के द्वारा 'संतुलित विश्रांति' की उपलब्धि है।

११. रिचर्ड्स के 'प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' के नाम से ध्वनित होता है कि इसमें साहित्य की सभी विधाओं की आलोचना के सिद्धांत होंगे किंतु समग्र विचार काव्य तक ही सीमित है। तात्पर्य कि नाम की व्यापकता के अनुरूप विषय का विवेचन नहीं है।

१२. 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' की योजना मौलिक है और विवेचन भी। किंतु इसमें दो त्रुटियां हैं : एक तो यह कि सारा विवेचन प्रगीत (lyric) पर आश्रित है। प्रगीत का शाब्दिक विश्लेषण जितने विस्तार से संभव है उतने विस्तार से महाकाव्य का नहीं। अतः जो निष्कर्ष प्रगीत के आधार पर प्रस्तुत हुए हैं उनकी व्यापकता आंशिक ही कही जाएगी। दूसरी त्रुटि यह है कि सारे निष्कर्ष अपरिपक्व पाठकों की प्रतिक्रियाओं पर आधारित हैं। छात्र अपरिपक्व पाठक ही माने जाएंगे, चाहे वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय के ही क्यों न हों। उनकी अपरिपक्वता का प्रमाण उनकी अपरिमित भूलें हैं जिनका विस्तृत उल्लेख रिचर्ड्स ने स्वयं किया है। ऐसी कच्ची नींव पर खड़ा आलोचना का भवन कितना पक्का और मजबूत होगा, यह विचारणीय है।

१३. रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धांत मूलतः अरस्तू और कोलरिज के सिद्धांतों पर आधारित हैं। मनोविज्ञान का जामा पहनाकर रिचर्ड्स ने उन्हें नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लोंगिनुस, आर्नल्ड, अमेरिकी सौंदर्यशास्त्री जॉर्ज सांतायना, फ्रांसीसी सौंदर्यशास्त्री यूहेन व्हेरों (Eugene Veron 1825-1889) आदि के प्रभाव भी स्पष्ट हैं। अंतर्वेशी (inclusive) और परिवर्जी (exclusive) काव्य-भेदों के लिए जॉर्ज सांतायना के तथा रागात्मक (emotive) एवं वैज्ञानिक (scientific) भाषा-भेदों के लिए व्हेरों के वे ऋणी प्रतीत होते हैं। दार्शनिकों में बेन्थम और मिल का तथा मनोविज्ञानियों में वाट्सन (व्यवहारवाद) और फ्रायड (मनोविश्लेषण) का ऋण तो उनपर पर्याप्त है ही।

१४. विषयांतर, विरोधाभास, चक्करदार तर्क, कथ्य के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणों का अभाव या स्वल्पता, अनावश्यक शुष्कता, पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति रिचर्ड्स के लेखन की विशेषताएं हैं।

इन त्रुटियों के बावजूद अंग्रेजी-भाषी जगत् में रिचर्ड्स का बहुत मान और प्रभाव रहा है। बीसवीं शताब्दी में एक इलियट को छोड़कर यशस्विता में उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। उनकी आलोचना-पद्धति के सूत्र को पकड़कर इंग्लैंड में विलियम एम्पसन जैसे आलोचक आगे बढ़े और अमेरिका में 'न्यू क्रिटिसिज़्म' (New Criticism) नामक आलोचना-संप्रदाय का विकास हुआ। □

ग्रंथ-सूची

Abercrombie, Lascelles; *Principles of Literary Criticism.* Vora & Co., 1962.

Abrams, M.H.; *The Mirror and the Lamp.* O.U.P., 1971.

Adams, Hazard; *The Interest of Criticism.* Brace & World, 1969.

Alvarez, A.; *The Shaping Spirit.* Arrow Books, 1963.

Annan, Noel; *Mathew Arnold.* O.U.P., 1964.

Bart, Sir Alexander Grant ; *Aristotle.* William Blackwood & Sons, 1879.

Baring, Maurice; *An Outline of Russian Literature.* O.U.P., 1945.

Bowra, C.M.; *The Creative Experiment.* Macmillan & Co., 1967.

Bowra, C.M.; *Ancient Greek Literature.* O.U.P., 1945.

Bradley, A.C.; *Oxford Lectures on Poetry.* Macmillan & Co., 1970.

Burg, I.B.; *History of Greece.* Macmillan & Co., 1931,

Carington, Whately; *Matter, Mind and Meaning.* Methuen & Co., 1949.

Carr, H. Wildon; *The Philosophy of Benedetto Croce.* Macmillan & Co., 1917.

Coleman, Elliott; *Lecturers in Criticism.* Harper & Brothers, 1961.

Coleridge, S. T.; *Biographia Literaria.* J. M. Dent & Sons, 1939.

Croce, Benedetto; *Aesthetic.* Vision Press, London, 1959.

Daiches, David; *Critical Approaches to Literature.* Orient Longmans, 1967.

Das Gupta, S. N.; *Fundamentals of Indian Arts.* Bharatiya Vidya Bhavan, 1954.

Dorsch, T. S.; *Classical Literary Criticism.* Penguin Books, 1977.

Dryden, John; *Dramatic Poesy & Other Essays.* J.M. Dent & Co., 1950.

Eliot, T.S.; *For Lancelot Andrews.* Faber & Faber, 1970.

Eliot, T.S.; *Four Quartets.* O.U.P., 1977.

Eliot, T.S.; *Murder in the Cathedral.* O.U.P., 1977.

Eliot, T.S.; *On Poetry and Poets.* Faber & Faber, 1969.

Eliot, T.S.; *The Sacred Wood.* Methuen & Co., 1960.
Eliot, T.S.; *Selected Poems.* Faber & Faber, 1965.
Eliot, T.S.; *The Use of Poetry and The Use of Criticism.* Faber & Faber, 1964.
Frye, Northrop; *T.S. Eliot.* Oliver & Boyd, 1963.
Gupta, S.P. Sen; *Mathew Arnold* (*Essays in Criticism. First Series.*). World Press, 1970.
Gupta, S.P. Sen; *Mathew Arnold* (*Essays in Criticism. Second Series*). World Press, 1971.
Ghosh, D.N.; *Principles of Literary Criticism.* Kitabghar, 1964.
Ghiselin, Brewster; *The Creative Process,* New American Library, 1964.
Hayward, John; *T.S. Eliot : Selected Prose.* Penguin Books, 1953.
Hoskot, S.S.; T.S. Eliot *His Mind and Personality.* University of Bombay, 1961.
Hudson, Derek; *English Critical Essays.* O.U.P., 1975.
Jackson, J.R. Dez; *Method and Imagination in Coleridge's Criticism.* Routledge & Kegan Paul, 1969.
James, D.G.; *Scepticism And Poetry.* George Allen and Unwin, 1960.
Jones, Edmund D.; *English Critical Essays* (*Sixteenth, Seventeenth, and Eighteenth Centuries*). O.U.P., 1936.
Jones, Edmund D.; *English Critical Essays* (*Nineteenth Century*). O.U.P., 1935.
Jowett. B.; *Plato's Republic.* Wintage Books, New York.
The Works of Plato. Carlton House, 1928.
Livington, Ray; *The Traditional Theory of Literature.* University of Minnesota Press, 1962.
Lucy, Sean; *T.S. Eliot and The Idea of Tradition,* Cohem & West, 1960.
Mair, G.H.; *English Literature,* O.U.P., 1944.
Moxon, T.A.; *Aristotle's Poetics and Rhetoric.* J.M. Dent & Sons, 1953.
Nath, R.; *Essays in Criticism,* Doaba House, 1971.
Ogden, C.K. & Richards, I.A.; *The Meaning of Meaning.* Routledge & Kegan Paul, 1953.
Pandey, K.C.; *Western Aesthetics.* Chowkhamba Sanskrit Series, Banaras, 1956.
Pater, Walter; *Appreciations.* Rupa & Co., 1967.
Pinto, Vivian De Sola; *Crisis in English Poetry.* Arrow Books, 1963.
Plato, The Dialogues of, Vol I & II, Tr. by Jowett, B., Random House. New York. (1880-1940),

Prasad, B.; *An Introduction to English Criticism*. Macmillan & Co., 1967.

Prasad, B.; *A Background to the Study of English Literature*. Macmillan & Co., 1967.

Press, John; *The Fire and the Fountain*. Methuen & Co., 1966.

Richards, I.A.; *Coleridge on Imagination*. R. & K. Paul, 1950.

Richards, I.A.; *The Philosophy of Rhetoric*. O.U.P., 1965.

Richards, I.A.; *Practical Criticism*. R. & K. Paul, 1966.

Richards, I.A.; *Principles of Literary Criticism*. R. & K. Paul, 1950.

Rickett, Arthur Compton; *A History of English Literature*. Thomas Nelson & Sons, 1947.

Roberts, Mark; *The Fundamentals of Literary Criticism*. Basil Blackwell, 1947.

Russel, B.; *A History of Western Philosophy*. George Allen & Unwin, 1948.

Ruthven, K.K.; *Critical Assumptions*. Cambridge University Press, 1979.

Saintsbury, George; *A History of Criticism & Literary Taste in Europe* (*Vol. I & II*). W. Blackwood, 1900.

Strachey, Lytton; *Landmarks in French Literature*. O.U.P., 1946.

Sastri, P.S.; *Coleridge's Theory of Poetry*, S. Chand & Co.

Stowell, Gordon; *The Book of Knowledge* (Volume 8). The W. B. Company.

Tate, Allen; *T.S. Eliot ; The Man and his Work*. Penguin Books, 1966.

Taylor, A. E.; *Socrates*. Pater D., 1951.

Trend, J.B.; *The Civilization of Spain*, O.U.P., 1944.

Watson, George; *The Literary Criticism*. Penguin Books, 1962.

Watt, F. W.; *Mathew Arnold*. O.U.P., 1976.

Wellek, Rene; *Concepts of Criticism*, New Haven, London, 1964.

Wellek, Rene & Warren, Austin; *Theory of Literature*. Penguin Books, 1956.

Wimsatt, William K. (Jr.) & Brooks Cleanth; *Literary Criticism. A Short History*. Oxford Book Co., 1964.

Wimsatt, W.K. (Jr).; *The Verbal Icon*. Methuen & Co., 1970.

Wright, George T.; *The Poet in the Poem*. University of California, 1960.

नगेन्द्र, अरस्तू का काव्यशास्त्र, भारती भण्डार, इलाहाबाद 1981
निर्मला जैन, प्लेटो के काव्यसिद्धांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
निर्मला जैन, उदात्त के विषय में, ऋषभ चरण जैन एवं संतति, नई दिल्ली

Dictionaries

Annals of English Literature (1475-1950). O.U.P., 1961.
A Reader's Guide to Literary Terms. Beckson, Karl & Ganz Arther.
Fowler, Roger; *A Dictionary of Modern Critical Terms*, Routledge & Kegan Paul, 1973.
Rosenthal, M. & Yudin. P.; *Dictionary of Philosophy*. Progress Publishers, Moscow, 1967.
Ladell, R. Macdonald; *A Dictionary of Psychological Terms*. The Psychological Magazine, London, 1951.
Draver, James; *A Dictionary of Psychology*. Penguin Books, 1961.
Shipley, Joseph T.; *Dictionary of World Literary Terms*. George Allen & Unwin, 1970.
Encyclopaedia Britannica. 1947.
Browning, D.C.; *Everyman's Dictionary of Literary Biography*. J.M. Dent & Sons, 1958.
The Concise Oxford Dictionary of English Literature. O.U.P., 1974.
The Reader's Guide to Everyman's Library. J.M. Dent & Sons, 1962.

आज न तो साहित्य एकदेशीय रह गया है और न आलोचना। अतः साहित्य के अनुशीलन, आस्वादन और मूल्यांकन के लिए अरस्तू और लोंगिनुस, कोलरिज और क्रोचे, इलियट और रिचर्ड्स उतने ही उपादेय हैं जितने भरत और भामह, वामन और आनंदवर्धन, कुंतक और अभिनवगुप्त। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, लोंगिनुस, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, आर्नल्ड, क्रोचे, इलियट और रिचर्ड्स पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रमुख निर्माता हैं। इस पुस्तक में उनके सिद्धान्तों का प्रामाणिक निरूपण, तलस्पर्शी विश्लेषण तथा संतुलित मूल्यांकन है।

अभिव्यंजना की प्रांजलता, स्पष्टता एवं रोचकता पुस्तक की उल्लेख्य विशेषताएं हैं।

सुचिंतित, सुव्यवस्थित सामग्री से समृद्ध यह पुस्तक इन आलोचकों पर, भारतीय भाषाओं में प्रस्तुत कृतियों के बीच, निश्चय ही अपनी सार्थकता प्रमाणित करेगी।

□



आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

पटना विश्वविद्यालय तथा दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति। पटना तथा विहार विश्वविद्यालयों के पूर्व आचार्य तथा हिंदी विभागाध्यक्ष। भारतीय हिंदी परिषद् के ग्वालियर तथा आनंद अधिवेशनों के अध्यक्ष। नेशनल फैलो, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग। आगरा, कुरुक्षेत्र, विक्रम, जवाहरलाल नेहरू आदि विश्वविद्यालयों के विजिटिंग प्रोफेसर। भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रवर-समिति के सदस्य। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली आयोग, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, केंद्रीय हिंदी संस्थान, तथा भारत सरकार की अनेक समितियों के अध्यक्ष/सदस्य। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्विटजरलैंड, सोवियत संघ, बुलगारिया, चेकोस्लोवाकिया, कोरिया, मॉरिशस आदि देशों का शैक्षिक, सांस्कृतिक भ्रमण।

प्रमुख कृतियां : अलंकार मुक्तावली; भामहकृत काव्यालंकार का हिंदी भाष्य; काव्य तत्त्व; भाषा विज्ञान की भूमिका; राष्ट्रभाषा हिंदी : समस्याएं और समाधान। **नाट्य :** पारिजात मंजरी, बिसरी स्मृतियाँ, शाहजहाँ के आँसू। **ललित निबंध :** खट्टामीठा, आईना बोल उठा, प्रणाम की प्रदर्शनी में।

मूल्य : रु. २५.००